आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम'
का
साहित्य : संवेदना और शिल्प

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

के अन्तर्गत

पी-एच० डी० (हिन्दी) उपाधि हेतु

प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

१९९८
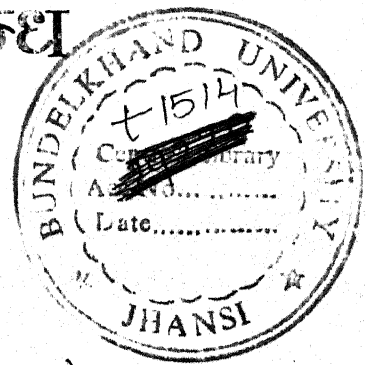
शोध पर्यवेक्षक

डॉ० कौशलेन्द्र सिंह भदौरिया
डी० लिट्०
रीडर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
राजकीय महाविद्यालय, शिवराजपुर,
कानपुर।

शोध छात्रा

श्रीमती रानी अग्रवाल
८/२०८, आर्यनगर,
कानपुर।
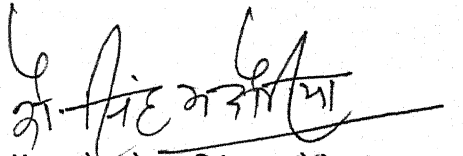
डॉ० कौशलेन्द्र सिंह भदौरिया,
डी० लिट्०
रीडर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
राजकीय महाविद्यालय,
शिवराजपुर, कानपुर।

दिनांक : दिसम्बर, १९९८

प्रमाण पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्रीमती रानी अग्रवाल ने मेरे निर्देशन में बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झांसी के अन्तर्गत पी-एच०डी० (हिन्दी) की उपाधि हेतु **"आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम' का साहित्य : संवेदना और शिल्प"** विषय पर शोध कार्य किया है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध पूर्णतया प्रमाणिक एवं मौलिक है। इन्होंने विश्वविद्यालय के नियमानुसार २०० दिन से अधिक उपस्थित रहकर नियमों का पूर्णतया पालन किया है।

(डॉ० कौशलेन्द्र सिंह भदौरिया)
शोध पर्यवेक्षक

आमुख

मेरी बी0ए0 की कक्षा में हिन्दी गद्य की पुस्तक में आचार्य पंडित मुंशीराम शर्मा 'सोम' का एक निबन्ध था। उस निबन्ध–संग्रह में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी और आचार्य नन्ददुलारे बाजपेई आदि शीर्षस्थ निबन्धकारों के भी निबंध थे। शर्मा जी का निबन्ध विषयगत विवेचन की दृष्टि से अन्य निबन्धकरों से कुछ पृथक था और उसकी विशेषता यह थी कि उसमें तात्विक दृष्टि से जीवन–संबंधी विवेचन आध्यात्मिक धरातल पर अत्यन्त प्रभावात्मक शैली में हुआ था। इसी प्रभाव से मेरे मन में आचार्य सोम के साहित्य को पढ़ने की लालसा जाग्रत हुई। पर अंग्रेजी विषय में एम0ए0 करने के कारण उस समय वह लालसा मेरे ह्रदय के कोने में दबी पड़ी रही। यह परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् मैंने अपने अवकाश के समय को हिन्दी अध्ययन की ओर लगाया। हिन्दी एम0ए0 के पाठ्यक्रम में आचार्य 'सोम' के 'विरहिणी' महाकाव्य का एक अंश पढ़ने को प्राप्त हुआ। गद्य और पद्य दोनों में ही जब मैंने 'सोम' जी के उदात्त चिन्तन को पाया तब मेरे मन में उनको देखने–सुनने की अभिलाषा जाग्रत हुई। संयोगवश मुझे निवास–स्थान 'सोम' जी के निवास से मात्र पाँच मकान बाद ही प्राप्त हुआ। अतः आते–जाते उन्हें देखने और उनसे मिलने का भी मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैंने इस नैकट्य का सदुपयोग करना चाहा। प्रस्तुत शोध–प्रबंध उसी नैकट्यमूलक भावना का प्रतिफल है।

मैंने आचार्य सोम जी से संपर्क स्थापित करके उनके समस्त साहित्य का परिचय पाया। उनके प्रकाशित और अप्रकाशित दोनों प्रकार के साहित्य का अवलोकन किया। मैंने अनुभव किया कि उनकी प्रत्येक पुस्तक में गुरू–गूढ़ ज्ञान सन्निहित है। इस सबका विवेचन किसी एक प्रबन्ध अथवा पुस्तक में कर सकना कठिन है। अस्तु, मैंने पहले किसी एक पुस्तक को अपने विवेचन का आधार बनाना चाहा। इसी बीच दुर्भाग्यवश आचार्य सोम जी का महाप्रायाण हो गया। तब मैंने अपने विचार में परिवर्तन किया और उनके समस्त साहित्य का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत करना आवश्यक समझा। प्रायः यह देखा जाता है कि दिवंगत साहित्यकारों की कृतियां परिचय के अभाव

एक शाश्वत कथा को लालित्यपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय में महाकाव्यत्व, कथ्य, काव्यानुभूति, प्रकृति–चित्रण, एवं रहस्यानुभूति की दृष्टि से 'विरहिणी' का आंकलन किया गया है।

शोध प्रबन्ध के पंचम अध्याय में आचार्य सोम की काव्य भाषा पर विचार किया गया है। अध्याय के प्रारम्भ में काव्य भाषा के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। काव्य भाषा पर पर्याप्त रूप से विचार करने के पश्चात 'विरहिणी' की काव्य भाषा पर विचार किया गया है। उनके समग्र साहित्य में तत्सम शब्दों की प्रधानता है। कारण स्पष्ट है कि वे वैदिक साहित्य के विद्वान हैं। तद्भव शब्दों का भी प्रयोग द्रष्टव्य है। कवि ने लोक भाषा के शब्दों का भी प्रयोग किया है। परिनिष्ठित भाषा का स्वरूप उनकी मुक्तक रचनाओं में भी देखा जा सकता है। आचार्य सोम यह स्वीकार करते हैं कि कविता में भाषा और भाव अभिन्न होते हैं। इसलिये जहां भी प्रेम की मार्मिक व्यंजना अथवा कवि का आत्मनिवेदन मिलता है वहाँ उनकी भाषा भी अभिजात प्रवृत्तियों से युक्त हो जाती है। कहीं–कहीं मिश्रित शब्दावली द्वारा भी कवि ने भावों की व्यंजना की है। इसी अध्याय के अन्तर्गत उनकी मुक्तक रचनाओं में प्रयुक्त मुहावरे एवं लोकोक्तियों की भी चर्चा की गयी है।

शोध प्रबन्ध के छठे अध्याय में आचार्य सोम के काव्य के शिल्प विधान पर विचार किया गया है। जिस प्रकार भावाभिव्यक्ति मानव की सहज प्रवृत्ति है उसी प्रकार साहित्यकार या कवि अपनी अभिव्यक्ति को चमत्कारपूर्ण प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करने के लिये शिल्प विधान की रचना करता है। इसी से उसके काव्य में कलात्मकता का समावेश होता है। शिल्प विधान के निर्माण के लिये कवि अलंकार, प्रतीक, बिम्ब, छन्द एवं संगीतात्मकता का आश्रय लेता है। प्रबन्ध के इस अध्याय में इन सभी दृष्टियों से आचार्य सोम के काव्य की समीक्षा की गयी है।

शोध प्रबन्ध के सातवें अध्याय में आचार्य सोम के आधुनिक हिन्दी कविता में प्रदेय की चर्चा की गयी है और इस आधार पर आचार्य सोम आधुनिक युग के एक ऐसे विशिष्ट

कवि हैं जिनके काव्य में पुरातनता एवं आधुनिकता का पूर्ण सामंजस्य दिखाई देता है। समीक्षक एवं चिन्तक की दृष्टि से वे रसवादी समीक्षक हैं। दार्शनिक आधार पर वे वैदिक साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान हैं। भक्ति भावना की दृष्टि से यदि उनके काव्य का आंकलन करें तो एक ओर तो उनमें अद्वैतवादी चिन्तन दृष्टि की प्रधानता है तो दूसरी ओर प्रभु की अनन्य भक्ति एवं उनके प्रति समर्पण–भावना का आवेग भी दिखाई देता है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आचार्य सोम जी का समग्र साहित्य उनकी अगाध साधना का ही परिणाम है। कवि, समालोचक, दार्शनिक एवं मनीषी के रूप में उनकी साहित्य–सृष्टि निश्चय ही स्तुत्य है। ऐसे मनीषी के साहित्य के मुख्यतः काव्य पक्ष को ही मैंने इस शोध प्रबन्ध में आंकलित करने का प्रयास किया है।

अंत में एक निवेदन और। मैं अपने शोध–पर्यवेक्षक डॉ0 कौशलेन्द्र सिंह भदौरिया जी की बहुत आभारी हूँ जिन्होंने मुझे अत्यधिक स्नेह और आत्मीयता प्रदान कर उपकृत किया है। उनके औदार्य और ज्ञान का आश्रय पाकर ही मैंने इस श्रम–साध्य कार्य को सम्पन्न किया है।

मैं अपने कॉलेज की पूर्व प्राचार्या डॉ0 (श्रीमती) विद्या चौहान दीदी को अपनी जीवन यात्रा के लिये प्रकाश–स्तम्भ के रुप में स्वीकार करने में सुख का अनुभव कर रही हूँ। उन्होंनें पग–पग पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मेरी जो सहायता की है उससे उऋण होना मेरे लिये असंभव है।

इस शोध कार्य को सम्पन्न कराने में जिन लोगों ने मेरी मदद की उनमें एक महत्वपूर्ण व्यक्ति का नाम मैं अवश्य लेना चाहूँगी। वे हैं पी0पी0एन0 डिग्री कॉलेज के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डॉ0 उमेशचन्द्र मिश्र जी। समय–समय पर उन्होंने मुझे जो दिशा निर्देश दिया और विषय सामग्री उपलब्ध करायी उसके लिये मैं उनके प्रति अपना आभार प्रकट करने में अपने को असमर्थ अनुभव कर रही हूँ।
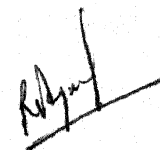
डॉ0 (श्रीमती) रेखा निगम दीदी जो मेरे कॉलेज की वर्तमान प्राचार्या हैं, उन्होंने भी इस कार्य को पूर्ण कराने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उनका स्नेह मुझे सदैव प्राप्त होता रहेगा ऐसी मैं अभिलाषा करती हूँ। इसके अतिरिक्त मेरे विभाग के सभी लोगों ने यथासम्भव मेरा उत्साहवर्द्धन किया और इस कार्य को पूर्ण करने में महती भूमिका अदा की। उन सबकी मैं बहुत आभारी हूँ ।

मैं अपने परिवार के सभी सदस्यों को भी धन्यवाद देना चाहूँगी जिन्होंने मुझे सदैव सहयोग प्रदान किया। मैं अपने चाचा जी डा0 प्रेम नारायण शुक्ल जी को आजीवन भुला न सकूँगी जिन्होंने मेरे अंदर हिन्दी के प्रति प्रेम और रूचि उत्पन्न की। दुर्भाग्यवश वे अब इस संसार में नहीं हैं लेकिन यह शोध–प्रबन्ध उनके ही आशीष का प्रतिफल है। मैं एस0 जी0 ग्राफिक्स, नवाबगंज, कानपुर की भी बहुत आभारी हूँ जिन्होंने यह शोध–प्रबन्ध टाइप कराने में मेरी बहुत सहायता की। अत्यधिक अल्प समय में यह शोध–प्रबन्ध उनके सहयोग से ही पूर्ण हो सका है। उनको बहुत–बहुत धन्यवाद।

इस शोध प्रबन्ध को मैंने यथाशक्ति त्रुटिविहीन बनाने की चेष्टा की है फिर भी यदि भूल से कोई त्रुटि शेष रह गयी हो तो पाठक उस अशुद्धि के लिए मुझे क्षमा कर दें ।

इन शब्दों के साथ मैं यह शोध–प्रबन्ध परमपिता श्रद्धालु परमात्मा के श्रीचरणों में समर्पित कर रही हूँ ।

सधन्यवाद !

(रानी अग्रवाल)

अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

अध्याय १

डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम': जीवनवृत्त एवं व्यक्तित्व

१

डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम': जीवनवृत्त एवं व्यक्तित्व

पारिवारिक पृष्ठ भूमि :

हिन्दी साहित्य–जगत की अनुपम विभूति डॉ0 मुंशीराम शर्मा "सोम" जी का जन्म जिला आगरा, तहसील फिरोजाबाद की उत्तरी सीमा पर स्थित ओखरा नामक ग्राम में संवत् १९५८ विक्रमी, मार्गशीर्ष, कृष्णपक्ष पंचमी, शनिवार की सायं बेला में हुआ था। उनको शरीर का रंग (गेहुँआ) अपने पूज्य पिताजी से प्राप्त हुआ था। उनकी माताजी

गौरवर्णा थीं तथा अत्यन्त पवित्र और ममत्व–सम्पन्न थीं। उनकी माँ का वंश महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों का नैने कुल था जिसका संबंध यजुर्वेद की नैनेय शाखा से है। पितृवंश प्रसिद्ध वैयाकरण और ऋग्वेद के पद–पाठकार महर्षि शाकल से सम्बन्ध रखता है। दोनों ही वंश अपनी विद्वता, वीरता, वेद–प्रेम तथा राष्ट्रभक्ति के लिए प्रख्यात रहे हैं। यजुर्वेद का कर्मकाण्ड, पौरोहित्य आचार जहाँ उनके मन और इन्द्रियों को कर्मण्य बनाता रहा, वहीं ऋग्वेदीय ज्ञान–विज्ञान काण्ड उनकी बुद्धि को भी परिष्कृत करता रहा। इस प्रकार ज्ञान और कर्म के साथ भक्ति ने विशेष रूप से उनके व्यक्तित्व का संवर्धन किया।

पंडित जी के बचपन का नाम मुंशीलाल था। इसके विषय में ऐसी मान्यता है[1] कि जब वे छोटे थे तो उनकी माँ के ग्राम का एक भाई चिट्ठी देने आया करता था। वे जब उसे "मुशी जी" अभिधान से संबोधित सुनती तो इनकी ओर संकेत करके कहने लगतीं कि "मेरा लाल भी मुंशी बनेगा।" मुंशी शब्द उन्हें बड़ा प्रिय और मान्य प्रतीत होता था। उनका नाम 'मुंशीलाल' माँ के इसी भाव के कारण विख्यात हुआ। आर्य समाज में आपके प्रवेश करने पर यही "लाल" "राम" में परिणत हो गया। इस प्रकार आपका नाम "मुंशीराम" हिन्दी जगत में विख्यात है। आपका उपनाम 'सोम' ऋग्वेदीय एवम् मण्डल में पठित पवमान सूक्तों के अध्ययन का प्रतिफल है।

आपके पिता श्री तालेश्वर सिंह जी की तीन सन्ताने थीं। पंडित जी के अतिरिक्त उनके एक भाई श्री हुकुम सिंह जी तथा एक बहन शिवप्यारी थीं। हुकुम सिंह जी के तीन संताने थीं–एक पुत्र ज्ञान स्वरूप शर्मा तथा दो पुत्रियाँ शारदा और माया। पंडित जी की चार संतानें क्रमशः ये हैं – श्री ब्रह्म स्वरूप शर्मा, सुश्री ज्ञानेश्वरी, श्री ओंकार सवरूप शर्मा तथा सुश्री देवेश्वरी। ज्येष्ठ पुत्र श्री ब्रह्म स्वरूप शर्मा एम0 एस0सी0 करने के उपरान्त अध्यापन कार्य में संलग्न हुए और सेन्ट्रल स्कूल, दिल्ली से उप प्राचार्य के पद से सन् १६८८ में अवकाश ग्रहण किया। उनके कनिष्ठ पुत्र श्री ओंकार स्वरूप शर्मा ने लखनऊ विश्वविद्यालय से एम0 ए0(हिन्दी) परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की और

---

१. आचार्य द्वारा प्राप्त सूचना।

जोधपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में रीडर पद से अवकाश ग्रहण किया।

आपकी पत्नी सौभाग्यशालिनी श्रीमती भागवती देवी ने जीवनपर्यन्त सहधर्मिणी के व्रत का पालन बड़ी निष्ठा के साथ किया। उनके स्वभाव में सौम्यता और सरलता की व्याप्ति थी। मृदुभाषिता और मितभाषिता उनकी वाणी का सहज गुण था। उनके हृदय का औदार्य और संयम परिवार की शक्ति के रूप में था। उनकी कर्तव्यपरायणता एवं कार्य तत्परता के परिणाम स्वरूप ही चन्द्रशेखर आजाद, यशपाल, सुरेन्द्र नाथ पाण्डेय, सालिग्राम शुक्ल आदि अनेक देश के दीवाने लाल उनके पास आकर अपने ऊपर माता के आँचल की शीतल छाया अनुभव करते थे। परिवार के अतिथि सत्कार का पादप उन्हीं की स्नेहधार से जीवन प्राप्त करता था। माता की इस ड्योढ़ी पर आकर कोई विमुख नहीं गया। पंडित जी के जीवन में वे एक दिव्यशक्ति के रूप में आयीं और अपनी कार्यक्षमता, दूरदर्शिता और व्यवहार पटुता द्वारा पंडित जी को कभी किसी प्रकार से भी अभाव नहीं अनुभव होने दिया। उन्होंने अपने व्यक्तित्व को पंडित जी की भावधारा में विलीन कर दिया था। जब तक वे जीवित रहीं तब तक पंडित जी की छाया के रूप में ही सदैव उनका अनुसरण करती रहीं और अपने अनुगामिनी और सौभाग्यशालिनी रूप को यथार्थता प्रदान करते हुए २७ जनवरी सन् १६७६ ई0 में उन्होंने अपनी ऐहिक लीला समाप्त की।

शिक्षा :

प्रारम्भ से ही पण्डित जी ने समाज को अपना परिचय एक प्रतिभावान छात्र के रूप में दिया था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा कक्षा चार तक ग्राम के स्कूल में ही सन्पन्न हुई तथा वे सदैव प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। इसके पश्चात् उन्होंने वजीफे की परीक्षा आगरा जाकर दी जिसमें उन्होंने सफलता अर्जित की और आगे पढ़ने का मार्ग भी प्रशस्त हुआ। उस समय पाँचवी और छठी कक्षायें मिडिल परीक्षा के रूप में नियत थीं। पाँचवीं कक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने पर उनको अनेक पारितोषिक सरकार से मिले। छठवीं कक्षा पुनः प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण करने के फलस्वरूप ५ वर्षों तक उनको वजीफा मिला। इसके पश्चात् वे एटा जिला चले गये। क्योंकि मिडिल पास विद्यार्थियों के लिए

विशेष रुप से खोली गई दो कक्षायें उन दिनों गवर्नमेण्ट हाईस्कूल एटा में ही थीं। यहाँ उन्होंने अपने छात्र जीवन के पाँच बहुमूल्य वर्ष व्यतीत किये। हाईस्कूल की परीक्षा में उन्होंने प्रान्त में छठा स्थान प्राप्त किया, जिसे उनके छात्र जीवन का बहुमूल्य योगदान कहा जा सकता है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की 'प्रथमा' तथा 'विशारद' परीक्षायें भी उन्होंने स्कूल जीवन में ही उत्तीर्ण कर ली थीं।

हाईस्कूल तक अध्ययन करने के पश्चात् औद्योगिक नगरी कानपुर में उनका आना हुआ। दयानन्द कॉलेज, कानपुर की गोद में उन्होंने इण्टर तथा बी0ए0 कक्षाओं में चार वर्ष व्यतीत किये। यहाँ से "ज्योति" नामक एक हस्तलिखित हिन्दी पत्रिका भी निकलती थी जिसके वे सम्पादक भी रहे। आर्य समाज की आर्यकुमार सभा के मंत्री पद को भी उन्होंने अलंकृत किया। भारतवर्षीय आर्यकुमार परिषद की ओर से सम्पन्न करायी जाने वाली वैदिक धर्म विशारद परीक्षायें भी उन्होंने दीं। अंतिम परीक्षा में सर्वप्रथम आने पर पारितोषिक स्वरूप एक रजत पदक तथा कतिपय ग्रन्थ भी उनको प्राप्त हुए। उन्होंने बी0ए0 प्रथम वर्ष में काव्यतीर्थ की मध्यमा परीक्षा भी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। बी0ए0 परीक्षा में प्रयाग विश्वविद्यालय ने संस्कृत विषय में सर्वाधिक अंक प्राप्त करने पर उनको सर्वप्रथम घोषित किया और "कालिदासनन्दी" स्वर्णपदक से विभूषित किया। दयानन्द कॉलेज कानपुर की कार्यकारिणी समिति ने उनको छात्रवृत्ति प्रदान करके एम0 ए0 करने के लिए लाहौर भेज दिया। पंजाब विश्वविद्यालय ने सन् १६२७ ई0 के संस्कृत एम0ए0 के उत्तीर्ण छात्रों में उनको सर्वप्रथम घोषित किया। १६२६ ई0 में आगरा विश्वविद्यालय की एम0ए0 हिन्दी की परीक्षा के प्रथम बैच में वे व्यक्तिगत छात्र के रूप में सम्मिलित हुए। जिसमें वरीयता क्रम में उनका द्वितीय स्थान रहा। सन् १६६२ ई0 में अध्यापन कार्य से अवकाश ग्रहण करने पर भारत सरकार ने विशेष अनुदान देकर उनसे वैदिक शोध करने का अनुरोध किया। पाँच वर्षो का यह शोध कार्य 'A comparative study of the Vedic Hymns' नामक ग्रन्थ में संग्रहीत है।

अध्यापन कार्य :

संस्कृत में एम0ए0 की परीक्षा उत्तीर्ण कर लाहौर से लौटकर कानपुर आने पर

डी०ए०वी० कॉलेज में इण्टर की क़क्षाओं में हिन्दी का अध्यापन कार्य उनको सौंपा गया। डी०ए०वी० कॉलेज कानपुर में १६२६ में बी०ए० तथा १६४२ में एम०ए० हिन्दी की कक्षायें प्रारम्भ हुईं। इस प्रकार जुलाई सन् १६२६ से जून १६६२ तक उन्होंने डी०ए०वी० कॉलेज, कानपुर में हिन्दी विभागाध्यक्ष के रूप में कार्य किया।

अध्यापन शैली :

आचार्य सोम का अध्यापकीय जीवन पुरातन गुरूकुल के गुरूओं की जीवनसरणि का अनुगमन करता हुआ चलता था। जिस प्रकार गुरूकुल में शिष्य अपने गुरू का अन्तेवासी होता था, उसी प्रकार "सोम" जी के शिष्य अपने को उनके अत्यन्त निकट अनुभव करते थे। भले ही वे उन्हीं के स्थान पर न रहते हों। वे बड़ी सतर्कता के साथ अपने शिष्यों की जीवन–पद्धति के प्रति सदैव दृष्टि रखते थे। गुरू–शिष्य का सम्बन्ध केवल कक्षा तक ही सीमित न था, अपितु उससे हटकर भी वे अपने शिष्यों के सुख–दुख का ध्यान रखते थे। अनेक विद्यार्थियों की समय–समय पर आवश्यकता के अनुरूप वे भोजन–व्यवस्था, उपचार–व्यवस्था करते हुए पाये जाते थे। उनका गुरु–शिष्य संबंध इतना घनिष्ठ हो जाता था कि उनके विद्यार्थी अध्ययन समाप्त करने के उपरान्त भी उनसे अपने सम्बन्ध बनाये रखने में एक विशिष्ट गौरव की अनुभूति करते थे।

कक्षा में वे सदैव ही समय पर आते थे। सरदार पूर्ण सिंह जी का एक लेख है जिसमें आचरण की भाषा को मौन बताया गया है। उसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि व्यक्ति अपने सम्बन्ध में कुछ न कहकर अपने आचरण द्वारा ही सब कुछ कह देता है। पंडित जी की भी यही स्थिति थी। कक्षा में प्रवेश करते ही उनकी गुरू गंभीरता को देखकर ही विद्यार्थी प्रायः शांत हो जाते थे। अनुशासन की दृष्टि से कदाचित ही किसी ने आपकी रोषमयी मुद्रा देखी हो अथवा कर्कशवाणी सुनी हो। जब कभी उनकी प्रकृति से अनभिज्ञ बाहर से आये हुए विद्यार्थी उनकी कक्षा में शोर करते पाये जाते थे तो वे उनकी ओर एक मंदस्मिति के साथ टकटकी बाँधकर देखने लगते थे। ऐसा प्रतीत होता था कि उनकी मन्द मुस्कान ही उन विद्यार्थियों को मौन रहने का आदेश दे रही हो।

अध्यापन कला में पंडित जी अत्यन्त प्रवीण एवं निष्णात थे। संस्कृत साहित्य के गम्भीर अध्येता होने के कारण शब्दार्थ संबंधी कोई कठिनाई एवं असुविधा उन्हें नहीं होती थी। अध्ययन की व्यापक पृष्ठभूमि के आधार पर पढ़ाते समय प्रस्तुत संदर्भों को वे बड़ी सहजता एवं सरलता से स्पष्ट कर दिया करते थे।

पंडित जी का काव्यशास्त्रीय अध्ययन प्रारम्भ से ही मंजा हुआ था। संस्कृत काव्यशास्त्र में उनकी गहरी पैठ थी। इसलिए पाठ का काव्यशास्त्रीय पक्ष भी विवेचनाक्रम में बड़ी ही सहजता के साथ उद्घाटित होता हुआ चलता था।

पंडित जी प्रकृत्या सरल और भावुक थे। राष्ट्र–प्रेम ने उनकी वाणी में ओज का संचार किया था। पाठ–प्रवाह में जब–जब राष्ट्र प्रेम की भावना आती थी तब–तब उनकी वाणी में एक अद्भुत ओज और दीप्ति प्रतिबिम्बित होती थी। उन दिनों भी प्रसाद का कोई न कोई नाटक पाठ्यक्रम में रहता ही था। "चन्द्रगुप्त" नाटक का गीत – "अरूण यह मधुमय देश हमारा, जहाँ पहुँच अन्जान क्षितिज को मिलता एक सहारा।" पढ़ाते समय उनकी वाणी में प्रेम की सरस धारा में अवगाहन करता हुआ उनका राष्ट्रप्रेम व्यक्त होता था। इसी प्रकार "स्कन्दगुप्त" नाटक में निम्नांकित गीत भी उनकी वाणी में ओज और स्वदेश–गौरव का संचार करता था –

"हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार
उषा ने अभिनन्दन किया और पहनाया हीरक हार।
जगे हम लगे जगाने विश्व लोक में फैला फिर आलोक।
व्योम तम पुंज हुआ तब नष्ट, अखिल संसृति हो उठी अशोक।"

पंडित जी का हृदय वात्सल्य भाव से परिपूर्ण था। सूरदास के वात्सल्य प्रेम सम्बन्धी पदों को पढ़ाते–पढ़ाते उनकी और उनके छात्रों की आखें प्रायः सजल हो उठती थीं। निम्नांकित पद करूणा और ममता का उद्रेक करता हुआ पंडित जी के और छात्रों के हृदय में साधारणीकृत होकर एकरूपता एवं एकरसता का संचार कर दिया करता था–

"संदेसौ देवकी सो कहियो।

हौं तो धाय तिहारे सुत की, मया करत ही रहियो।

जदपि देव तुम जानति उनकी, तऊ मोंहि कहि आवै।

प्रात होत मेरे लाल लड़ेते, माखन रोटी भावै।"

x x x

"सूर पथिक सुनि मोहिं रैन दिन, बढ़्यौ रहत उर सोच।

मेरे अलक लड़ैतो मोहन ह्वै है करत संकोच।।"

इधर आठ—दस वर्षों की बात तो नहीं, पर इसके पूर्व परीक्षा में प्रवेश के लिए उपस्थिति का एक निश्चित प्रतिशत अनिवार्य होता था। सामान्यतः विद्यार्थी भले ही और किसी कक्षा में न जायें पर पंडित जी की कक्षा में अवश्य जाते थे। संयोग से या परिस्थितिवश यदि किसी विद्यार्थी का उपस्थिति प्रतिशत अनिवार्य प्रतिशत से कम भी होता था तो इस आधार पर उन्होंने कभी परीक्षा में सम्मिलित होने से उसे वंचित नहीं होने दिया।

आचार्य "सोम" जी अपने विद्यार्थियों के हित—साधन का ध्यान सदैव रखते थे। जुहारी देवी स्नातकोत्तर महाविद्यालय की पूर्व प्राचार्या डॉ0 (श्रीमती) विद्या चौहान का कथन है कि "किन्हीं करणों से मैं कुछ दिनों के लिए कानपुर से बाहर चली गयी थी। अतः मेरा परीक्षा का आवेदन—पत्र नहीं भरा जा जा सका। पंडित जी को इससे बड़ी चिन्ता और उलझन हुई। आये हुए कार्य को तुरन्त पूरा कर देना उनकी प्रकृति का विशेष गुण रहा है। उन्होंने किसी विद्यार्थी को मेरे घर भेजकर मेरा पता प्राप्त किया और फिर मुझे पत्र लिखकर कानपुर बुलवाया। इस प्रकार मेरा एक वर्ष नष्ट होने से बच गया।"[१]

पंडित जी अपने शिष्यों को इतना निकट कर लिया करते थे कि बाहर से आने

---

१. डॉ0 (श्रीमती) विद्या चौहान जी से साक्षात्कार द्वारा प्राप्त सूचना ।

वाले विद्यार्थी जिनके रहने का कोई निश्चित स्थान नहीं होता था, उनके लिए वे पत्राचार और मनीआर्डर प्राप्त करने के पते बन जाया करते थे। वैयक्तिक सुविधाओं के साथ ही साथ अपने छात्रों के ज्ञानवर्धन की दृष्टि से पंडित जी ने कक्षा–पुस्तकालय की योजना को भी कार्यान्वित किया था। वे अपने विद्यार्थियों से पुरानी पढ़ी हुई पुस्तकें ले लेते थे तथा विभिन्न स्रोतों से अर्थ की भी व्यवस्था करके कुछ उपयोगी पुस्तकें क्रय कर लिया करते थे। ये सभी पुस्तकें विद्यार्थियों के पढ़ने के लिए आवश्यकतानुसार समय–समय पर उपलब्ध होती रहती थीं।

अवसान :

पंडित जी विगत प्रायः २३ वर्षों से एन्जाइना से कष्टित थे। अनेकानेक उपवासों के कारण उनका शरीर दुर्बल हो गया था। नेत्रज्योति भी मोतियाबिन्दु के कारण क्षीण हो गयी थी। अक्टूबर १६८६ में सुप्रसिद्ध नेत्र विशेषज्ञ डॉ० पी० जे० बंसल ने उनका सफल आपरेशन किया था। वे अपनी प्राप्त ज्योति से संतुष्ट थे। एन्जाइना का उपचार डॉ० आर० के० त्रिवेदी और डॉ० सिंघल की देख–रेख में हो रहा था। पर बली काल के समक्ष समस्त प्रयास असफल हुए। १० जनवरी १६६० को उनका एन्जाइना का कष्ट बढ़ता है, उपचार प्रारम्भ होते ही होते रात्रि में ६ बजे से अचानक वे कोमा की स्थिति में आ जाते हैं। इसके पूर्व छः बजे वे एक श्लोक लिखते हैं और उनके शिष्य डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल के वहाँ पहुँचने पर वे कहते हैं – "डायरी में मैंने एक श्लोक लिख दिया है, उसे देख लेना।" सम्भवतः उनकी पूर्ण चेतनावस्था का यही एक वाक्य था। ११ जनवरी को प्रातःकाल होते–होते वे लाला लाजपतराय अस्पताल ले जाये जाते हैं। १२ जनवरी की रात्रि में ३ बजते–बजते उनकी चेतना वैसे ही लौटी जैसे शान्त होते हुए दीपक की अंतिम लौ प्रदीप्त हो उठती है। ऑक्सीजन पहुँचाने वाले उपकरणों को उन्होंने हटाने की चेष्टा की और पानी माँगा। डॉक्टरों ने पानी देना मना कर दिया था। अतः अंत तक पानी न लेने के लिए समझाने का प्रयास किया गया तब तक जन–जन की ज्ञान–पिपासा को शान्त करने वाले ज्ञान और विवेक के अगाध सागर आचार्य "सोम" के प्यासे प्राण पखेरू सदा के लिए अनन्त में विलीन हो गये।

१२ जनवरी सन् १६६० को दो बजे पंडित जी का पार्थिव शरीर आर्य समाज पद्धति से अग्नि कुण्ड में वेदमंत्रोच्चार के साथ अग्निदेव को समर्पित कर दिया गया।

तपस्वी साधक का जनमानस पर बड़ा ही मूक प्रभाव पड़ता है। पंडित जी की शवयात्रा में विभिन्न वर्गों के इतने अधिक गणमान्य व्यक्ति और अधिकारी सम्मिलित हुए जो सामान्यतः अतीतकाल में एक साहित्यकार की शवयात्रा में नहीं देखे गये।

व्यक्तित्व :

आचार्य पं० मुशीराम शर्मा "सोम" का व्यक्तित्व अपनी आचार परम्परा में उस महत्व और आत्मीयता का संश्लिष्ट रूप है जो अपनी ओर आकर्षित करने की चुम्बकीय शक्ति रखता है। पंडित जी अध्यात्म जगत में सतत् विचरण करते हुए निरन्तर दिव्यानुभूतियों का ही दान दिया करते थे। उनका समग्र जीवन आदर्श और यथार्थ की वह चिरपरिचित भूमि है जहाँ रगं-बिरंगे सुरभियुक्त पुष्प भी हैं और आसपास नुकीले काँटे भी हैं, जहाँ सुख की सुखद शीतल छाया भी है और दुःख का कष्टकर आतप भी। पर, उनकी संत प्रकृति ने सभी को अपने में संयमित ही रखा। सामाजिकता के बीच वे रमण करते थे, सामाजिकता उन्हें प्रिय भी थी पर, वे सामाजिकता के उन शाश्वत मूल्यों एवं रूपों को ही स्वीकार करते थे जो उनकी कल्पना में एक विशाल मानवसमाज के निर्माण एवं उसकी सुव्यवस्था में योग प्रदान कर सकता हो।

(अ) दानशीला प्रवृत्ति :

पंडित जी प्रकृति से ही दानी थे और उनके अर्थजनित वैयक्तिक एवं पारिवारिक सुख कभी भी उनकी दानशीला प्रकृति के लिए बाधक नहीं बने। कितनी ही बार उन्होंने अपनी तथा अपने परिवार की आवश्यकताओं की भी उपेक्षा करके अपनी दानवृत्ति का पल्लवन किया। इसी में उनको आत्मतोष की प्राप्ति होती थी। अपनी सीमित आय से भी बचत कर उन्होंने हजारों रूपये विभिन्न संस्थाओं को दान रुप में दिये। अपने छात्रों को सहायतार्थ रूप में भी आपने प्रभूत धनराशि दी। प्रारम्भ से ही पंडित जी को योग्य विद्यार्थी के रुप में छात्रवृत्तियाँ मिलती रहीं। अवकाश प्राप्त करने के पूर्व ही सम्पूर्ण

छात्रवृत्ति की राशि को उन्होंने अनुमानित ब्याज जोड़कर हाई स्कूल इण्टरमीडिएट बोर्ड, इलाहाबाद विश्वविद्यालय और आगरा विश्वविद्यालय को पदक–पुरस्कार आदि के रूप में दे दिया।

एक बार दिल्ली में सेठ डालमिया के निवास स्थान पर ही पुरस्कार वितरण समारोह का आयोजन किया गया। इस पुरस्कार की राशि १४०००/– रूपये थी। पुरस्कार की राशि हाथ में लेते ही पंडित जी ने उसे संकल्प पाठ की विधि से इस तरह छोड़ दिया जैसे इस राशि का स्पर्श भी उनके लिए निहित नहीं है। उन्होंने कहा कि, "मैं यह राशि दिल्ली विश्वविद्यालय को "सरस्वती पुरस्कार" के रूप में हिन्दी विभाग को दे रहा हूँ। डॉ0 नगेन्द्र जी ने इस पुरस्कार के साथ पंडित जी के नाम को जोड़ना चाहा परन्तु पंडित जी ने इसे स्वीकार नहीं किया।[१]

इस सन्दर्भ में यह स्मरणीय है कि सन् १६६२ में आचार्य "सोम" ने सेवा काल से अवकाश ग्रहण किया था और उस समय तक अध्यक्ष का वेतनमान डिग्री कालेजों में ४००/– रू0 से ८००/– रू0 तक था। पंडित जी ने जब अवकाश ग्रहण किया तब उनका मासिक वेतन मात्र ७५०/– रू0 था। पर उस समय एक अविवाहित कन्या के होते हुए भी अपनी गाढ़ी कमायी का १५०००/– रूपया दान रुप में विभिन्न संस्थाओं को दे दिया।

पंडित जी की दान की प्रक्रिया यहीं समाप्त नहीं हुई, अपितु वह जीवन के अंतिम क्षणों तक चलती रही। एक बार की घटना है–आचार्य "सोम" जी के कनिष्ठ पुत्र श्री ओंकार स्वरूप शर्मा ने १५००/– रू0 की एक राशि उनकी उपचार व्यवस्था के लिए भेजी। पंडित जी ने इस रुपए को अपनी चिकित्सा में न लगाकर ५००/– रु0 आर्यनगर इण्टर कॉलेज, कानुर, ५००/– रू0 नूतन बालघर, स्वरूप नगर तथा ५००/– रू0 उन्नाव के एक विद्यालय को दान में यह कह कर दिये कि उनके बच्चे ने

---

१. डॉ0 विजयेन्द्र स्नातक – सोम अभिनन्दन ग्रन्थ पृ0सं0 १०७

भेजे हैं।

आचार्य "सोम" जी अपने निर्धन छात्रों को भी प्रतिवर्ष दानस्वरुप कुछ धनराशि दे दिया करते थे। विशेषता यह थी कि इस दान प्रक्रिया में वे अपने को आगे रखने के अभ्यासी न थे। जब कोई आवश्यकताग्रस्त छात्र उनके समीप आता तो वे उससे कह देते कि डॉ0 प्रेमनारायण शुक्ल के पास जाकर अपना नाम लिखवा दो। लड़कों की फीस जमा करने का जब अवसर आता, तब वे सहायता के लिए दी जाने वाली राशि को यथा आवश्यकता निर्धन छात्रों को बँटवा दिया करते थे।

उनकी दानशीला प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही रही। अवकाश प्राप्ति के पश्चात् उन्होंने यह व्रत ले लिया था कि परीक्षा सम्बन्धी कार्य तो कर देंगे परन्तु उसका पारिश्रमिक नहीं लेंगे। एक बार की घटना है – कानपुर विश्वविद्यालय के फाइनेंस आफीसर श्री पाण्डेय जी ने पंडित जी के लौटाये कुछ चेक डॉ0 प्रेमनारायण शुक्ल को दिखाये और कहा कि ये चेक पंडित जी द्वारा किये गये परीक्षा कार्य से सम्बन्धित हैं जिन्हें उन्होंने लौटा दिया है। डॉ0 शुक्ल ने उन चेकों को लेकर पंडित जी से निवेदन किया कि ये चेक तो आपके पारिश्रमिक कार्य के हैं। यदि इनका उपयोग आपको नहीं करना है तो इन्हें आप अपने खाते में जमा करवा देवें और किसी आवश्यकताग्रस्त छात्र या व्यक्ति को दे दें और सबसे अधिक आवश्यकताग्रस्त तो आपके आश्रय में रहने वाले आपके पारिवारिक सदस्य ही हैं। यदि आप अपने को तपस्या द्वारा तपा रहे हैं तो पारिवारिक सदस्यों को बरबस तपस्या में क्यों सुखाना चाहते हैं। पंडित जी यह कहकर मौन हो गये कि अच्छा देखा जायेगा पर जब डॉ0 शुक्ल दो – चार दिन बाद पुनः विश्वविद्यालय गये तो फाइनेस ऑफीसर ने उन्हें सूचना दी कि पंडित जी के चेक फिर वापस आ गए हैं। शोध सम्बन्धी कार्यों से जब वे बाहर जाते तो मार्ग व्यय बड़ी कठिनाई से स्वीकार कर लेते पर शोध–प्रबंध जाँचने अथवा मौखिक परीक्षा सम्बन्धी पारिश्रमिक वे नहीं लेते थे। इस विषय में जब–जब उनसे प्रश्न किया गया तो उन्होंने एक ही उत्तर दिया हि अब तो मैं वानप्रस्थ आश्रम में हूँ जहाँ इस प्रकार का धन ग्रहण करना उचित नहीं है।

(ब) धन के प्रति विरक्तिभाव :

आचार्य "सोम" जी के हृदय में धन के प्रति विरक्तिभाव था। उनका एक मकान आर्यनगर सरीखी वैभव पूर्ण बस्ती के बीच में था। जिसका किराया अत्यल्प मात्रा में लगभग ३००/– रु0 था, जो बाद में बढ़कर ३०००/– रु0 भी हो सकता था। पंडित जी के लड़कों और शिष्यों ने किराये को बढ़ाने की बात की। किरायेदारों ने इस दिशा में वृद्धि करने का निश्चय किया पर पंड़ित जी ने यह कह कर मना कर दिया कि "जब तक मैं जीवित हूँ मुझसे इस सम्बन्ध में कुछ न कहा जाये।"

एक अन्य घटना उनके अवसान से दो–तीन महीने पहले की है। भुवनवाणी ट्रस्ट, मौसमबाग, लखनऊ के मुख्यन्यासी सभापति स्व0 नन्दकुमार अवस्थी ने पंडित जी से वेदों के पद्यानुवाद की प्रार्थना की थी। पंडित जी ने यह कार्य प्रारम्भ कर दिया और एक वेद का पद्यानुवाद पूरा करके प्रकाशनार्थ उनके पास भेज दिया। नंदकुमार अवस्थी जी ने पंडित जी के पास भेंट स्वरूप १००००/– रूपए का चेक भेज दिया। डॉ0 प्रेमनारायण शुक्ल जी का कहना है कि वेद को बेचना उचित नहीं है – यह समझकर पंडित जी ने वह चेक अत्यंत विनयपूर्वक अवस्थी जी को लौटा दिया। अवस्थी जी के बहुत आग्रह करने पर भी जब उन्होंने यह राशि लेना अस्वीकार कर दिया तब अवस्थी जी ने यह विचार करके कि दी हुई राशि को वापस लेना उचित नहीं है, उस राशि को जो पत्राचार के काल तक बढ़कर १०,७००/– रु0 हो गयी थी, "आचार्य मुंशीराम शर्मा "सोम" कानपुर का ब्रह्मर्षि पुरस्कार" कहकर श्री जगदीशचन्द्र पन्त, प्रमुख सचिव उत्तर प्रदेश लखनऊ के हाथों विभिन्न आवश्यकताग्रस्त व्यक्तियों के बीच वितरित करवा दी और दान प्राप्तकर्ताओं की सूची २३. ०६. १९९८ को पंडित जी के पास भेज दी।

(स) परदुःखकातरता :

पंडित जी के शान्त और शीतल हृदय में सभी के लिए कल्याणकारी भावधारा निरन्तर प्रवाहित होती रहती थी। कितनी ही बार वे समीपस्थ प्राणी के दुःखों की गाथा के श्रवणमात्र से अश्रुधारा से अपने को सिक्त करते हुए देखे गये हैं। इस संदर्भ में मैं

एक घटना का उल्लेख करना चाहूँगी। लगभग पैंतालिस वर्ष पूर्व की बात है। डॉ0 प्रेमनारायण शुक्ल (जिनको पंडित जी का पुत्रवत् स्नेह प्राप्त था) के पूज्य पिताजी अत्यधिक अस्वस्थ थे। सभी उनके बचने की आशा छोड़ चुके थे। नवम्बर का महीना था। पंडित जी सर्दी की परवाह न करते हुए रात्रि में ८ बजे आकर उनके घर के बाहर चबूतरे पर बैठ गये और प्रातः ५ बजे तक एक आसन पर बैठे हुए मंत्रजाप करते रहे। उनके आशीष से डॉ0 शुक्ल का पितृ–सुख लुटने से बच गया और जीवन का दुलार एक बार पुनः उनके जीवनप्रांगण में क्रीड़ा करने लगा।[1]

आज के इस आपाधापी के युग में परदुःखकातरता का यह पुनीत स्वरूप कहाँ और कितना मिलता है ? उन्हें मनुष्यता से प्रेम था और यही प्रेम उनकी रचनाओं में विश्व प्रेम के रूप में प्रकट हुआ है।

(द) स्वाध्यायप्रियता :

आचार्य प्रवर "सोम" जी अपने प्रारम्भिक काल से ही एक मेधावी छात्र के रूप में जाने गये। दसवीं कक्षा तक आते–आते आपको स्वाध्याय के आधार पर अलंकारों और छन्दों का ज्ञान हो गया था। वे कंठस्थ विद्या को ही विशेष महत्व देते थे। उनकी पुरानी डायरी आज भी उनकी परिश्रमशीलता, साहित्य के प्रति उत्कट जिज्ञासा एवं उत्साह का प्रामाणिक आख्यान उपस्थित करती है। संस्कृत के अध्ययन ने उनको काव्यशास्त्री बना दिया था और वेद के अध्ययन ने उनके जीवन को दार्शनिक चिन्तक के रूप में ढाला था। वे प्रतिदिन अपने घर से कॉलेज तक प्रायः पैदल ही आते–जाते थे और इस समय में अपने प्रातःकाल के पढ़े हुए मंत्र अथवा श्लोकों को कंठस्थ कर लिया करते थे। इस प्रकार वेद के सैकड़ों मंत्र आपको कंठाग्र हो गये थे। आपका विश्वास था कि "या विद्या कण्ठागता सा विद्या।"

वाग्विलास आपको प्रिय न था। आपकी चर्चाएँ प्रायः साहित्य और धर्म चिन्तन

---

१. आचार्यसोम अभिनन्दन ग्रन्थ भाव यज्ञ (ख–ग)

से संबंधित होती थीं। प्रतिदिन कुछ न कुछ लिखना आपके जीवन का आवश्यक क्रम था। जीवन की विषम और चिन्त्य परिस्थितियों के बीच भी आपने अपनी मनः शान्ति के लिए लेखन का ही सम्बल लिया। अकेले बैठकर किसी विषय का मन ही मन चिन्तन करना अथवा लिखते रहना आपका स्वभाव बन गया था। लिखना आपकी विवशता थी। इसके बिना आप रह नहीं सकते थे। कभी–कभी हल्की–फुल्की धार्मिक–चर्चाओं को भी वे पढ़ लिया करते थे। आँख का आपरेशन हो जाने के बाद बहुत कुछ प्रतिबन्ध लगाने पर भी उन्होंने अपनी प्रकृति का अनुगमन किया और आठ–दस दिन बचाने के बाद आपने लिखना प्रारम्भ कर दिया। यही कारण है कि पंडित जी ने हिन्दी और संस्कृत साहित्य को अपने अनेकानेक ग्रन्थों से एक ऐसी महत्वपूर्ण निधि दी है जो आपके यथा शरीर को आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए प्रेरक रूप में सुरक्षित रखेगी।

(य) वेदाभिरुचि :

मानव की रुचि निर्माण में उसके संस्कारों का विशेष प्रभाव पड़ता है। ये संस्कार दो प्रकार के होते हैं–एक पूर्व जन्म के संस्कार और जन्मगत, पारिवारिक एवं वातावरण प्रसूत संस्कार। यदि बीज अच्छा है तो अनुकूल भूमि विकास और जल पाकर वह विकास करता है और उसका फल भी अच्छा होता है । अच्छे से अच्छा बीज भी अनुकूल वातावरण के अभाव में अपेक्षाकृत विकास नहीं कर पाता है। आचार्य "सोम" के माता–पिता संस्कारी व्यक्ति थे। उनके आचार–विचार की पवित्रता ने बाल्यकाल से ही उनके जीवन में उत्तम संस्कारों की सृष्टि की। इस प्रकार पंडित जी की स्वभावगत सरलता और पवित्रता ने सत्चिन्तन की ओर ध्यान दिया। वे बाल्यकाल से ही मेधावी थे। गम्भीरता और ऋजुता अनके स्वभाव का प्रमुख अंग रही है। संस्कृत के प्रति उनका रुझान संस्कारगत बीज रूप में था। और यह बीज संस्कृत अध्ययन के प्रति उत्तरोत्तर बढ़ता चला गया जिसका परिणाम हमें तब देखने को मिलता है जब वह इलाहाबाद विश्वविद्यालय में बी0 ए0 परीक्षा में संस्कृत विषय में सर्वप्रथम उत्तीर्ण होकर कालिन्दी स्वर्ण पदक प्राप्त करते हैं।

दयानन्द एंग्लोवैदिक कॉलेज, कानपुर में उन्हें आर्यसमाज का भरपूर वातावरण

प्राप्त हुआ। हवन और संध्या उनके जीवन के दैनिक कार्य के अंग बने। स्पष्ट है कि आर्यसमाज वेद का प्रचारक होकर समाज में आया और उसने यह घोषणा की कि आर्यसमाज का उद्देश्य है – वैदिक धर्म और वैदिक ज्ञान का प्रचार। इस वैदिक धर्म के अनुयायी होने के कारण पंडित जी का वेदाभिमुख होना स्वाभाविक था। निरन्तर वैदिक मंत्रों के चिन्तन और मनन के परिणामस्वरूप उन्होंने वेद ज्ञान को हिन्दी के माध्यम से जन–जन को परिचित कराना चाहा। ऐसा नहीं कि उन्होंने हिन्दी साहित्य की सेवा नहीं की है, पर यह निश्चित है कि उनके द्वारा विरचित ग्रन्थों में संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। सूर, तुलसी, जायसी, कबीर आदि भक्तिकालीन कवियों के विवेचन में उनके संस्कृत ज्ञान का पुट अथवा झलक स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। काव्यशास्त्र संबंधी विवेचन में भी उनका संस्कृत ज्ञान ही आधार बनता है। उनके काव्यग्रन्थों में भी आध्यात्मिक तत्वों का ही निरूपण हुआ है। उनमें भावना के आँचल में वैदिक ज्ञान शिशु ही अपनी मनोहारिणी क्रीड़ा करता हुआ पाया जाता है। कहीं–कहीं जब कविता करते समय हिन्दी भाषा में भावाभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त शब्द नहीं मिलता था तब पंडित जी वैदिक शब्दों का प्रयोग निःसंकोच भाव से बड़ी सरलता से कर देते थे। ऐसे स्थलों पर सामान्य पाठकों को अर्थगत अथवा भावगत किंचित दुरूहता की भी प्रतीति होती है। पर यह उनकी विवशता थी।

संख्या की दृष्टि से पंडित जी ने वैदिक विषयों से संबंधित ग्रन्थ कहीं अधिक लिखे हैं। प्रथमजा, वैदिकी, वैदिक संस्कृति और सभ्यता, तत्व दर्शन, विचार और विभूति, चतुर्वेद मीमांसा आदि कई कृतियाँ ऐसी हैं जो जन–जन के पास तक वैदिक ज्ञान को पहुँचाने में सक्षम हैं। इतना ही नहीं वेदमंत्रों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए उन्होंने अंग्रेजी भाषा में भी 'A comparative Study of Vedic Hymns' नामक ग्रन्थ लिखा है।

पंडित जी ने चारों वेदों का पद्यानुवाद करने का संकल्प लिया था। तीन वेदों का पद्यानुवाद उन्होंने कर लिया था पर चौथे वेद का वे १/४ अंश का ही पद्यानुवाद के रूप में पूरा कर पाए थे कि क्रूरकाल ने उनके जीवनोछ्वास को ही अवरुद्ध कर दिया। फलतः उनके द्वारा हिन्दी साहित्य की एक महान अभिवृद्धि अवरूद्ध हो गयी।

समस्त तथ्य इस बात के प्रमाण हैं कि वेद के प्रति उनकी प्रगाढ़ रुचि थी।

(र) आचार्य 'सोम' के सम्मान समारोह :

आचार्य मुंशीराम शर्मा समाज के उन विशिष्ट लोगों में अपना स्थान रखते हैं जिन्होंने अपनी साहित्य साधना तथा मानवता की उपासना द्वारा अपने क्षेत्र में एक स्थान विशेष का निर्माण किया है। समाज के श्रद्धालु वर्ग ने समय-समय पर आचार्य जी की महत्वपूर्ण उपलब्धियों एवं उनकी सेवाओं की दृष्टि से अनेकानेक सम्मान-समारोह आयोजित किये हैं जिनका मैं उल्लेख करना चाहती हूँ।

आज से प्रायः तीन दशक पूर्व पी-एच0 डी0 तथा डी0लिट्0 की उपाधियाँ दुष्प्राप्य थीं। कुछ ही ज्ञान पिपासु इस दिशा की ओर अग्रसर होते थे और उनमें से गिने-चुने विद्वान ही उसमें विभूषित होने का गौरव प्राप्त कर पाते थे। इसलिए उन दिनों इन उपाधियों का विशेष महत्व माना जाता था। आचार्य सोम को पी-एच0 डी0 तथा डी0लिट्0 की उपाधियों के प्राप्त होने के अवसर पर औद्योगिक नगरी कानपुर के प्रबुद्ध वर्ग ने हार्दिक सम्मान किया, अभिनन्दन पत्र भेंट किए और नगर के अनेकानेक साहित्यिक संस्थाओं ने आपके सम्मान में साहित्यिक आयोजन किये।

सन् १६७० में उत्तर प्रदेशीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने आपको 'साहित्य वारिधि' की उपाधि से विभूषित करते हुए ताम्र पत्र अर्पित किया।

तुलसी स्मारक समिति, लखनऊ (जिसके अध्यक्ष पं0 कमलापति त्रिपाठी तथा मंत्री चतुर्भुज शर्मा रहे हैं) ने तुलसी जयंती के अवसर पर पंडित जी की तुलसी साहित्य के प्रति निष्ठा और अनवरत स्वाध्याय-साधना की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए आपको प्रशस्ति-पत्र प्रदान किया।

सन् १६७५ में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का एक विशिष्ट अधिवेशन इलाहाबाद में समायोजित हुआ था। जिसमें आचार्य "सोम" जी को "साहित्य-वाचस्पति" की उपाधि

से विभूषित किया गया।

आचार्य "सोम" जी अपने विद्यार्थी जीवन से ही आर्यसमाज के अनुयायी रहे हैं। इस क्षेत्र में अपनी विद्वता एवं निष्ठा के कारण विशेष रूप से समादृत हैं। सन् १९७५ (शिवरात्रि, २०३२ विक्रम) में आर्यसमाज का शताब्दी समारोह वाराणसी में सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर भारत के महामहिम उपराष्ट्रपति ने आपको माल्यार्पण करते हुए एक शाल भेंट किया तथा मान–पत्र समर्पित किया।

पं० मुशीराम जी "सोम" उत्तर प्रदेश की सीमा से बाहर भी समय–समय पर सम्मानित होते रहे हैं। सन् १९७३ में चन्दवरदायी समारक समारोह पटना में आयोजित हुआ जिसमें आपका विशेष सम्मान करते हुए आपको अभिनन्दन–पत्र भेंट किया गया।

ब्रज साहित्य मण्डल मथुरा द्वारा सूर–सौरभ के रचयिता के रूप में आपका विशिष्ट सम्मान किया गया। उत्तर–प्रदेश सरकार द्वारा आपके ग्रन्थों 'भारतीय–साधना और सूर–साहित्य' तथा 'भक्ति का विकास' पर एक–एक सहस्र मुद्रा का पुरस्कार दिया गया। 'भक्ति का विकास' ग्रंथ पर आपको डालमिया पुरस्कार दिल्ली में एक आयोजन करके प्रदान किया गया। इस सन्दर्भ में यह दृष्टव्य है कि जिन–जिन संस्थाओं ने आपको पुरस्कृत करते हुए धन की कोई राशि दी है तो आपने वह राशि वहीं उसी संस्था को या किसी अन्य संस्था को दान कर दी है।

जून सन् १९६२ में आचार्य पंडित मुंशीराम शर्मा "सोम" जी ने डी०ए०वी० कॉलेज के हिन्दी विभागाध्यक्ष पद से अवकाश ग्रहण किया था। पन्द्रह वर्षोपरान्त ३ दिसम्बर १९७७ को जब अपने उम्र के पचहत्तर वर्ष व्यतीत कर चुके थे और एक प्रकार से उन्होंने सन्यास आश्रम में प्रवेश किया था तब पंडित जी का एक भव्य समारोह आयोजित किया गया। इस बीच पंडित जी के साहित्यिक जीवन का महत्व अपेक्षाकृत कहीं अधिक बढ़ चुका था और उनकी कृतियों की बसन्तश्री की छवि यत्र–तत्र चर्चा का विषय बन चुकी थी। इस समारोह के आयोजकों ने जिस श्रद्धा संवलित ह्रदय से समस्त कार्य सम्पन्न

किया वह अपने में कुछ ऐसा था जो सामान्यतः प्रत्येक स्थल पर नहीं दिखलाई पड़ता।

यह सम्मान दो–दिवसीय था। ३ दिसम्बर १६७७ को सम्मान–समारोह के प्रथम चरण में पंडित जी का निज का सार्वजनिक अभिनन्दन किया गया जिसमें नगर के लब्ध–प्रतिष्ठ साहित्यकार, पत्रकार, व्यापारी, अध्यापक एवं पंडित जी के पुराने विद्यार्थी, नगर की प्रमुख हिन्दी सेवी संस्थाओं के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। इस समारोह में जैसी विद्वान मंडली एकत्र हुई थी वैसी अन्यत्र प्रायः देखने को नहीं मिलती। इस अवसर पर बाहर से आए हुए प्रमुख आगन्तुकों के नाम इस प्रकार हैं – श्रीमती महादेवी वर्मा, डॉ0 रामकुमार वर्मा, आचार्य पं0 सीताराम चतुर्वेदी, पं0 श्री नारायण चतुर्वेदी, डॉ0 भगीरथ मिश्र, डॉ0 राममूर्ति त्रिपाठी, डॉ0 विजयेन्द्र स्नातक, आचार्य पं0 किशोरीदास बाजपेई, डॉ0 हरेकृष्ण अवस्थी, डॉ. शिवकुमार मिश्र, डॉ0 रामप्रसाद मिश्र, डॉ0 सरोजनी रोहतगी, डॉ0 लक्ष्मीशंकर मिश्र 'निशंक', पं0 शिवनाथ उपाध्याय, डॉ0 सरला शुक्ला, डॉ0 जगदीश गुप्त, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ0 वागीश दत्त पाण्डेय, डॉ0 माताबदल जायसवाल, श्री निशानाथ दीक्षित, डॉ0 शशिकान्त अग्निहोत्री, पं0 रामकृष्ण द्विवेदी (भूतपूर्व राज्यपाल, गुजरात) आदि।

प्रथम दिन प्रातःकाल यज्ञ द्वारा सम्मान–समारोह का शुभारम्भ हुआ। सांयकाल द्वितीय सत्र में महिषी महादेवी वर्मा जी की अध्यक्षता में सम्मान समारोह का शुभारम्भ किया गया। सर्वप्रथम आचार्य पं0 सीताराम चतुर्वेदी ने वेदपाठ किया। तत्पश्चात् निराला जी की वाणी वन्दना का सम्वेद गान हुआ। इस अवसर पर 'साधना और सर्जना' नाम से पंडित जी को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया गया। इस ग्रन्थ का सम्पादन डॉ0 प्रेमनारायण शुक्ल एवं डॉ0 वाल्मीकि त्रिपाठी ने किया। इस ग्रन्थ में देश के विभिन्न अचंलों से पंडित जी के सम्बन्ध में प्राप्त सामग्री १५६ शीर्षकों में प्रकाशित की गयी है। दूसरे दिन दो सत्रों में विचार गोष्ठियाँ सम्पन्न हुईं। इस समारोह की एक विशेषता यह भी थी कि इसमें किसी प्रकार के चंदे की उगाही नहीं की गयी थी। डॉ0 त्रिपाठी ने इस दिशा में समस्त व्यय भार स्वयं वहन किया और उसका नितान्त सार्वजनिक रूप रखा।

अन्तिम सार्वजनिक सम्मान :

आचार्य "सोम" जी का सम्पूर्ण जीवन तपस्वी जीवन था। भारतीय समाज आस्था प्रधान है। अतः आपकी साधना के प्रति आकृष्ट होकर लोग अपने-अपने स्तर पर आपका सम्मान अनेक प्रकार से उनके जीवनकाल में करते ही रहे। श्रद्धासंवलित हृदय लेकर आपके समक्ष आने में श्रद्धालुओं को बड़ी प्रसन्नता होती थी और प्रणति तथा आत्मसमर्पण रूप पत्र पुष्प भेंट करके उन्हें सन्तोष लाभ होता था। पर सन् १६७७ के अभिनन्दन समारोह के पश्चात् जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है, एक महत्वपूर्ण सार्वजनिक सम्मान कानपुर विश्वविद्यालय की ओर से सन् १६८५ में किया गया। आयोजन स्थल था कानपुर का सर्किट हाउस। इस आयोजन को गरिमा प्रदान की थी उत्तर प्रदेश के तत्कालीन महामहिम श्री पी0एन0 सिंह, राज्यपाल उत्तर प्रदेश ने। इस अवसर पर कानपुर विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति डॉ0 देवदत्त तिवारी ने आपको विश्वविद्यालय की ओर से पाँच सहस्र मुद्राएँ श्रद्धा समेत भेंट कीं। आपको विश्वविद्यालय की ओर से एक मानपत्र भी समर्पित किया गया। वक्ताओं ने आपके सम्मान में श्रद्धा सुमन अर्पित किये। अध्यक्ष पद से बोलते हुए राज्यपाल महोदय ने कहा – "देश के सर्वमान्य हिन्दी और संस्कृत के विद्वान जिन्होंने ऋषियों की भाँति साधना करते हुए हिन्दी और संस्कृत के भण्डार को समृद्ध किया है उन्हें अपने हृदय से लगाकर मैं अपने को धन्य मानता हूँ। ऐसे महान साधक के प्रति हमारा मस्तक सहज ही झुक जाता है। आचार्य 'सोम' के रूप में हमें प्रभु की दी हुई एक दिव्य विभूति प्राप्त हुई है।"[1]

जीवन पद्धति :

आचार्य प्रवर 'सोम' जी के जीवन प्रवाह की विभिन्न तरंगमालाओं का अवलोकन करने के उपरान्त मन में यह विचार उठना स्वाभाविक है कि वह कौन सी प्रेरणा थी अथवा वह कौन सा बीजांकुर था जिसके कारण उनका जीवन पादप पूर्व उल्लिखित विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं में विकसित, प्रफुल्लित एवं फलित हुआ। उनके सम्पूर्ण जीवन की 'रहनी' और 'करनी' में इतनी एकरूपता थी कि उसमें किसी प्रकार की विषमता ही

---

१. डॉ0 प्रेमनारायण शुक्ल से साक्षात्कार द्वारा प्राप्त सूचना तथा समाचार पत्रों में प्रकाशित समाचार के आधार पर।

उत्पन्न नहीं होने पायी।

सादा जीवन उच्च विचार :

पंडित जी के बाल्यकाल से ही सादगी और सरलता ने उनके जीवन आचार को जिस दृढ़ता के साथ पकड़ा वह अंतिम सांस तक वैसे ही दृढ़ रहा। न तो उनकी वैयक्तिक वेशभूषा में और न उनके पारिवारिक रहन–सहन में आडम्बर उनके निकट आने का साहस कर सका। नित्य की अत्यन्त उपयोगी वस्तुओं के संग्रह से वे संतुष्ट रहते थे और रहन–सहन की चकमकाहट अथवा जगमगाहट उन्हें प्रारम्भ से ही जीवन के किसी स्तर पर भी प्रलोभन न दे सकी। प्रकृतिजन्य स्वाभाविकता और सरलता उनके प्रत्येक जीवन व्यापार में पग–पग पर प्रतिबिम्बित होती थी। उनके जीवन के अंतः और बाह्य रूप में मानो निरन्तर सात्विकता का साम्राज्य ही छाया रहता था। उनकी यह सत्वगुण सम्पन्नता ही उनके जीवन में दिव्यता का आधान कर सकी। 'सोम' जी की वाणी में पावन पयस्विनी का–सा प्रवाह और विचार एवं भावों में नागाधिराज की–सी उच्चता एवं भव्यता व्याप्त रहती थी।

यज्ञीय-जीवन :

पंडित जी का व्यक्तित्व एक संस्कारी व्यक्तित्व था। मेरे लिये इस समय तिथि अथवा मुहूर्त का निर्धारण करना सम्भव नहीं है, पर उनकी शिष्य परम्परा से मुझे ज्ञात हुआ है कि वे अपने कौमार्य से ही अथवा यों कहिये कि विद्यार्थी जीवन से ही यज्ञ आदि क्रियाओं में अभिरुचि रखते थे। घर में भी प्रायः प्रतिदिन ही अग्निहोत्र (जो ब्राह्मण का धर्म है) करते थे। व्रतादि क्रियायें भी उनके जीवन का अंग थीं। प्रातः उठते ही प्रार्थना मंत्रों का पारायण करना और सांयकाल होते–होते दीपबत्ती प्रज्वलित करने के उपरान्त वेदमंत्रोच्चार वे निरन्तर करते थे।

अभ्यासप्रियता :

नित्य कुछ न कुछ लिखना उनके दैनिक जीवन का सर्वाधिक प्रमुख अंग था। प्रातःकाल मध्यान्ह अथवा रात्रि में जब भी कोई उनके पास पहुँचता तब वे प्रायः कुछ

लिखते हुए अथवा कुछ पढ़ते हुए ही पाये जाते थे। इस प्रकार उनके लेखन कार्य में एकतान्ता थी। कहीं भी विश्रृंखलता नहीं आने पायी। यहाँ तक कि जीवन की अंतिम अवस्था (मरण के २६ घण्टे पूर्व) तक उन्होंने अपनी आध्यात्मिक जीवन–संगिनी लेखनी को अपने से पृथक नहीं किया। यही कारण है कि वे प्रचुर मात्रा में भगवती सरस्वती के पावन मंदिर में भाव एवं विचार रूप परम सुरभिमय ग्रन्थ–पुष्प समर्पित करने का श्रेय प्राप्त कर सके। उनके लेखनकार्य में भी एक स्पृहणीय सादगी थी। चौकी, चारपाई, तख्त अथवा कुर्सी किसी स्थान पर भी बैठे हों, पैर पर पैर रखकर वे लिखते हुए देखे जाते थे।

आर्यसमाजप्रियता :

आर्यसमाज की साप्ताहिक बैठकों एवं वार्षिक अधिवेशनों में भी पंडित जी सदैव सोत्साह भाग लेते रहे। उनके हृदय पर आर्यसमाजी संस्कारों का प्रभाव था ही, आर्यसमाजी शिक्षण संस्थाओं में अध्ययन–अध्यापन भी आपने किया था। यह सब कुछ ठीक है पर आर्यसमाजी संस्थाओं में ही उनके विद्यार्थी जीवन का सर्वाधिक काल बीता। वहीं से उन्हें छात्रवृत्तियाँ भी मिलती रहीं। इसलिये वे अनुभव करते थे कि जिस संस्था ने उनके अध्ययन काल में सहायता दी, उनके शैक्षिक कार्य में अपना महत्तम योगदान दिया, उससे ये जीवन–साँसें उऋण कैसे हों सकती हैं। इसीलिये वे सोत्साह आर्यसमाज द्वारा आयोजित कार्यक्रमों में सदैव भाग लेते रहे।

आर्यसमाज सिद्धान्तों पर आस्था रखते हुए भी उनका दृष्टिकोण बड़ा उदार एवं स्पष्ट था। उन्होंने अपने ग्रन्थ "भक्ति का विकास", "सूर–सौरभ" तथा "भारतीय–साधना और सूर–साहित्य" में जो विवेचन प्रस्तुत किया है उसमें किसी प्रकार की उनकी हठवादिता नहीं दिखाई पड़ती है। सगुण और निर्गुण धारा के काव्य साहित्य का विवेचन करते हुए उन्होंने अपनी स्पष्ट दृष्टि और निष्पक्ष अभिव्यक्ति का जो परिचय दिया है वह अपने में स्वतः वरेण्य है। सूर की भक्ति भावना और गोपियों के व्याज से उनकी प्रेमानुभूति में वे बड़ी गहराई से उतरे हैं। इस विवेचन में उनकी स्पृहणीय मर्मस्पर्शिता एवं संवेदनशीलता देखी जा सकती है।

साधना-स्थली :

आचार्य "सोम" की साधना–स्थली (उनका निवास स्थल) तीर्थ की–सी गरिमा रखता था। जिस प्रकार तीर्थ स्थानों में मुमुक्ष प्राणी भक्तिभाव से जाते हैं उसी प्रकार पूज्यपाद आचार्य 'सोम' के दर्शनार्थ उनके अनेकानेक शिष्य और शोध–दिशा में कार्य करने वाले शोध छात्र निरन्तर आते–जाते रहते थे। आचार्यप्रवर ऐसे अपने समस्त शिष्यों के प्रति सम्मान भाव रखते थे। हाँ, इतना अवश्य था कि ये शिष्य अथवा आगन्तुक जिज्ञासु व्यक्ति अपनी पात्रता के अनुसार ही उनसे ग्रहण कर पाते थे। कुछ ऐसे शिष्य भी थे जो समय–समय पर उनके साथ रहकर अपना कार्य पूरा करते थे। ऐसे शिष्यों का लालन–पालन भी इसी घर से होता था। इस प्रकार पंडित जी का आश्रम गुरुकुल की पवित्रता एवं सौम्यता से पूर्ण था।

आचार्य 'सोम' के व्यक्तित्व में कुछ ऐसा आकर्षण था कि इस नगर में आने वाला प्रायः प्रत्येक साहित्यकार अथवा महान साहित्यसेवी पंडित जी के दर्शन–लाभ की कामना अवश्य करता था। ऐसे भी कितने अवसर आये हैं कि जब देश के अनेक मूर्धन्य साहित्यसेवी पंडित जी के निवास–स्थान पर एक साथ ही देखे गये हैं। ऐसे महान साहित्य सेवियों में उदाहरणार्थ कपितय नाम इस प्रकार हैं – आचार्य पद्मसिंह शर्मा, आचार्य किशोरीदास जी बाजपेई, आचार्य विश्वनाथ प्रताप मिश्र, आचार्य नन्ददुलारे बाजपेई, डॉ0 पीताम्बर दत्त बड़थवाल, आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, फादर कामिल बुल्के, आचार्य चन्द्रवली पाण्डेय, आचार्य रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', श्री अज्ञेय, श्रीमती महादेवी वर्मा, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ0 रामकुमार वर्मा, डॉ0 विद्यानिवास मिश्र, डॉ0 राममूर्ति त्रिपाठी, डॉ0 विजयेन्द्र स्नातक, डॉ0 नगेन्द्र आदि कितनी ही महान विभूतियों ने कानपुर के इस ऋषिकल्प साहित्यसेवी के पास आकर संतोष प्राप्त किया है और इसी व्याज से कानपुर के अनेकानेक साहित्यसेवियों ने देश की दिव्यतम विभूतियों का दर्शन करके अपने को गौरवान्वित अनुभव किया।

राजनीतिक एवं सामाजिक प्रदेय :

त्याग, तपस्या और मौन बलिदान आचार्य 'सोम' जी के जीवन का प्रमुख ध्येय

रहा। यशपाल, सदाशिव, चन्द्रशेखर आजाद, सुरेन्द्रनाथ पाण्डेय, वैशम्पायन आदि अनेक क्रान्तिकारियों ने उनकी सादी और सरल वेशभूषा में छिपी हुई देश–प्रेम की धधकती ज्वाला को पहचाना और उनकी शरण में आकर और उत्साह पाकर अपने कार्य को आगे बढ़ाया। तन–मन और धन से जब जैसी आवश्यकता पड़ती थी वे बराबर सहयोग देते थे। उनकी इस प्रवृत्ति से सम्बन्धित कतिपय प्रसंगों को मैं उद्धृत करना चाहूँगी –

लाहौर के मोहल्ले किला गुज्जरसिंह में हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातंत्र संघ (हि. स.प्र.सं.) की बम फैक्ट्री पकड़ ली जाने के बाद क्रान्तिकारी भगवती चरण बोहरा और श्री यशपाल दोनों ही फरार हो गये थे (१९२४ ई0) उसी अवस्था में उन दोनों ने हि.स. प्र.सं. के कमांडर इन चीफ भाई चन्द्रशेखर आज़ाद से अनुमति लेकर २३ दिसम्बर १९२९ की सुबह लॉर्ड इरविन की स्पेशल ट्रेन के नीचे बम विस्फोट किया था। कई महीने तक अथक प्रयास के पश्चात् भी जब पुलिस इस बमकाण्ड का सूत्र न खोज पाई तो सरकार ने बीस हजार रुपये के इनाम के विज्ञापन सभी शहरों में स्टेशनों, डाकघरों तथा कचहरियों में लगवा दिये थे। इस बीच उन क्रान्तिकारियों के साथ अन्य देशप्रेमियों ने मिलकर दिल्ली में एक बहुत बड़ी विस्फोटक फैक्ट्री की स्थापना कर ली थी। परन्तु इसके एक सहयोगी कैलाशपति के पकड़ लिये जाने के पश्चात् अन्य साथी भी उसके भेद खोलने के फलस्वरूप गिरफ्तार कर लिये गये। आज़ाद ने श्री यशपाल जी को दिल्ली छोड़कर कानपुर आ जाने की आज्ञा दी। आगे का प्रसंग यशपाल जी के शब्दों में – सन् १९३० दिसम्बर का आरम्भ था। मैं और प्रकाशवती जी दिल्ली में रात की गाड़ी से चलकर प्रातः पौ फटते समय कानपुर पहुँचे। मेरे वेश से मुझे दुकानदार वैश्य समझा जा सकता था। प्रकाशवती भी साड़ी पर चादर ओढ़े चेहरे पर घूँघट खींचे थीं।

भाई आज़ाद के बताये स्थान कानपुर के परमट घाट के बाजार में एक गृहस्थ के मकान पर पहुँचे। मन में आशंका थी कि हमारे आतिथेय हमारा वास्तविक परिचय पाकर घबरा न जायें। उस समय कैलाशपति के कारण हमें शरण देते समय किसी का घबरा जाना स्वाभाविक होता। आतिथेय ने बहुत विनय आदर आदर–सत्कार से हमें लिया। उनका साँवला चेहरा भावुकता से चमक उठा और आँखें सजल हो गयी थीं।

उन्होंने हाथ जोड़कर उत्तर दिया – "सब मालूम है, आप चिन्ता न कीजिये, निश्चिन्त रहिए।" पूछा, अपने पड़ोसियों को हमारा क्या परिचय देंगे ? "कोई पूछेगा तो कह देंगे हमारे सम्बन्धी हैं। अपने छोटे भाई के लिये रिश्ता देखने के प्रयोजन से कानपुर आये हैं। आप हमारे लिये चिंता न करें। हम सब प्रकार से तैयार हैं।" आतिथेय के चेहरे पर भावुकता की लालिमा गहरी हो गयी। आतिथेय प्रकाशवती जी को भीतर आँगन मे ले गये। कुछ ही देर बाद आजाद भी बनिये या ब्राह्मणों की तरह धोती पहने और कंधों पर ऊनी चादर डाले हमसे मिलने आ गये, हमारे अतिथि ने उन्हें बहुत आदर से प्रणाम किया। हम दोनों को एकान्त में बात करने के लिये छोड़कर एक तरफ चले गये। प्रकाशवती जी और मैं लगभग आठ–दस दिन परमट के इस गृहस्थ के घर में रहे। प्रकाशवती जी के साथ आतिथेय का मकान छोड़ते समय उन्हें शरण के लिये धन्यवाद दिया। वे गद्‌गद कण्ठ और असीम विनय से बोले थे, "महान उद्देश्य के लिये यदि मैं कण भर भी सहयोग दे सकूँ तो मेरा सौभाग्य। कोई आवश्यकता बताइये, सदा प्रस्तुत रहूँगा" उनका अभिप्राय था कुछ रुपये–पैसे की आवश्यकता से।'[१] इन आतिथेय का नाम था – श्री मुंशीराम शर्मा 'सोम'। उस समय उनकी अवस्था सम्पन्न नहीं थी, तिस पर शायद पेट काटकर भी वे क्रान्तिकारियों के दल के उद्देश्य में सहायतार्थ प्रस्तुत थे।

जब सुप्रसिद्ध काकोरी षड्‌यन्त्र केस के बाद क्रान्तिकारी दल ब्रिटिश सरकार की चोट से बिल्कुल छिन्न–भिन्न हो गया था तब कानपुर में बटुकेश्वरदत्त, श्री ब्रह्मदत्त मिश्र, श्री विजयकुमार सिन्हा, और श्री सुरेन्द्रनाथ पाण्डेय – केवल चार सदस्य ही जेल के बाहर बचे थे। श्री सुरेन्द्रनाथ पाण्डेय और श्री ब्रह्मदत्त मिश्र डी0ए0वी0 कॉलेज में छात्र के रूप में प्रविष्ट हुए और दल के पुनर्गठन का दायित्व सम्भाला। संगठन को सुरक्षित रखने के लिये बुद्धिमत्तापूर्ण परामर्श और अनायास आने वाले संकटों के निराकरण के लिये एक योग्य और प्रतिष्ठित व्यक्ति के रूप में पंडित जी ने इस दायित्व को सम्भाला। प्रो0 कालका प्रसाद भटनागर और प्रो0 तोताराम भी परोक्ष रूप से सहायता करते थे। भविष्य में आचार्य 'सोम' इस क्रान्तिकारी दल के सक्रिय सदस्य बन गये। धीरे–धीरे

१. सोम अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ0सं0 १६२

डी0ए0वी0 कॉलेज उत्तर भारत के क्रान्तिकारी आन्दोलन का केन्द्र बन गया। भगतसिंह जब फरार होकर कानपुर आये तो डी0ए0वी0 कॉलेज में स्थित बँगले में ही ठहरे थे। राजगुरू आते थे तो वे भी डी0ए0वी0 कॉलेज में साइंस ब्लाक के नीचे वाले खण्ड में ठहरते थे। स्वर्गीय मुनीश्वर अवस्थी, शहीद शालिग्राम शुक्ल आदि अनेक क्रान्तिकारियों को पंडित जी के सहयोग से डी0ए0वी0 कॉलेज ने प्रश्रय दिया। पंडित जी के निवास स्थान पर चन्द्रशेखर आज़ाद जैसे महान क्रान्तिकारियों के नेतृत्व में गुप्त सभायें आयोजित होती थीं और बाहर वे बिना किसी खटके के अपने पुत्र को गोद में खिलाते हुए निगरानी का कार्य करते थे।

प्रमुख क्रान्तिकारी श्री सुरेन्द्रनाथ पाण्डेय के शब्दों में एक घटना प्रस्तुत है – "आजाद आदि क्रान्तिकारी दल के कई नेता ऊषाकाल के पूर्व ग्रीन पार्क में परामर्श करने के बाद एक कार्य पर जाने वाले थे। उसी के लिये आये हुए वीर शालिग्राम शुक्ल की डी0ए0वी0 कॉलेज के फाटक के पास पुलिस से मुठभेड़ हो गयी। दोनों ओर से गोली चलीं। पुलिस का असिस्टेंट सुपरिटेंडेंट और शालिग्राम दोनों घायल होकर गिर गये। किन्तु इसके पहले ही वीर शालिग्राम ने खतरे से हमें सचेत करने के लिये दो बार चिल्लाकर कहा – "खतरा है – सावधान।" मैंने दौड़कर पंडित जी को यह हाल बताया और आज़ाद आदि को सचेत कर देने के लिये घटनास्थल पर शीघ्र पहुँचने के लिये कहा। पंडित जी तत्काल वहाँ दौड़कर पहुँचे, बिना इसके किंचित परवाह किये कि जहाँ गोली चल रही है वहाँ क्रान्तिकारी नेताओं की सहायता करने जाना मृत्यु अथवा कालेपानी की सजा को सीधा निमन्त्रण देना है।"

प्रोफेसर मुंशीराम शर्मा यदि क्रान्तिकारी दल का कार्य करते हुए भी विनाश की चपेट से बच गये तो इसमें दोष उनके कृतित्व की कमी का नहीं था, विधाता संभवतः उनसे कोई और महान कार्य कराना चाहता था। भारत और भारती के पुत्रों के हितार्थ प्रभु कोई अन्य स्थाई देन उनके द्वारा देना चाहते थे। मृत्यु जिन्हें शहादत का वरदान नहीं दे पायी, प्रभु उनकी आत्मा को यश और कीर्ति का अमरत्व प्रदान करें।

*****

अध्याय २

डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम' का साहित्य

२
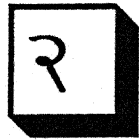
डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम' का साहित्य

आचार्य 'सोम' जी का साहित्य के प्रति अनुराग आपके विद्यार्थी काल से ही था। छन्द, शास्त्र और अलंकार को आपने प्रारम्भ से ही गहराई के साथ समझना प्रारम्भ कर दिया था। आपकी आठवीं कक्षा के नोट्स और डायरियाँ देखने से यह ज्ञात होता है कि आप किस सुरुचि, गम्भरीता और व्यापकता के साथ इन विषयों का अध्ययन करते थे। एतत् सम्बन्धी अपने ज्ञान को उन्होंने पाठयक्रम की सीमा में आबद्ध नहीं किया था।

आपके अध्ययन में विस्तार और गम्भीरता दोनों का ही सम्यक् योग था। कालान्तर में आपकी यह प्रकृति साहित्य की विभिन्न धाराओं के रूप में विकसित हुई। संस्कृतप्रियता ने आपको वेदादि ग्रन्थों की ओर उन्मुख किया और एतत् प्रसूत अनन्त ज्ञान राशि को आपने हिन्दी साहित्य को विभिन्न रूपों में समर्पित किया। सामान्यतः प्रत्येक के जीवन में एक ऐसा काल आता है जब कि वह अपनी रागात्मकता को छन्दों में अर्पित कर देता है। पंडित जी में भावयित्री और कारयित्री दोनों प्रकार की प्रतिभाएँ थीं। अतः काव्योन्मुख होने में आपको कोई कठिनाई प्रतीत नहीं हुई। और आपकी अनेक काव्यमय रचनाओं में आपका भक्त हृदय और राष्ट्र प्रेम व्यक्त हुआ।

पंडित जी में विवेचन क्षमता भी थी इसीलिये आपने हिन्दी साहित्य का इतिहास और समालोचनात्मक ग्रन्थ भी लिखे। दोनों ही भाषाओं में आपने अपनी विविध विषयक ज्ञान एवं भाव राशि समर्पित की जिसका विवरण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

(क) वैदिक साहित्य :

'आर्य–धर्म', 'प्रथमजा', 'जीवन दर्शन', 'संध्या चिन्तन', 'विकास–पद्धति', 'पुरुष सूक्त', 'वेदार्थ–चन्द्रिका', 'वैदिक–संस्कृति और सभ्यता', 'वैदिकी', 'विचार और विभूति', 'वैदिक चिन्तामणि', 'ओंकार', 'चतुर्वेद मीमांसा', 'तत्व–दर्शन' आदि।

(ख) समीक्षा साहित्य :

'सूर सौरभ', 'भारतीय साधना और सूर साहित्य', 'सूरदास और भगवद्भक्ति', 'सूरदास का काव्य वैभव', 'सारस्वत', 'भक्ति का विकास', 'साहित्य–शास्त्र', 'तुलसी का मानस', 'हिन्दी साहित्य का उपोद्घात'।

(ग) काव्य साहित्य :

'श्री गणेश गीतांजलि', 'श्रुतिसंगीतिका', 'जीवनगीत', 'संध्या–संगीत', 'विरहिणी', 'यज्ञ–संगीत', 'भक्ति–तरंगिणी', 'सोम स्तोत्र–सुधा', 'भागवती आभा'।

(घ) भाष्य साहित्य :

'कबीर–वचनामृत', 'पद्मावत–भाष्य', 'कामायनी–भाष्य'।

(ङ.) प्रमुख रचनाओं का परिचय :

वैदिक साहित्य

१. आर्य-धर्म

आचार्य मुंशीराम जी 'सोम' एक महान चिन्तक एवं साधक हैं। ग्रन्थों के रूप में आप समाज कल्याण की ओर सदैव चिन्तनशील रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक 'आर्य–धर्म' आपके इसी चिन्तन का परिणाम है। पुस्तक के प्रारम्भ में आर्यधर्म की व्याख्या की गई है। उसके आधार पर तत्कालीन सामाजिक संरचना पर भी विचार किया गया है। साधना–त्रय का ऐतिहासिक विवेचन सनातन ज्ञान व उसका लक्षण, ईश्वरीय ज्ञान व उसकी व्याख्या आदि शीर्षकों के अन्तर्गत आध्यात्मिक पक्ष पर प्रकाश डाला गया है। रामायण काल, महाभारत काल, शंकर का अद्वैतवाद, कबीर का निर्गुणवाद, कृष्ण व रामभक्ति का विकास, महर्षि दयानन्द आदि अनेक उपशीर्षकों द्वारा पंडित जी ने जीवन की उदात्त सरणियों के प्रति बड़े ही मार्मिक संकेत दिये हैं।

प्रकाशक – गोविन्द ब्रदर्स, अलीगढ़। सन् १६३७/ पृ०सं० ६६

२. प्रथमजा

प्रस्तुत निबन्ध–संग्रह का नामकरण वैदिक शब्द द्वारा किया गया है। ऋग्वेद (१–१६४–३७) में दीर्घतमा ऋषि 'प्रथमजा' शब्द का प्रयोग करते हुए कहते हैं कि ऋत की प्रथमजा–बुद्धि रूपी दिव्य शक्ति के प्राप्त होते ही वाङ्मय के समस्त विषय विस्तारपूर्वक तथा पूर्णरूपेण समझ में आ सकेंगे। इस प्रकार प्रथमजा को बुद्धि की शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। आचार्य 'सोम' जी का यह प्रथम निबन्ध–संग्रह है जिसमें पन्द्रह निबन्ध संग्रहीत हैं।

इन निबन्धों की रचना के विषय में 'सोम' जी का कथन है कि "प्रातः बेला

कॉलेज जाते समय वेद, उपनिषद् तथा गीता के कुछ अंशों का मनन करते हुए जो विचार सूझे उन्हीं को इन लेखों में निबद्ध कर दिया गया है।" 'सोम' जी का यह निबन्ध–संग्रह आपकी चिन्तन धारा का परिचय देता है।

प्रकाशक – आचार्य शुक्ल साधना – सदन, कानपुर। सन् १६५३/पृ०सं० १२४

३. जीवन दर्शन

जीवन–निर्माण के विविध पक्षों की ओर चिन्तन करना ही 'सोम' जी का प्रमुख लक्ष्य रहा है। जीवन क्या है और उसे किन मार्गों द्वारा उन्नत किया जा सकता है, इस विषय पर प्राचीन व अर्वाचीन उपादानों का मंथन करके लेखक ने जो कुछ भी अनुभव किया, उसी को इस संग्रह में प्रस्तुत किया गया है। इस कृति में २५ निबन्ध संग्रहीत हैं।

प्रकाशक – चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी। सन् १६५८/पृ०सं० १०२

४. संध्या-चिन्तन

भारतीय जीवन–धारा प्रारम्भ से ही आस्तिकता की ओर प्रवाहित होती रही है। इसमें संध्या वंदना को भी विशेष महत्व प्रदान किया गया है। समाज का एक बहुत बड़ा समुदाय प्राचीनकाल से संध्या को आदर्श जीवन का प्रतीक मानता आया है। आचार्यों ने संध्या करने की एक विशेष विधि निर्मित की थी जिसके अनुसार कुछ विशेष वैदिक मंत्रों का उच्चारण स्वीकार किया गया था। प्रस्तुत ग्रन्थ में उसी विधि विशेष को ध्यान में रखकर गायत्री मंत्र पर विशेष प्रकाश डालते हुए १० निबन्धों को संग्रहीत किया गया है।

प्रकाशक – पं० विद्याधर, मंत्री केन्द्रीय आर्यसमाज, कानपुर। सन् १६५८/पृ०सं० ६४

५. विकास-पद्धति

जीवन का उत्कर्ष भौतिकता में न होकर आध्यात्मिकता में होना चाहिए। भारतीय महान चिन्तकों ने सदैव इसी तथ्य का प्रतिपादन किया। यदि हम भौतिकता से परे अनपायी आत्मविकास की ओर अग्रसर हों तो हम उत्तरोत्तर उर्ध्व स्थिति को प्राप्त होते जायेंगे। इस विकास का परिचय हमें वैदिक दृष्टि से प्राप्त होता है। आचार्य 'सोम' जी ने प्रस्तुत कृति में वैदिक दृष्टि से ही विकास पद्धति का विवेचन किया है।

प्रकाशक – पं० विद्याधर, मंत्री आर्यसमाज, कानपुर। सन् १६६१

६. पुरुष-सूक्त

पंडित जी ने यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय के अनुसार पुरुष–सूक्त का विवेचन गहन अध्ययन एवं चिन्तन के आधार पर जन–सामान्य के लिये उपस्थित किया है। वेदों के सारगर्भित अर्थों को लोगों तक पहुँचाने का बीड़ा पंडित जी ने उठाया है। इस पुस्तक 'पुरुष–सूक्त' के प्रथम नौ पृष्ठों में पुरुष–सूक्त की बहिरंग परीक्षा की गयी है। इसके पश्चात् मंत्रों की अंतरंग परीक्षा हुई है। इस परीक्षण में जिन गम्भीर भावों और अर्थों का उद्घाटन किया गया है उससे लेखक की अन्तर्दृष्टि और बहुज्ञता का परिचय प्राप्त होता है।

प्रकाशक – पं० विद्याधर शर्मा, मंत्री वैदिक शोध–संस्थान, कानपुर। सन् १६६४

७. वेदार्थ-चन्द्रिका

वेद आर्यो के प्राण स्वरूप हैं। वेदाध्ययन द्वारा मनुष्य जीवन की उदात्त स्थिति को निरन्तर प्राप्त करता रहा है। इसलिये आचार्य 'सोम' जी ने वेदों का अध्ययन करके उन तत्वों को खोजने की सफल चेष्टा की है जो जीवन को ज्ञान–सरणि से संयुक्त कर सकें। इन तत्वों के शोध में अनेकानेक वेद मंत्रों को जीवन–पाथेय के रूप में स्वीकार किया गया है। उद्धृत मंत्रों के अर्थों की व्याख्या करते हुए आपने अनेक नूतन दिशाओं की भी अभिव्यक्ति की है। अनेकानेक मौलिक संकेत भी प्रस्तुत किये हैं। श्रद्धासंवलित

भावधारा में अवगाहन करते हुए आपने अपनी इस पुस्तक को २५ अध्यायों में विभक्त किया है।

प्रकाशक – चौखम्भा, विद्याभवन, वाराणसी। सन् १६६७/पृ०सं० ३००

८. वैदिक संस्कृति और सभ्यता

किसी भी देश के आन्तरिक एवं बाह्य विकास में उसकी सभ्यता और संस्कृति की भूमिका अपना विशिष्ट महत्व रखती है। भारतवर्ष की गौरव–गाथा में इन दोनों का ही अनूठा योगदान रहा है। आचार्य 'सोम' जी भी इस दिशा की ओर आकृष्ट हुए बिना न रह सके। इस ग्रन्थ में 'सोम' जी ने इस बात का विशेष ध्यान रखा है कि वे अपने विवेचन–क्रम में पूर्वाग्रहों तथा स्वाग्रह से पूर्णतः मुक्त रहें। इस ग्रन्थ को दो भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम भाग वैदिक संस्कृति से सम्बन्धित है, जिसमें सात अध्याय हैं। द्वितीय भाग वैदिक सभ्यता से सम्बन्धित है इसमें भी सात अध्याय है।

प्रकाशक – ग्रन्थम, रामबाग कानपुर। सन् १६८१/पृ०सं० ३८२

६. वैदिकी

वेदों का अध्ययन एवं चिन्तन पंडित जी की मूल प्रवृत्ति थी। आपका विश्वास था कि – "वेदों में उच्चकोटि के विचार, उच्चकोटि की कल्पना तथा उच्चकोटि की विचारधारा है। उनकी भाषा अतीव प्रांजल संयत पर रहस्यमयी एवं गणितीय है। ... .वेदों में सब कुछ उदात्त है। निम्न स्तर पर वहाँ कुछ भी नहीं है। ....हमारी सभ्यता, हमारी संस्कृति, हमारी आचार प्रणाली, हमारा दर्शन सब कुछ वेद की ही देन है। ....आर्य जाति की अपराजेयता का कारण वेद हैं। जिसने उसे जीवन के शाश्वत मूल्यों की शिक्षा दी है।" इसी आस्था एवं विश्वास के साथ वेदों का निरन्तर स्वाध्याय करते समय जो–जो विचार तथा भाव पंडित जी के मानस पटल पर अंकित हुए उन्हीं को वे अपनी लेखनी द्वारा विभिन्न निबन्धों का रूप देते गये।

इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि पंडित जी के लिये वेद ऋचायें सहज एवं सरल हो गयी थीं। उनका स्वतः का कथन है – "वेद माता ने स्तन्यपान के रूप में मुझे लगभग एक सहस्त्र मंत्र कंठस्थ करा दिये।" माँ का ऋण कोई कैसे चुका सकता है–

"माता प्रमाद मा प्रोतु सुतस्य सेवयाऽनया।
स्वर्गस्थाः कृत कर्तव्या प्रीयन्तां पितृदेवताः ।।"

– वैदिक (परिचय पृ०सं० ६)

इस ग्रन्थ में वेद विषयक निबन्धों की संख्या ६३ है।

प्रकाशक – ग्रन्थम, रामबाग, कानपुर। सन् १६७२/पृ०सं० ४७६

१०. विचार और विभूति

प्रत्येक रचना के पीछे लेखक के हृदय में कोई भावना विशेष अथवा लक्ष्य विशेष होता है जिससे अनुप्राणित होकर वह अपनी सुनियोजित रचना प्रक्रिया में संलग्न होता है। इस पुस्तक के पीछे भी पंडित जी के श्रद्धा और स्नेह संवलित हृदय में जो मूल प्रेरणा रही उसको पुस्तक के प्राक्कथन अंश में व्यक्त करते हुए आप लिखते हैं – "पं० नन्द किशोर जी शुक्ल एक निष्ठावान वैदिक ब्राह्मण थे। उनका स्नेह तथा ममत्व मेरे प्रति बहुत अधिक था। उनकी जीवनधारा नैसर्गिक रूप से उन्नयन पथ को प्रशस्त करती रहती थी। मेरे कनिष्ठ पुत्र चि० ओंकार के तिलक समारोह में वे ८०–८१ वर्ष के वयोवृद्ध पं० सामवेदी जी को सामगान के लिये ले आये थे। मैं जब–जब उनके समीप पहुँचा, तब–तब उनकी हर्ष–निर्भर मुद्रा हृदय से बाहर प्रकट होकर मुझे मंगल आशीर्वादों से आच्छादित करती रही। अंतिम दिनों में मुझे देखते ही वे अपने को स्वस्थ–सा अनुभव करने लगते थे। उनके शरीर पर कर–स्पर्श करते हुए जब मैं मंगल–मंत्र पढ़ने लगता, तब वे मंत्र–ध्वनि में मग्न हो जाते और भूल जाते कि वे अस्वस्थ हैं। ....सायंकाल का कार्यक्रम उनकी स्मृति में मेरे प्रवचन के रूप में परिणत हो गया और विधि का विधान कुछ ऐसा बना कि ये प्रवचन लेखों का रुप धारण करने लगे। योग तो जिह्वा को मन से संयुक्त कर ही गया था, वेदान्त के सूत्र भी वहाँ क्रीड़ा करने लगे। ....

विधि बताई गई है। प्रणव, ओउम् या ओंकार का जाप बाह्य उच्चारण से भीतर प्रवेश करता हुआ जब मानसिक जाप बन जाता है तब उसकी ध्वनि 'अनाहत' कहलाती है। बाह्य ध्वनि में ओष्ठ, तालु, दन्त, जिह्वा, कण्ठ आदि के आघात होते रहते हैं और वायु की तरंगों के साथ सम्पर्क रहता है। मानसिक जाप में ऐसा नहीं होता। इसी को 'दिव्य– ध्वनि' या 'दिव्य–संगीत' भी कहते हैं। यह आत्मा का भोजन है। यह आन्तरिक संगीत ध्वनि हृदय की अग्नि को प्रज्वलित करती है जिससे ज्योति निकलती है – यही ज्योति आत्मपथ को प्रशस्त करती है। ध्वनि अथवा नाद के बिना ज्ञान नहीं होता। वस्तुतः नाद ही परम ज्योति है, नाद ही विष्णु है। आचार्य जी का कथन है कि ॐ मूलमंत्र है। जिसमें भक्ति, भक्त और भगवन्त तीनों निवास करते हैं। इसी नाम के सहारे ऋषियों ने भवसागर को पार किया है। अतः हम भी इस मूलमंत्र को पकड़कर अपना उद्धार कर सकते हैं।

प्रकाशक – रामायण वेदान्त प्रेस, आर्य नगर, कानपुर। सन् १६७६/पृ०सं० २२

१३. चतुर्वेद मीमांसा

चतुर्वेद मीमांसा नाम से ही यह स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ में चारों वेदों से सम्बन्धित विषयों का निरूपण हुआ है। इस सम्बन्ध में आचार्य 'सोम' जी का कथन है – "पूर्वजों की वेदनिष्ठा तथा अपने संस्कारों के प्रभाव के कारण मैं वेदमाता के चरणों में प्रतिदिन उपस्थित होता रहा हूँ। इसी के परिणामस्वरूप आज मुझे जितने वेदमंत्र कंठस्थ हैं उतने न लौकिक संस्कृत के श्लोक और न हिन्दी के छन्द। अंग्रेजी, उर्दू और मराठी भाषायें भी पढ़ीं। किन्तु सर्वाधिक स्नेह मेरा वैदिक ऋचाओं में ही रहा। जो ग्रन्थ लिखे गये उनमें भी वैदिक ग्रन्थों की संख्या ही सर्वाधिक है। प्रस्तुत ग्रन्थ सीधा वेदों से सम्बन्धित है।" इस ग्रन्थ में वेद से सम्बन्धित १८ निबन्ध संग्रहीत हैं।

प्रकाशक – वैदिक शोध संस्थान, डी०ए०वी० कॉलेज, कानपुर। अगस्त सन् १६७८/पृ०सं० २१६

१४. तत्वदर्शन

इस कृति में आचार्य सोम के वैदिक चिन्तन से सम्बन्धित जो आध्यात्मिक विषय हैं, उन्हीं में से कतिपय विषयों पर विवेचनात्मक निबन्धों का संग्रह किया गया है। यथा – ईश्वर, जीव, भक्ति आदि।

यह कृति साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद से सन् १९५६–५७ के आस–पास प्रकाशित हुई थी। सम्प्रति यह पुस्तक अप्राप्य है। इसलिये इसमें संग्रहीत निबन्धों की संख्या देना संभव नहीं है।

समीक्षा साहित्य

१. सूर-सौरभ

हिन्दी साहित्य जगत में आचार्य मुंशीराम जी शर्मा 'सोम' सूर–साहित्य के विशेषज्ञ के रूप में अग्रिम पंक्ति में सुशोभित हैं। आपने केवल सूर की समीक्षा के लिये 'सूरसागर' का ही अध्ययन नहीं किया, अपितु भागवत तथा अन्य सम्बन्धित महत्वपूर्ण ग्रन्थों का अध्ययन करके सूरसाहित्य की मूल आत्मा के दर्शन करने का सफल प्रयत्न किया है। इस दिशा में 'सूरसौरभ' आपकी प्रथम कृति है। सन् १९४२–४३ में एम०ए० के छात्रों को विशेष कवि के रूप में सूर का अध्ययन कराते समय जिस सामग्री को अपने छात्रों को पंडित जी ने देना उचित समझा उसी को इस पुस्तक में संचित किया गया है। सूरसाहित्य के अध्ययन ने पंडित जी को अत्यधिक प्रभावित किया। उनका कथन है – "जिस दिन मेरे मानसपट पर सूर की हरि लीला दर्शन अंकित हुई उसी दिन से मेरे सूर अध्ययन की दृष्टि में आमूल परिवर्तन हो गया, सूर की भाव विभोरिता एकदम नवीन अध्यात्म रूप में मेरे सम्मुख आ उपस्थित हुई।"

प्रारम्भ में यह ग्रन्थ आचार्य शुक्ल साधना सदन द्वारा दो भागों में छपकर प्रकाशित हुआ था, परन्तु बाद में इसको मिलाकर एक भाग का रूप दे दिया गया। ग्रन्थ की सम्पूर्ण सामग्री नौ अध्यायों में विभक्त है। ग्रन्थ के अंत में एक विस्तृत परिशिष्ट भी दिया गया है।

प्रकाशक – ग्रन्थम रामबाग, कानपुर। पृ0सं0 ३५४

२. भारतीय साधना और सूर-साहित्य

सूर सम्बन्धी अध्ययन का पंडित जी का यह दूसरा ग्रन्थ है। इसी पर आपको पी0एच0डी0 की उपाधि प्राप्त हुयी थी। सूर की भाव विभोरता में पंडित जी ने एक नवीन अध्यात्म के स्वरूप को प्राप्त किया है। इसके द्वारा ही उन्हें महात्मा सूर का साधना सम्बन्धी दृष्टिकोण उजागर होता हुआ प्रतीत हुआ। प्रस्तुत ग्रन्थ का मूल आधार यही साधना सम्बन्धी दृष्टिकोण है।

इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्राक्कथन के अन्तर्गत आपने अपने सूर सम्बन्धी अध्ययन के दृष्टिकोण को व्यक्त किया है। अध्यायों का क्रम सुनियोजित है। अन्त में परिशिष्ट के अन्तर्गत वायु पुराण और श्रीकृष्ण लीला, पद्मपुराण और श्रीकृष्णलीला तथा सूर सम्बन्धी साहित्य पर बड़ी व्यापक दृष्टि से विचार किया गया है।

प्रकाशक – आचार्य शुक्ल साधना सदन। संवत् २०१० वि0, पृ0सं0 ४६२

३. सूरदास और भगवद् भक्ति

महात्मा सूरदास की भक्ति सम्बन्धी मान्यताओं तथा उनके विशद विवेचन की दृष्टि से पंडित मुंशीराम शर्मा जी ने यह ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ में ११ अध्याय हैं। विचार दृष्टि से पंडित जी के इस ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता यह है कि सूरदास की भक्ति भावना को लेकर यद्यपि पंडित जी ने अपने अन्य ग्रन्थों में भी विचार किया है पर इस ग्रन्थ के प्रारम्भ के तीन अध्यायों को छोड़कर शेष आठ अध्यायों में विशुद्ध रूप से सूर के भक्ति पक्ष पर विचार किया गया है।

प्रकाशक – साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद। सन् १६५८, पृ0सं0 १६६

४. सूरदास का काव्य वैभव

आचार्य सोम जी का 'सूरदास का काव्य वैभव' नाम से सूर सम्बन्धी यह चौथा ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में विशेष रूप से सूर की काव्य सम्पदा पर ही अधिक विचार किया गया है। सूर के काव्य वैभव की विषय सामग्री ११ अध्यायों में विभक्त है। अंत में उपसंहार के अन्तर्गत 'सूर का काव्यक्षेत्र' में स्थान विषय पर बड़ी ही व्यापकता के साथ विचार किया गया है।

प्रकाशक – ग्रन्थम रामबाग, कानपुर। सन् १६६५/पृ०सं० २२८

५. सारस्वत

यह पण्डित जी के साहित्यिक निबन्धों का संग्रह है। समय–समय पर विभिन्न साहित्यिक समारोहों में आपने जो अध्यक्षीय भाषण दिये हैं उन्हें तथा कतिपय अन्य निबन्धों को इस ग्रन्थ में संग्रहीत किया गया है जिनकी संख्या ४५ है। प्रारम्भिक सात निबन्ध साहित्यिक निबन्धों की मीमांसा से सम्बन्धित हैं। अन्य निबन्धों में से कुछ शोध सम्बन्धी समस्याओं को लेकर लिखे गये हैं, कुछ भाषा की समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं। शेष निबन्ध कवियों तथा विभिन्न काव्यकृतियों से सम्बन्धित हैं।

प्रकाशक – आचार्य शुक्ल साधना सदन। संवत् २०१७/पृ०सं० ३०८

६. भक्ति का विकास

'भक्ति का विकास' शीर्षक ग्रन्थ डी०लिट्० उपाधि से सम्बन्धित शोध ग्रन्थ है जो मूलतः उसी रूप में प्रकाशित हुआ है। यत्र–तत्र कुछ सामग्री का संवर्द्धन अवश्य कर दिया गया है। इस ग्रन्थ के प्रकाशित होते ही हिन्दी जगत में इसके महत्व की प्रायः सर्वत्र चर्चा होने लगी। इस प्रकार के श्रेष्ठ ग्रन्थ आदि अधिक नहीं तो अनेक दशकों के बाद ही सामने आते हैं। ग्रन्थ के महत्व का परिचय देने के लिये मैं यहाँ डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल जैसे मनीषी का कथन उद्धृत करना आवश्यक समझती हूँ 'हिन्दी क्या संस्कृत साहित्य में भी अभी तक इस प्रकार का कार्य नहीं हुआ है। लेखक का

प्रस्तुत निबन्ध हिन्दी तथा संस्कृत के अध्येताओं में समादृत होगा इसमें संदेह नहीं।" यह ग्रन्थ ११ अध्यायों में विभक्त है।

प्रकाशक – चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी। सन् १६५८/पृ०सं० ८३२

७. साहित्यशास्त्र

यह पंडित जी द्वारा विरचित आलोचनात्मक ग्रन्थ है। उन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के गहन अध्ययन के उपरान्त अपनी साहित्य सम्बन्धी मान्यताओं को इस ग्रन्थ के माध्यम से प्रस्तुत किया। इसके पूर्व भी डॉ० श्यामसुन्दर दास, पं० नन्द दुलारे बाजपेई, डा० नगेन्द्र, डा० बलदेव उपाध्याय तथा पं० सीताराम चतुर्वेदी आदि विद्वानों ने इस विषय पर प्रशंसनीय कार्य किया है। यह ग्रन्थ भी उसी श्रृंखला की एक कड़ी है। इसकी कतिपय अपनी विशेषतायें हैं। इस ग्रन्थ में विवेचन क्रम के अन्तर्गत पौरास्त्य तथा पाश्चात्य दोनों दिशाओं के विद्वानों के मन्तव्यों का मंथन करते हुए आचार्य जी ने अपनी मान्यताओं का स्पष्टीकरण किया है। साहित्य क्या है, उसके सृजन की महत्ता किस प्रकार लोक के लिये उपयोगी बनती है, काव्य का मनोवैज्ञानिक आधार क्या है ? उसका स्वरूप एवं लक्ष्य क्या वही है जो अब तक मान्य रहा, यथार्थ और आदर्श किस बिन्दु पर आकर समन्वित होते हैं, आदि ऐसे कितने ही काव्य एवं साहित्य सम्बन्धी प्रश्नों को उठाकर उनके समाधान प्रस्तुत किये हैं। रस के निरूपण में कुछ नूतन दृष्टि अवश्य परिलक्षित होती है। प्राचीन आचार्यों के मतों से मेल खाती हुई अपनी विचारधारा को लेखक ने वैज्ञानिक आधार पर व्यक्त किया है।

प्रकाशक – श्री भारत भारती, दिल्ली। सन् १६६२/पृ०सं० २१८

८. तुलसी का मानस

पंडित जी को रामचरित मानस का अध्ययन करते समय अनेक विचारभूमियाँ प्राप्त हुई जिसका उल्लेख उन्होंने इस ग्रंथ की भूमिका लिखते हुए किया है। वे 'राम' शब्द की व्याख्या इस प्रकार करते हैं 'योगिनः यस्मिन् रमन्ते सः रामः' अथवा 'यः सर्वेषु

रमते सः रामः।' इस प्रकार वे राम को सर्वत्र व्यापक और रमणशील मानते हैं। अतः 'सोम' जी ब्रह्म के अनेक नामों में 'राम' नाम को भी एक नाम स्वीकार करते हैं। उनका यह भी मत है कि "धनुर्धर राम, अवतारी राम, मर्यादा पुरुषोत्तम राम, दिव्यविभूति दशरथ पुत्र राम का जीवन हमारे लिये शिक्षाप्रद है, आदर्श चरित्र है, वह समाचरणीय तथा समादरणीय है।" पंडित जी ने तुलसीदास जी की पंक्ति, "मति अनुरूप राम गुन गाऊँ" के अनुसार मानस अध्ययन के पश्चात् अपने ऊपर पड़े प्रभाव के आधार पर तुलसी साहित्य की विवेचना की है। इस ग्रन्थ में २१ निबन्ध हैं।

प्रकाशक – ग्रन्थम रामबाग, कानपुर। सन् १६७२/पृ०सं० २५२

६. हिन्दी साहित्य का उपोद्घात

आचार्य मुंशीराम शर्मा जी 'सोम' ने सन् १६३६ में हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास भी लिखा था जो कि "हिन्दी साहित्य का उपोद्घात" नाम से प्रकाशित हुआ। यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई और माध्यमिक शिक्षा परिषद उत्तर प्रदेश द्वारा प्रायः आठ–दस वर्षों तक पाठ्यक्रम में स्वीकृत भी रही।

पण्डित जी ने अपने इस ग्रन्थ में अनेक प्राचीन मान्यताओं को अपनी दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक देखा और भलीभाँति छानबीन करके ठोस प्रमाणों के आधार पर अपनी मान्यताओं को भी प्रस्तुत किया। पिष्टपेषण की पद्धति से हटकर उन्होंने अनेकानेक विस्मृत एवं उपेक्षित साहित्यकारों तथा उनकी कृतियों का उल्लेख करके उन्हें हिन्दी जगत के समक्ष प्रस्तुत किया। यही इस ग्रन्थ की सारभूत विशेषता है।

भाष्य - साहित्य

१. कबीर वचनामृतसार

प्रस्तुत पुस्तिका में आचार्य 'सोम' जी ने कबीर की साखियों की टीका हिन्दी साहित्य जगत के सम्मुख प्रस्तुत की है। इसमें साखियों का पाठ व क्रम उसी रूप में है जो डॉ० श्यामसुन्दर दास द्वारा सम्पादित तथा नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

पुस्तक में है। आरम्भ में ही विस्तृत भूमिका के अन्तर्गत कबीर साहित्य के सभी पक्षों तथा अनेकानेक विषयों पर अत्यन्त गंभीरता तथा व्यापकतापूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। 'साखी' का शब्दार्थ, साखियों की प्रामाणिकता, साखी का महत्व, साखियों में परमात्मा का स्वरूप, साखियों में माया का रूप, सद्गुरू का महत्व, भक्तिपथ, रहस्यवाद आदि विषयों पर आपके विचार सराहनीय हैं।

पहले तो यह भाष्य–ग्रन्थ आचार्य शुक्ल साधना सदन द्वारा सन् १६५४ में "कबीर वचनामृत" नाम से प्रकाशित हुआ था। बाद में यही कृति कुछ संशोधन एवं परिवर्धन के उपरान्त "कबीर वचनामृतसार" नाम से "ग्रन्थम" द्वारा प्रकाशित हुई।

२. पद्मावत-भाष्य

आचार्य मुंशीराम शर्मा सोम जी द्वारा लिखे गये भाष्यों की परम्परा में पद्मावत–भाष्य पहला भाष्य है जो कि शिवाजी प्रकाशन मन्दिर, लखनऊ द्वारा प्रकाशित हुआ। "सोम" जी ने प्रारम्भ में भूमिका रूप में प्रेमगाथा–काव्य पर विस्तार पूर्वक विवेचन किया है। इस भाष्य की मूलभूत विशेषता यह है कि भाष्यकार ने कवि के मूलभावों को स्पष्ट करने में विशेष रूचि ली है। इस भाष्य का नवीन संस्करण मूल ग्रन्थ के साथ ग्रन्थम रामबाग, कानपुर से प्रकाशित हुआ है।

३. कामायनी-भाष्य

आचार्य "सोम" जी ने प्रसाद द्वारा विरचित कामायनी महाकाव्य की टीका करते समय कवि की भावगत सत्ता को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है। वैदिक–साहित्य के गंभीर अध्येता होने के फलस्वरूप सोम जी ने स्थान–स्थान पर कामायनी के दार्शनिक पक्षों का अत्यन्त ही सुन्दर विवेचन किया है। इस दृष्टि से भाष्य में दी गयी टिप्पणियाँ विशेष रूप से पढ़ने योग्य हैं। भाष्य के प्रारम्भ में १४४ पृष्ठों की विस्तृत भूमिका है जिसमें अनेकानेक विषयों जैसे, कामायनी का कथानक, रूपक–तत्व, काव्य–शिल्प दर्शन, सामरस्य, युगबोध आदि पर गंभीर विचार प्रस्तुत किये गये हैं।

प्रकाशक – ग्रन्थम् रामबाग, कानपुर। संवत् १६७०/पृ०सं० ३६८

४. भ्रमरगीत-भाष्य

सूर काव्य में भ्रमरगीत का अपना एक विशिष्ट महत्व है। सभी विश्वविद्यालयों की स्नातक तथा परास्नातक कक्षाओं में इसके कतिपय अंश अवश्य ही पाठ्यक्रम में रहते हैं। इसका प्रमुख कारण है कि हृदय–स्पर्शिता, वचनवक्रता, वाग्विदग्धता तथा उपालम्भ की दृष्टि से सूरकाव्य का यह अंश उच्चकोटि का काव्य कहलाने योग्य है। भाष्यकार ने प्रत्येक पद की व्याख्या के उपरान्त आवश्यक टिप्पणियाँ तथा शब्दार्थ भी दिये हैं। यथास्थान काव्यात्मक सौष्ठव तथा अलंकारों आदि का भी निर्देश दिया गया है।

प्रकाशन – प्रत्यूष प्रकाशन, रामबाग, कानपुर। सन् १६७२/पृ०सं० ३४२

काव्य-साहित्य

१. श्री गणेश गीतान्जलि

हुतात्मा गणेश शंकर जी विद्यार्थी त्याग एवं बलिदान जीवन–प्रक्रिया के कारण भारत की राष्ट्रीय चेतना के रोम–रोम में रमे हुए हैं। वे न केवल कानपुर के, अपितु सम्पूर्ण भारतवर्ष के गौरव रूप हैं। ब्रिटिश शासन ने भारतवर्ष को पराधीनता की श्रृंखला में अधिकाधिक जकड़ने के लिए यहाँ की दो महान जातियों हिन्दू व मुसलमानों के बीच वैमनस्य की भावना उत्पन्न कराकर एक दूसरे के खून का प्यासा बना दिया। देश में ज्यों–ज्यों स्वतंत्रता की माँग बढ़ती गयी, त्यों–त्यों ब्रिटिश शासकों ने भेदनीति का प्रयोग कर दंगे करवाये जिनमें दोनों ही सम्प्रदायों के न जाने कितने व्यक्ति अपनी आहुति दे बैठे। श्री गणेश शंकर जी विद्यार्थी की आत्मा इस भयावह दृश्य को देखकर कराह उठी और जब सन् १६३१ में कानपुर में हिन्दू–मुस्लिम दंगा हुआ तब चौबेगोला मुहल्ले में मुसलमानों की रक्षा करते हुए वे उन्हीं के हाथों हिन्दू–मुस्लिम–एकता की बलिवेदी पर उत्सर्ग हुए।

कविवर "सोम" का हृदय इस घटना को देखकर रो उठा। इस पुस्तिका "श्री

गणेश गीतान्जलि" में उनके अश्रु–कण संचित हैं। सम्पूर्ण कृति ७ शीर्षकों में विभक्त है। यह रचना इस समय अप्राप्य है।

२. श्रुतिसंगीतिका

श्रुतिसंगीतिका में मुख्यतः मंत्रगत भावों का ही पल्लवन है। सम्पूर्ण कृति ४ वर्गों में विभक्त है। 'मध्यान्ह' वर्ग के अन्तर्गत वेदमन्त्रों पर लघुकाय संस्कारी छन्द सन्निहित हैं। इनके उपरान्त गीत आये और कुछ बड़े–बड़े छन्द भी जो 'प्रातः' एवं 'सायम्' वर्गों में सन्निहित हैं। 'वैकालिक' वर्ग में ऐसे मन्त्रों पर गीत लिखे हैं जो सीधे भक्ति–भावना से संबंध नहीं रखते। जीवन को सुखद तथा समरस बनाने के लिए ही इनका महत्व है। संसार में दुख की मात्रा अधिक है। कुछ दार्शनिक तो इसे दुःखरूप ही समझते हैं। सुख परछांई की भाँति आता है, पर कभी–कभी दुख के आवेग में उसकी अनुभूति भी नहीं हो पाती। वेद इसलिए प्राकृतिक पाशों से मुक्त होने का निर्देश करता है। श्रुतिसंगीतिका उसी दिशा में पाठकों को ले जाने का स्वल्प प्रयत्न करती है।

प्रकाशक – भगवती प्रकाशन माला, आर्यनगर कानपुर। सन् १९६१/पृ०सं० ७४

३. जीवन गीत

आत्मकथायें तो अनेक विद्वानों ने लिखी हैं, पर ऐसे जीवन–गीत बहुत कम व्यक्तियों ने लिखे होंगे। गीत वैसे ही आत्मपरक होता है, फिर जीवन–गीत तो विशेष रूप से व्यक्तिनिष्ठ है। पर वैयक्तिकता यहाँ संकुचित सीमाओं का उल्लंघन करके विश्वजनीय बन गयी है।

भवभूति ने करूण रस को सब रसों का मूल माना है। महात्मा बुद्ध की साधना ने भी संसार की दुःखदग्धता का दर्शन किया था। जीवन–गीत का कवि भी इस दुख–द्युति का दर्शन करता है, पर यह द्युति चमककर लुप्त नहीं हो जाती, जीवमात्र के शरीर में संचार करती रहती है। जिसे हम सुख समझते हैं, वह भी परिणाम में दुख ही

छोड़ जाता है। जीवन–गीत में दुख की मात्रा अधिक है। पाठक उससे क्लान्त हो सामरस्य न खो बैठें अतः कवि कभी आश्वासन और कभी प्रेरणा भी देता चलता है। आशा पर संसार टिका है। यह न हो तो न जाने, मानव कब क्या कर बैठे। इसमें भी संदेह नहीं कि जिसका जन्म होता है उसका अंत भी होता है। दुख का उदय होता है, तो उसका अंत भी अवश्यम्भावी है। अस्त के पश्चात् जो स्थिति आवेगी, वह निश्चित रुप से कल्याण की स्थिति होगी। कवि इस स्थिति का अनुभव करता है। जीवन–गीत के बीच में जो अभिव्यक्तियाँ हैं वे प्रायः पारिवारिक तथा कॉलेज–जीवन से सम्बद्ध हैं।

प्रकाशक – भागवती प्रकाशन माला, आर्यनगर कानपुर। सन् १९६१, पृ0सं0 ७४

४. विरहिणी

३६ वर्षों की अनवरत सेवा के उपरान्त जून सन् १९६२ में कॉलेज से अवकाश ग्रहण करने के उपरान्त आचार्य सोम जी का ध्यान महाकाव्य लिखने की ओर गया। सम्पूर्ण संसार का संचालन करने वाली महामाया के वात्सल्य को पाकर उनका ध्यान आत्मा और परमात्मा के सम्बन्धों की ओर गया। आत्मा की यात्रा प्रभु के वियोग से ही प्रारम्भ होती है। भौतिक जगत में कोई ऐसा अवलम्ब नहीं है जो उसे इस विरह से मुक्त करा सके। प्रभु प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि आत्मा पर जो मल विकार के आवरण पड़े हुए हैं वे नष्ट हों। एक बार प्रभु प्रेम का गहरा रंग उस पर चढ़ जाता है तब सांसारिकता, वासनाजाल, माया के विभिन्न आकर्षक मोहक रूप अपना प्रभाव उस पर डालने में असमर्थ होते हैं।

विरहिणी महाकाव्य में आचार्य सोम ने भी विरही आत्मा के स्वरूप का मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। सूर, तुलसी और जायसी में विरह के रूपों की व्यंजना आख्यायिका के रूप में हुई है पर सोम जी ने वैदिक वाङ्मय के अनुकरण पर किसी आख्यान का सृजन न करके विरहिणी आत्मा की ही करूण पुकार इस महाकाव्य द्वारा ध्वनित की है। इस रचना में १२ सर्ग हैं।

प्रकाशक – प्रत्यूष प्रकाशन, रामबाग कानपुर। अगस्त १९८७

५. यज्ञ-संगीत

यज्ञ–संगीत लिखने के मूल में आचार्य सोम की यज्ञ के प्रति आस्था का भाव है। आपका विश्वास है कि यज्ञशील मानव ही मनुष्य कहलाने योग्य है। जो व्यक्ति व्रती होता है और यज्ञ के प्रति जिसकी आस्था होती है, वही व्यक्ति श्रेष्ठ पुरुष है। यजनशील प्राणी का जीवन एक मर्यादा से बँधा रहता है। उसके जीवन–सुमन से जो सौरभ विकीर्ण होता है उससे अन्य प्राणी भी प्रकाशित होते हैं। इसी विकास के आधार पर सोम जी प्रतिदिन अग्निहोत्र करते समय जिन मंत्रों का उच्चारण करते थे उनको पद्यात्मक रूप में अंकित किया है।

प्रकाशक – मानव कल्याण प्रकाशन, कानपुर। १९७१/पृ०सं० ५८

६. भक्ति-तंरगिणी

इस कृति में १११ वैदिक मंत्रों का पद्यानुवाद दिया गया है। प्रत्येक मंत्र को लिखकर उसका शब्दार्थ उपस्थित किया गया है, तत्पश्चात् गीतिबद्ध किया गया है जिसमें काव्यात्मकता के साथ–साथ मूलभाव की सुरक्षा के प्रति कवि विशेष रूपेण सावधान रहा है। यह कृति इस समय अप्राप्य है। अतः इस रचना की विस्तृत जानकारी देना संम्भव नहीं है।

प्रकाशक – चौखम्भा, विद्या भवन, वाराणसी।

७. संध्यासंगीत

आर्य समाज में दैनिक संध्या का विशेष महत्व है। उसके लिए कुछ वैदिक मंत्रों का समावेश किया गया है। इन मंत्रों में यजुर्वेदीय संध्या के भी कतिपय मंत्र है। अंतर केवल इतना है कि यजुर्वेदीय संध्या के मंत्रों की अपेक्षा आर्यसमाज में प्रचलित संध्या के मंत्र कुछ कम हैं और सामान्य विधि में भी थोड़ा भेद है। आचार्य प्रवर सोम जी ने इन

समस्त मंत्रों का पद्यानुवाद किया है। इन मंत्रों की सबसे बड़ी और महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि मंत्रगत मूलभाव की रक्षा करते हुए काव्यगत सौष्ठव की भी सृष्टि करने में कवि समर्थ हो सका है। जिससे उनकी मनः स्थिति का सम्यक परिचय प्राप्त होता है।

आर्य समाज को मानने वाले परिवारों में इस पुस्तिका को सर्वाधिक लोकप्रियता तो प्राप्त हुई ही संध्या–वन्दन–प्रेमी जन–सामान्य में भी यह कृति समादृत हुई। यही कारण है कि इसके अनेक संस्करण निकल चुके हैं।

प्रकाशक – पं0 विद्याधर, मंत्री आर्यसमाज, मेस्टन रोड, कानपुर। पृ0सं0 २८

८. भागवती आभा

जीवन–सरिता का प्रवाह सम–विषम रूपों में चलता रहता है। प्रभु कब, किसे, किस रूप में, रखना चाहते हैं, इसे वही जानते हैं, मानव नहीं। उनका विधान अप्रतर्क्य है। ब्रह्म मुहूर्त्त में स्वप्नावस्था के उपरान्त जो जागरण दशा आती है, वह अक्षर की भाँति आदि तथा आप्ति की सूचना देती है। यदि हम उठकर आदि जनक तथा आदि कारण की आप्तिमत्ता और व्यापकता की ओर अपनी चित्तवृत्ति को ले जा सकें तो हमारे जागरण की सफलता सिद्ध हो सकती है। पूर्वजों के पद चिन्हों पर चलना मंगलदायक है। भावानुभूतियाँ उद्भूत होती हैं और उदभूति के साथ अभिव्यक्ति की भी आकांक्षा करती हैं। भागवती आभा की रचनाएँ इसी प्रकार की भावोद्भूति के अभिव्यंजन का परिणाम हैं।

भागवती आभा की समस्त रचनाओं का विभाजन किरण शब्द से किया गया है। आभा के साथ इस किरण शब्द का प्रयोग समीचीन है। सम्पूर्ण काव्यग्रन्थ पाँच किरणों में विभक्त है। जिसमें संग्रहीत रचनाओं की संख्या क्रमशः ५३, ५६, ५८, ५६ तथा ६१ है। रचना के प्रारम्भ और अन्त में लेखक ने संस्कृत–श्लोकों का प्रयोग किया है।

प्रकाशक – ग्रन्थम रामबाग, कानपुर। सन् १६७४/पृ0सं0 १६२

६. सोम स्तोत्र सुधा

"सोम स्तोत्र सुधा" में आचार्य जी का आध्यात्मिक चिन्तन उनकी भक्ति भावना अनेक प्रकार से विविध छन्दों में व्यक्त हुई है। कवि अपने चिन्तन के क्षणों में अन्तःदर्शन तो करता ही है साथ ही बाह्य सृष्टि व्यापार का भी वह निरीक्षण करता हुआ चलता है। इसीलिये यत्र–तत्र देश दशा, सदाचार आदि पर भी कवि ने चिन्तन किया है।

इस रचना का परिचय देते हुए उन्होंने उन मूल स्तोत्रों की ओर भी इंगित किया है जहाँ से उन्हें प्रेरणा प्राप्त हुई है। हम इसे उनके वेदमाता का सानिध्य, अध्यात्म रामायण का प्रसाद या उनके पूर्व जन्म के संस्कारों का उदय कह सकते हैं जिसने जीवन के पटाक्षेप काल में विविध छन्दोबद्ध संस्कृत स्तोत्र लिखवा दिये। प्रकीर्ण सूक्तियाँ भी सहज भाव से सम्मिलित हो गयी हैं। परम्परा का यह सन्निवेश कवि के मन और हृदय के साथ–साथ पाठकों के भी मन और हृदय के लिये संतोष का विषय है।

शार्दूलविक्रीडित और मालिनी छन्दों के विधान में कहीं–कहीं परिवर्तन हो गया है, पर वह चारों चरणों में समान है। अतः आचार्य जी ने उनके नाम व्याघ्रपाद और मंजुला रख दिये हैं। कुछ नवीन छन्द जिनमें गणों का क्रम है, जैसे मत्या छन्द जिसमें मगण मगण और यगण क्रमशः आये हैं। जहाँ गण नहीं वहाँ अक्षरों की संख्या समतुल्य है। एकादशी, द्वादशी, षोडशी आदि छन्द इसी प्रकार के हैं। कुछ गीतिकायें हैं जो अक्षरों से नहीं मात्राओं से निबद्ध हैं। वैसे गीतों मे अक्षरों की संख्या का भी ध्यान रखा गया है। गणबद्धता भी कहीं–कहीं दृष्टिगोचर होती है। नवीनता का समावेश संगीतात्मकता को धक्कच न पहुँचाये, इस सिद्धान्त का निर्वाह सावधानी के साथ किया गया है।

यह ग्रन्थ १४ प्रवाहों में विभक्त है जिनमें छन्दों की सख्या क्रमशः २२३, ६१, ६१, १६१, २१६, १५८, २८८, १२६, ७६, ६१, ५६, ६१, १०३ तथा ४४ है। इस प्रकार समस्त प्रवाहों में कुल मिलाकर छन्दों की संख्या १७६० है।

प्रकाशक – ग्रन्थम, रामबाग, कानपुर। पृ०सं० १८८

*****

अध्याय ३

डॉ० सोम की काव्य संवेदना : मुक्तक काव्य

३

डॉ० सोम की काव्य संवेदना : मुक्तक काव्य

साहित्य–मनीषी आचार्यप्रवर डॉ0 मुंशी राम शर्मा "सोम" के व्यक्तित्व में सहृदय सर्जक, विवेकी विचारक एवं विशिष्ट व्याख्याता का असाधारण समाहार हुआ है। आपमें सृजन, समीक्षा और शोध का संगम है साहित्य–सृजन आपकी मूल वृत्ति है, अध्ययन–अनुचिन्तन आपके संस्कार, संभाषण द्वारा अनुसंधित्सुओं में ज्ञान की ज्योतिविकीर्ण करना आपकी उदात्त सहृदयता है। आप वैदिक साहित्य के मनीषी ही नहीं वरन् उसके

अनुगायक हैं। उनकी काव्य कृतियों में वैदिक ऋषियों के सदृश मार्मिक अभिव्यक्तियाँ मुखरित हुई हैं। सोम जी उच्च कोटि के भावों को व्यक्त करने वाले कवि हैं। विरहिणी उनकी काव्य साधना की चरम परिणति है। यहाँ काव्योचित गरिमा के अतिरिक्त, आचार्य सोम ने श्रेष्ठ मुक्तक काव्य ग्रन्थों का भी सृजन किया है। 'श्री गणेश–गीतांजलि', 'श्रुतिसंगीतिका', 'जीवन–गीत', 'यज्ञ संगीत', 'भक्ति तरंगिणी', 'सोम–सुधा', 'संध्या–संगीत', 'भागवती–आभा' आदि आपकी उत्कृष्ट मुक्तक काव्यकृतियाँ हैं।

प्रस्तुत अध्याय में आचार्य सोम की काव्य संवेदना का विवेचन ही हमारा अभीष्ट है। संवेदना शब्द का प्रयोग सहानुभूति के अर्थ में होने लगा है। मूलतः वेदना या संवेदना का अर्थ ज्ञान या ज्ञानेन्द्रियों का अनुभव है। मनोविज्ञान में इसका यही अर्थ ग्रहण किया जाता हैं।[1] इसे तीन वर्गों में विभाजित किया गया है। १ – विशिष्ट संवेदना २ – अन्तरावयव संवेदना (प्राण, रस, त्वचा, दृष्टि तथा श्रोतृ–संवेदना का ही इसी से सम्बन्ध है।) ३ – स्तायविक संवेदना (जैसे आघात, जलन, भूख प्यास)[2] कलाकार या रचनाकार में विशिष्ट संवेदना ही मूलतः होती है। रचनाकार मनुष्य होने के कारण अपने आस पास के परिवेश के साथ जुड़ता है तो संवेदित होता है और इसी संवेदना के साथ अनुसंग रूप में भाषा भी साथ आती है। इसीलिए काव्य भाषा अनिवार्य रूप से बदलती रहती है।[3] काव्य भाषा और संवेदना के अन्तर्सम्बन्ध पर डॉ० राम स्वरूप चतुर्वेदी के विचार दृष्टव्य है "भाषा का आधार रूप वह है जो रचनाकार समाज से स्वीकार करता है और इसी के अनुकूल इसकी संवेदना निखरती है जिसे वह फिर अपनी काव्य भाषा में व्यक्त कर लेती है। ......यह काव्य भाषा एक निश्चित सीमा तक कवि के व्यक्तित्व के अनुकूल रूपाकार ग्रहण करती है पर अपनी आधारभूत सामाजिक भाषा से वह पृथक् नहीं हो सकती जो कि रचनाकार की संवदेना का माध्यम एवं स्रोत है। इसीलिए भाषा के अर्थबोध के साथ–साथ साहित्य में संवेदनात्मक गहराई बढ़ती जाती है।"[4]

---

१. हिन्दी साहित्य कोश (भाग १), प्रधान संपादक – डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ०सं० ८६३
२. हिन्दी साहित्य कोश (भाग १), प्रधान संपादक – डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ०सं० ८६३
३. समकालीन कवि और काव्य : कल्याणचन्द्र, पृ०सं० ६६
४. भाषा और संवेदना, डॉ० राम स्वरूप चतुर्वेदी, पृ०सं० ६८

यही संवेदनात्मक गहनता विभिन्न काव्य रूपों को जन्म देती है कभी वह महाकाव्य के रूप में और कभी वह मुक्तक काव्य के रूप मे कवि की सर्जना शक्ति का आधार बनती है। आचार्य सोम ने मुक्तक काव्य रचनाओं में संवदेना के विविध आयामों का संस्पर्श किया है। भावना की प्रबलता, काव्य संवदेना के विविध क्षेत्र, भक्ति भावना, प्रकृति चित्रण, दर्शन की गहन अभिव्यक्तियाँ एवं रहस्यानुभूति आदि सृजन की विविध भाव भूमियों का सन्निवेश इन मुक्तक काव्य रचनाओं में सहज ही प्राप्त होता है।

(क) भावप्रवणता

"कविवर डॉ मुंशीराम शर्मा सोम की कविता–चन्द्रिका का अनुभावन पाठक की काव्य–तृषा के शमन के लिए पीयूष है इसमें मेरी अमोघ निष्ठा है"।[1] कवि सोम की कविता का एक पक्ष उनकी भावप्रवणता है जहाँ कविता भावनाओं के सहज उच्छलन से जन्म लेती हुई उनके अन्तर्जगत् के भावों को व्यक्त करती है। भावप्रवणता उनके काव्य की आधारशिला है। 'सोमसुधा', 'भागवती आभा' एवं 'जीवनगीत' आदि काव्य रचनाओं में उनकी भाव सबलता देखी जा सकती है। क्योंकि इसमें कवि का निश्छल आत्मनिवेदन है। भागवती आभा के आत्मनिवेदन सम्बन्धी गीतों में जहां एक ओर पांडित्य की गरिमा के साथ ही कवि ह्रदय का तारल्य है वहीं दूसरी ओर वार्धवय की अनुभव गरिमा के साथ ही शिशु सुलभ सहज अभिव्यक्ति भी है। एक भक्त का निश्छल आत्मनिवेदन, उसके अपने सुख–दुख की शान्त अभिव्यक्तियाँ, आराध्य के प्रति समर्पण की उदात्त भावभूमियाँ एक साथ इस काव्य संकलन में विद्यमान हैं।

भावप्रवणता उनकी कविता की अनिवार्य विशिष्टता है। प्रेम की अनन्यता एवं मिलन की उत्कट अभिलाषा इन भावप्रर्वण कविताओं में आद्यन्त विद्यमान है। भक्ति में समर्पण का तत्व प्रधान होता है और चूँकि समर्पण आराध्य के प्रति होता है अतएव अपनी लघुता की भावना उसमें प्रारम्भ से अन्त तक रहती है। आत्मनिवेदन का जितना

---

१. आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', साधना और सर्जना (अभिनन्दन ग्रन्थ), 'कविवर डॉ० सोम की कविता – कौमुदी' निबन्ध से उद्धृत – लेखक डॉ० ब्रजलाल वर्मा

निष्कलुष तथा अकृत्रिम रूप विनयपत्रिका में उपलब्ध होता है, कदाचित हिन्दी कविता में इसका अन्य निदर्शन नहीं है। आज के आधुनिक युग में आधुनिकता के नये प्रतिमानों एवं मानदंडो के मध्य कविता को अनास्था, अनिश्चय, संशय तथा एकाकीपन के कान्तार में दिग्भ्रमित करने के जहाँ प्रयास हो रहे हों, वहाँ भागवती आभा जैसी रचना हमें विनय पत्रिका की उसी उदात्त काव्य – परम्परा का स्मरण कराती है। भागवती आभा कवि की आन्तरिक विवशता की उपज है जो भावनाओं के सहज उच्छलन को रोक न पाने के कारण बलात् कविता के रूप में अभिव्यक्त हुई है। यहाँ पर यह संकेत अति प्रासंगिक होगा कि आचार्य सोम अपने बाल्य जीवन के प्रारम्भ से ही प्रभु की दिव्य शक्ति से प्रेरित ओर उसके मानसिक अधिकरण में रहे हैं। उन्होंने स्वयं यह स्वीकार किया है "बाल्यावस्था से ही अन्तः सलिला सरस्वती के समान वह महनीय परमसत्ता मुझे आकर्षित करती रही है।"[१]

भागवती आभा काव्य रचना में कवि ने अत्यन्त भावुक होकर निश्छल आत्माभिव्यंजना को रूपायित करने का प्रयास किया है –

> "पाठशाला में जननी भेज, हुई स्वर्गत ले अपना तेज।
> तुम्हारी गोद बनी सुख सेज, बढ़ा मैं तुम्हें स्वरूप सहेज
> तुम्हारी भक्ति रही पाथेय, मिला ज्ञानामृत सुरूचि सुपेय।"[२]

"भागवती आभा का मूलस्वर आत्मानन्दी वेदज्ञ, सारस्वत भक्त की भावाकुलता है। इसीलिए उन्होंने जिस निश्छल शैली में पूत गिरा का प्रयोग किया है वह सूप के फटके हुए अन्न के समान है। उन्होंने मन से वाणी को शुद्ध करके उसे प्रस्तुत किया है।"[३]

कवि की यह निश्छल आत्माभिव्यंजना 'भागवती आभा' काव्य ग्रन्थ में सर्वत्र परिलक्षित होती है जो परम प्रभु के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती है –

---

१. भक्ति का विकास, आचार्य मुंशी राम शर्मा, (भूमिका भाग से उद्धृत)
२. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा, पृ०सं० १८३
३. आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', साधना और सर्जना (अभिनन्दन ग्रन्थ), डॉ० सोम की भागवती आभा : एक दिदृक्षा – डॉ० शिव कुमार शुक्ल, पृ०सं० २८३

'मैं भिक्षुक तेरे द्वार दया की भीख माँगने आया हूँ।

सत्तर वर्षों के ताप झेल यह विनय पत्रिका लाया हूँ।

तूने है सब कुछ दिया देव, कैसे मैं इसे भुला सकता ।

गृह, धन, पत्नी, सुख, पुत्र, पौत्र सबमें विशिष्टता विशेषता।।'[१]

भक्त की आत्माभिव्यंजना और भाव प्रवणता विनय की सप्त भूमिकाओं में भी परिलक्षित होती है। 'जीवन गीत' काव्य संकलन में कवि की वैयक्तिकता ही मूलतः प्रधान तत्त्व है जिसे उसने अपने प्रयास से विश्वजनीन रूप प्रदान किया है। 'जीवनगीत' में संगृहीत गीतों का परिचय देते हुए कवि ने स्वयं लिखा हैं –

"जीवनगीत में दुख की मात्रा अधिक है। ....जीवनगीत के बीच जो अभिव्यक्तियाँ हैं वे प्रायः पारिवारिक तथा कालेज जीवन से संबद्ध हैं।"[२] इस प्रकार की रचनाओं में व्यक्ति की आत्माभिव्यंजना ही प्रधान है पर साधारणीकरण के आधार पर वे सर्वजन संवेद्य हो गयी हैं।

भागवती आभा काव्य में विनय की सप्त भूमिकाओं में कवि की भावप्रवणता सहज ही देखी जा सकती है। भावना का अतिशय रूप विनय भाव में ही संस्थित है।

दीनता –

मैं हतबल, मैं कर्तव्य मूढ़।

मैं ज्ञान गलित – वैराग्य विरत असमन्जस–आलस–रथारूढ़।।[३]

इस दैन्य भाव में कवि मंत्रपाठ, योगादि को वह बाह्य प्रदर्शन मानता है। इस रचना में आत्म मंथन करते हुए कवि ने प्रश्नात्मक शैली में अपनी विवशता को स्वीकार किया है –

---

१. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा, पृ0सं0 ११२

२. जीवनगीत, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', भूमिका अंश से उद्धृत

३. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ0सं0 ६३

अब्दों शब्दों की आय कहाँ ? तुम नग्न रहे तन पर न झगा।[1]

तभी कवि को ज्ञात होता है कि कोई सिद्ध पुरुष सांसारिक जाल में पड़े मोहभ्रमित जीव (कवि) से कह रहा है –

'तुम जिस्म के खुशरंक लिबासों पे हो ना जा
मैं रूह को मुहताजे कफ़न देख रहा हूँ।'[2]

मान मर्षण –

कविवर सोम ने विरह की इस भूमिका का भी विवेचन किया है। कवि के शब्दों में –

है सुना, पढ़ा, सोचा, समझा, तुम सुनते दीनों की पुकार।
है कौन दीन मुझसे बढ़कर, सुन लो प्रभु मेरी भी गुहार।।[3]

भयदर्शना –

विनय की सप्तभूमिकाओं में कविवर सोम ने अपनी आत्माभिव्यंजना को बड़ी कुशलता से अभिव्यक्त किया है। भक्त को भय की अनुभूति होती है क्योंकि वह जागतिक वास्तविकता से परिचित हो जाता है और तभी वह आवेग में कह उठता है –

'कैसा अनभ्र यह वज्रपात
सब हटे–हटे सब खिंचे–खिंचे, कोई न प्रेमयुत करे बात।।'[4]

'भागवती आभा' के कुछ गीतों में गोस्वामी जी की विनय पत्रिका शैली का ध्यान हो जाता है। उदाहरण के लिये –

'संकट–हरन, मंगल–करन, मेरे देव तुम सुख–सदन।
काटो क्लेश, हे सर्वेश, ध्वान्त दिनेश, प्रभु, विभुवेश।।'[5]

---

१. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ६३
२. एवं ३. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १११
४. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १६२
५. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १०६

भर्त्सना –

'देही! देह गेह ते न्यारे।
बनि ठनि घूमे, गज सम झूमे, जन–जन हेय निहारे।।'[1]

आश्वासन –

'प्रिय सोम! भक्ति भावित उर ले, तुम ज्ञान–कर्म में निरत रहो।
देगा मन को आहार–ज्ञान, मन पोषण से विकसित होगा।।
विकसित मन से पावन कृतियाँ, कृतियों से यश विस्तृत होगा।।
यश श्वेत, सत्व भी श्वेत, सत्व की धवल धार के साथ बहो।।'[2]

एक अन्य स्थान पर भी कवि ने आश्वासन के गीत गाये हैं –

'जगत जननी का वक्ष विशाल
दुग्ध पी रहे बाल गोपाल।'[3]

मनोराज्य –

'छूटे तन माँ की गोद मिले, विस्तृत निर्बाध प्रमोद मिले।
ज्योतिर्मय लोकों में विचरूँ सात्विकता जिनमें दुर्निवार।।'[4]

विचारणा –

कवि ने इस अन्तिम विनय की भूमिका में सृष्टि के रहस्य, ब्रह्म की सत्ता आदि की सारवत्ता को समझा है। उसी के संदर्भ में कवि की इन पंक्तियों में वही रहस्यमयता का भाव विद्यमान है –

---

१. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ६८
२. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १००
३. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ४०
४. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ६५

"कैसा रहस्यमय जग जीवन
ब्रह्माण्ड पिण्ड के यन्त्र जटिल, कैसे समझें समझावें मन ?
कुछ कहते इस को परम तत्त्व, सत्ता–वत्ता से अतिक्रान्त।
कुछ कहते जग–जीवन में ही, वह रमा हुआ है प्रभु प्रशान्त।।"[१]

कवि विनय की सप्त भूमिकाओं के बीच अहं कृति से, जहाँ शान्ति का नाम नहीं, क्लान्ति का साम्राज्य है, निष्कृति का आकांक्षी है। कवि सोम की भक्ति की अनन्यता में भावना की अतिशय प्रबलता है जिसके कारण उनकी कविताओं में देव की विरहिणी की 'मिलिबे की आस' और गुप्त जी की उर्मिला की अवधि सीमा की प्रतीक्षा की भावना भी दृष्टिगोचर होती है। कवि कहता है –

"तेरा सखा अपना सदा बस साथ तेरे ही रहे।
'मैं तेरे ही लिये जीवित रहा' – जन जन कहे।।"[२]

'भागवती आभा' काव्य रचना में कवि की भावना की अतिशयता सर्वत्र व्याप्त है चाहें वह भक्ति का क्षेत्र हो, या विनय का या अपूर्णता से पूर्णता का कवि की भावनामयी वाणी में आस्था निरन्तर दिखाई देती है। प्रख्यात समीक्षक डॉ0 शिव कुमार मिश्र ने 'भागवती आभा' के सन्दर्भ में लिखा है – "कुल मिलाकर, 'भागवती आभा' के कवि की यात्रा अभाव से भाव की ओर, अपूर्णता से पूर्णता की ओर, बंधन से मुक्ति की ओर तथा दुःख, क्लेश और दैन्य निवेदन से मानसिक सुख, संतोष तथा आत्मसमृद्धि की ओर है। भक्त आराध्य से जो चाह रहा था, उसे प्राप्त कर वह धन्य है।"[३]

(ख) काव्यानुभूति –

काव्यानुभूति से आशय कवि की अनुभूति से है। अनुभूति ही साहित्य का केन्द्रीय तत्व है। अन्य शब्दों में काव्य की सम्पूर्ण विविधता के भीतर एकात्म्य स्थापित करने

---

१. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ0सं0 ४८ – ४६
२. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ0सं0 १८७
३. आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', साधना और सर्जना (अभिनन्दन ग्रन्थ), 'भागवती आभा, एक आस्थापूर्ण काव्य, लेखक डॉ0 शिवकुमार मिश्र, पृ0सं0 १५७

वाली यही अनुभूति शक्ति है। श्रेष्ठ कवि या कालजयी साहित्यकार अपनी अनुभूति को व्यापकत्व प्रदान करता हुआ उसे प्रभावोत्पादक एवं सहज संवेद्य बनाने का प्रयास करता है। छायावाद के मूर्द्धन्य समीक्षक आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी ने अनुभूति में निम्नलिखित तत्वों का योग आवश्यक माना है –

(क) वह वस्तु जो अनुभव का विषय है।

(ख) विषयी या आत्मा जो अनुभव करती है।

(ग) विषय या विषयी के संघात से उत्पन्न अनुभव या सम्वेदना।[1]

यह अनुभव या सम्वेदन ही अपनी उच्चतर स्थिति में काव्यानुभूति की संज्ञा ग्रहण करता है। व्यक्ति या वस्तु–भेद के कारण सामान्य अनुभूति में असंख्य भेदों का होना स्वाभाविक है। "परन्तु काव्यानुभूति अत्यन्त उच्चतर स्थिति का अनुभव होने के कारण बहुत कुछ समरस या समरूप हुआ करती है। उसमें देशकाल में अनुसार गतिशीलता का तत्व भी होता है और मानवात्मा की विकासावस्था के अनुरूप उसमें व्यापकता और वैशिष्ट्य की भी मात्रायें रहती हैं।"[2] संक्षेप में समरसता तथा गतिशील मानवीयता काव्यकला में नियोजित कवि की अनुभूति के मूलभूत चरित्र है।

काव्यशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में 'आत्मानुभूति' 'काव्यानुभूति' अथवा 'संवेदना' पर्याय अर्थ में प्रयुक्त किये गये हैं। अस्तु इसमें किसी भी प्रकार से दिग्भ्रम की आवश्यकता नहीं है। अंग्रेजी कवि वर्डसवर्थ कविता में जब सहज भाव उच्छलन की चर्चा करते हैं तो काव्य सृष्टि के समय कवि के मानस में प्रस्तुत विषय की स्थापना को लेकर अनेक प्रकार की अनुभूतियों का जन्म होता है परन्तु सुचिन्तित रचना के क्षणों में वह सभी कृत्रिम अनुभूतियाँ समाप्त हो जाती हैं। कवि रचना के क्षणों में अनुभूति, स्मृति एवं कल्पना का आश्रय लेता है। आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम' ने भी 'काव्यानुभूति' को स्पष्ट करते हुए अपने प्रसिद्ध ग्रंथ साहित्य शास्त्र में लिखा है ''कवि की अनुभूति उसके सीमित व्यक्तित्व से निकलकर विश्वमानस की अनुभूति के साथ एक हो जाती है। अनुभूति के इन क्षणों

---

१. नया साहित्य : नये प्रश्न, आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी, पृ०सं० १४७
२. तदैव, पृ०सं० १४८

में कवि का मन समस्त वैयक्तिक उत्सर्गों से शून्य अपने विशुद्ध रूप में रमण करता है। उसकी अनुभूति इसीलिये व्यापक, सर्वसहृदयानुवेद्य होती है।"[1]

काव्यानुभूति के विविध आयाम –

विरहिणी की भाँति अपने मुक्तक काव्यों में आचार्य जी ने अनुभूति के विविध क्षेत्रों का संस्पर्श किया है। 'भागवती आभा' एवं 'सोमसुधा' में भावनाओं के विविध रंग कवि ने भरे हैं, 'सोमसुधा' श्री सोम की विविध अवसरों पर रचित कविताओं का संग्रह है। इसमें कहीं कवि की राष्ट्रीय भावना मुखरित है, तो कहीं जातीय महापुरूषों पर आन्तरिक उद्गारों की अभिव्यक्ति है। सामाजिक विषमता के स्वरों को भी कवि ने 'भागवती आभा' काव्य संग्रह में स्थान दिया है। वस्तुतः कवि ने वादों के विवाद से दूर रहकर अपनी अनुभूति को सहज सरल वाणी प्रदान की है।

(१) स्वदेशानुराग एवं राष्ट्रीयता की सबल अभिव्यक्ति –

'सोमसुधा' काव्य संग्रह में कवि ने राष्ट्रीयता की स्वस्थ अभिव्यक्ति की है। स्वदेशानुराग और स्वातंत्र्य की कामना इन कविताओं का मूल स्वर है। कवि की धर्मनिष्ठ प्रकृति द्विवेदी युगीन काव्य पद्धति के अधिक समीप है। राष्ट्रीयता को भी कवि ने राष्ट्रवाद के रूप में ग्रहण न करके उदार स्वस्थ राष्ट्रभावना के रूप में स्वीकार किया है इतिवृत्तात्मक वस्तु वर्णन और उपदेशात्मकता के मध्य हृदय को छू लेने वाली उदात्त भावुकता और वाणी की अलंकृत रमणीयता भी स्थल–स्थल पर प्राप्त होती है। "राष्ट्रीय काव्यकृतियों में कवि हृदय ने स्वातंत्र्य प्राप्ति के पूर्व कहीं तो बालकों तथा तरूणों का आवाहन–उद्बोधन करते हुए उन्हें चमकते भाल से मां की खाली झोली में किरणजाल विकीर्ण करने, मंगलगीत सुनाने, बलवान बनकर मां की लाज की रक्षा करने, उसे पुनः ताज पहनाने, यशस्वी होकर नाम कमाने, दासता की श्रृंखला तोड़ने, अत्याचारों का नाश करने, विघ्न–व्यूह प्रत्यूह ध्वस्त कर पाप–शाप के पाश काटने और संजीवन घोलने, बलिदानों की वह्नि जलाने, मर कर अमर भूमि भारत का भव्य भविष्य बनाने, मुक्ति–घटिका

---

१. साहित्य शास्त्र, आचार्य मुंशी राम शर्मा सोम, पृ०सं० १५

को निकट लाने और समरता की पुण्य पताका व्योम बीच फहराने की प्रेरणा दी है।"[1] कवि की प्रबल आकांक्षा है कि स्वातंत्र्य ज्योति निरन्तर जगमगाती रहे। प्रिय स्वदेश के हित–साधन में प्राण बलिदान के लिये वह प्रस्तुत है। स्वातंत्र्य पथ के पथिकों को सावधान करने तथा संकटों को सहने और प्रलोभनों को वश में करने की शिक्षा कवि देता है। १६२४ से ही कवि इस वरदान का आकांक्षी रहा है –

"चाहे जहाँ रहें पर हमको हो भारत का ध्यान।
सुने सदा ही निज कानों से सुख–स्वराज्य की तान।
भरा हुआ हो अंग–अंग में, भारत–गौरव मान।
उसकी रक्षा में हम कर दें अपर्ण अपनी जान।
मरें भस्म भी गावे प्यारा हिन्दुस्तान।
कण–कण से 'स्वतंत्र भारत' की निकले मीठी तान।।"[2]

(विनय–१६२४)

श्री सोम की राष्ट्रीय रचनाओं के परिशीलन से यह ज्ञात होता है कि तरुणावस्था में उसके हृदय में राष्ट्रीय चेतना की तीव्र ज्वाला धधकती रही है। आँग्ल साम्राज्यवाद के अन्याय और शोषण को समाप्त करने के लिये उसका अन्तःकरण निरन्तर व्यग्र रहा है। राष्ट्र कल्याण के लिये संघर्ष और कर्मक्षेत्र में प्रविष्ट करने की ओजस्विनी प्रेरणा उनकी राष्ट्रीय कविताओं में परिलक्षित होती है। सत्य, शिव और सौन्दर्य के इस पुजारी ने कर्मण्यता और वीरता का भव्य सन्देश दिया है। कवि की उत्कट देशानुराग की अभिव्यक्ति 'विनय','मेरे देश','अखंडभारत','राजस्थान','नेपाल' आदि कविताओं में दृष्टिगोचर होती है। वह अखंड भारत का उपासक होकर कहता है –

'गूँज उठे ध्वनि हृदय–हृदय में, सबका यही अटल निश्चय हो,
यह जल जाये, वह मिट जाये, पर अखंड भारत की जय हो।'[3]

---

१. आचार्य पंडित मुंशी राम शर्मा 'सोम' (अभिनन्दन ग्रन्थ), 'सोम सुधा पर एक दृष्टि' निबन्ध – लेखक डॉ0 प्रेम प्रकाश गौतम, पृ0सं0 २०८
२. सोम सुधा – आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ0सं0 ६६
३. सोम सुधा – आचार्य पंडित मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ0सं0 ५३

कवि युगचेता, युगजीवी और अपने सामाजिक कर्तव्य के प्रति आस्थावान ही नहीं वरन् देश का सच्चा उपासक एवं राष्ट्र प्रेमी भी है। वह स्वतंत्रता की देवी को भावों से भरकर कहता है –

'हाय! अभागा भारत ही फिर क्यों तेरा मुहताज रहा।
देवि! शीघ्र दर्शन दो आओ पाश दासता के काटो।।'[1]

श्री सोम की राष्ट्रीय रचनाओं के परिशीलन से यह ज्ञात होता है कि तरुणावस्था में उनके ह्दय में राष्ट्र चेतना की तीव्र ज्वाला ज्वाजल्यमान रही और वह जीवन के अन्त तक बनी रही। अन्याय और अत्याचार को भस्म करने के लिये उसका अन्तःकरण जलता रहा। कवि के देशानुराग की अभियक्ति उनकी 'मेरे देश','अखंड भारत','राजस्थान','नेपाल' आदि रचनाओं में देखी जा सकती है। वह अखंड भारत का उपासक है। विषयवस्तु, भाषावेग, अभिव्यक्ति एवं लालित्य आदि सभी दृष्टियों से यह एक उत्कृष्ट रचना है। राष्ट्र प्रेम और आत्मगौरव की सफल अभिव्यक्ति इन पंक्तियों में देखी जा सकती है –

"हम अजेय, हम अविच्छेद्य हैं कौन हमें टुकड़ों में बाँटे ?
हमने एक बनाया जग को, हमने सातों सागर पाटे।
आये थे वे लुप्त हो गये, आज परखना चाहो परखो,
हमने दिया स्वरूप विश्व को उसका अनमिल सत्ता स्वर खो।
हमने तुम जैसे झंझानिल झेले हैं अनेक निर्भय हो।
यह जल जाये, वह मिट जाये, पर अखंड भारत की जय हो।"[2]

इसी कविता में आगे कवि अपनी आस्थामयी दृष्टि रखकर कहता है –

"अवयव सब विशाल भारत के, एक रहें फिर एक बनेंगे।
हम अखंड अविभाज्य एक हैं, कौन हमें दो–तीन गिनेंगे ?
मेरी भाषा, मेरी संस्कृति, मेरा भाव कोष अक्षय हो।
यह जल जाये, वह मिट जाये, पर आखंड भारत की जय हो।"[3]

---

१. सोम सुधा – आचार्य पंडित मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० २२
२. एवं ३. सोम सुधा – आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ४३

स्वदेश, स्वभाषा और स्वसंस्कृति के प्रति कैसी पवित्र और अगाध आस्था उपर्युक्त पंक्तियों में दिग्दर्शित हुयी है। 'विदिशा','राजस्थान','नेपाल' पर लिखी कवितायें भी पर्याप्त प्रभावपूर्ण और मर्मस्पर्शिनी हैं। कवि का उत्कट देशानुराग भारत भूमि के प्रति उसका गम्भीर अभिनिवेश और प्रांजल पूज्य भाव 'भारत भू मन माँहि बसी रहै', 'भारतमाता' और 'जयभारत' आदि अनेक रचनाओं में प्रकट है। इसी प्रकार 'भागवती आभा' की अधिकांश रचनाओं में राष्ट्रीयता की अनुगूँज विद्यमान है। 'यह देश तत्वदर्शी ऋषियों का', 'है उजड़ रहा उर्वर प्रदेश', 'जागो, मेरे चेतन जागो', 'उठो जागो, चलो', 'निज मानवता पाती रहे मान' आदि कविताओं में राष्ट्रीय भावना और देशप्रेम पर्याप्त दिखाई देता है। 'यह देश तत्वदर्शी ऋषियों का' कविता में इसी प्रकार की देशानुराग की भावना कवि ने प्रस्तुत की है –

"जीवन जगती का सार सुलभ सबको किया।
जीवन–क्रम का भी पाठ प्रथम सबको दिया।।
यह देश विश्व गुरू रहा ज्ञान–विज्ञान में।
पर्वत–शिखरों से उच्च विचार–प्रदान में।।"[१]

इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर कवि की आस्थामयी जीवन दृष्टि का परिचय मिलता है –

"पर प्रेम–मूल विश्वास बिना जीवन है नीरस, मलिनम्लान।
तुम करो समन्वय, सार्थक हो जीवन का यह उद्गीथ–गान।।"[२]

(१) महामहिम व्यक्तित्वों के पावन चरित्र का गुणगान –

कवि सोम ने अपनी रचनाओं में महामहिम व्यक्तित्वों के पावन चरित्रों का गुणगान भी किया है। स्वयं भी कवि क्रान्तिकारी रहा है। उनके सरल और सौम्य व्यक्तित्व के पीछे एक प्रलयंकारी व्यक्तित्व भी है, इसका परिचय प्राप्त करना प्रायः दुष्कर कार्य रहा है। इस संदर्भ में प्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्री सुरेन्द्र नाथ पाण्डेय ने 'क्रान्तिकारी पंडित मुंशी

---

१. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ0सं0 १२६
२. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ0सं0 १३७

राम शर्मा सोम' शीर्षक के अन्तर्गत लिखा है, "इस संसार में जो कुछ जैसा दिखाई देता है, वास्तव में वह वैसा नहीं है। पंडित मुंशीराम शर्मा के मूर्तिमान मृदुतामय स्वरूप के नीचे के प्रज्ज्वलित प्रलयंकारी चरित्र का पता कितनों को है ? हम कुछ क्रान्तिकारी ही उससे परिचित हैं, क्योंकि हमारा कार्य ही था उनकी खोज जो सरलता और माधुर्य का आवरण रखते हुये भी उस हलाहल से निर्मित थे जिसकी रक्तिम बूँद ही दानवीय ब्रिटिश साम्राज्य को भस्म करने में समर्थ थी। उनकी मृदुता और सौम्यता का ही फल है कि हमारे क्रान्तिकारी दल 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसियेशन' के प्रोफेसर मुंशीराम शर्मा एक क्रियात्मक सदस्य रहे हैं। इने–गिने दो–चार व्यक्तियों को ही इसका पता चल पाया और डी० ए० वी० कालेज क्रान्तिदल का गढ़ बना रहा।"[1]

कविवर सोम स्वयं भी क्रान्तिकारी रहे और उन्होंने अपने काव्यसंकलनों में वीर चरितों पर, ओजस्वितापूर्ण श्लाघनीय भावों से युक्त कवितायें प्रस्तुत की हैं।[2] सोम सुधा काव्य संकलन के चरित खण्ड में कवि ने भीम, अर्जुन, प्रताप और शिवाजी आदि भारतीय वीरों तथा श्री दयानन्द, श्रृद्धानन्द, महात्मा हंसराज जैसे सांस्कृतिक उन्नायकों, सूर, तुलसी, रवीन्द्र, मैथिलीशरण गुप्त जैसे शीर्षस्थ कवियों एवं साहित्यकारों, लाला लाजपतराय, तिलक, मालवीय जी, गाँधी जी, सावरकर, नेहरू जैसे राष्ट्र कर्णधारों, श्री श्याम सुन्दर दास जैसे हिन्दी के साधक और राम प्रसाद बिस्मिल, चन्द्रशेखर आजाद, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' जैसे देशसेवकों पर भावभीनी भावांजलि प्रस्तुत की है। कवि ने अपनी इन कविताओं में स्वदेश की प्राचीन संस्कृति के गौरव का गान किया है। स्वदेश की भौगोलिक सुन्दरता, सांस्कृतिक समृद्धता एवं ज्ञान सम्पन्नता पर कवि मुग्ध है। कवि ने जिन उपर्युक्त युद्धवीर, नेतृत्ववीर, धर्मवीर आदि विभूतियों पर लेखनी चलाई है, इसका एकमात्र कारण यही है कि नैराश्यपूर्ण वातावरण में कोई आधार न पाकर उन्हीं वीरों की स्मृति में अपने पतन का उपचार खोजता है और अपने युग की तरुणाई में उन वरेण्य वीरों की जाज्वल्यमान जीवन–ज्योति के दर्शन की आकांक्षा करता है –

---

१. आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', साधना और सर्जना (अभिनन्दन ग्रन्थ), सम्पादक द्वय – डॉ० प्रेम नारायण शुक्ल एवं डॉ० त्रिपाठी, पृ०सं० १६५

२. 'गांधी सुभाष वीरोऽपि तिलकः नेहरूः सुधीः। कृत कर्म गताः स्वर्ग देशभक्ताः यशस्विनः', सोम स्तोत्र सुधा, पृ०सं० १८६

"दासता की तोड़े श्रृंखला, करें अत्याचारों का नाश।
ध्वस्तकर विघ्न–व्यूह–प्रत्यूह, काट दें पाप–शाप के पाश।।
खोजता हूँ मैं ऐसे युवक, चतुर्दिक चक्षु प्रसार–प्रसार।
दिखाई दे प्रतिबिम्बित जहाँ चन्द्र, विक्रम, पृथु भरत कुमार।।
शिवा की लगन, गुरू की आन, जहाँ पर हो प्रताप की टेक।
भगत, शेखर का सा तप–त्याग, तिलक–नाना सा बुद्धि विवेक।।"[1]

कवि स्वातंत्र्य पथ के पथिक को सावधान करता हुआ कहता है कि स्वतंत्रता का पथ तमसावृत्त है। मार्ग में अनेक आपदायें और विषम विपदायें हैं। समक्ष शत्रुसेन युद्ध–रद्द–पान करने के लिये सज्जित सन्नद्ध खड़ी हैं, किन्तु कवि के सिद्धान्त के अनुसार स्वातंत्र्य पथ के पथिक को युद्ध, क्रोध, घृणा आदि पाशविक वृत्तियों से दिग्भ्रमित न होकर आत्मिक शक्ति एवं सहनशीलता द्वारा मातृभूमि को पराधीनता से मुक्ति दिलानी है। कवि के शब्दों में –

"नहीं, मुझे पथ तय करना है, कैसी घृणित युद्ध की बात ?
कैसा क्रोध ? घृणा कैसी है, कैसा घात और प्रतिघात ?
'मानव मानव के शोणित का प्यासा है' ऐसा सिद्धान्त –
पाशव–वृत्ति–कोश में होगा, अनुयायी होंगे पथ भ्रान्त।।
सत्य न्याय की बलिवेदी पर अर्पण कर दूँगा निज प्राण।
मेरी बलि से मातृभूमि का पराधीनता से ही त्राण।।"[2]

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि पूर्गरूपेण अहिंसावादी प्रतीत होता है। किन्तु कालान्तर में कवि को विदेशी शक्तियों से जूझता असम्भव सा लगता है। फलस्वरूप अहिंसात्मक साधनों पर उसकी आस्था समाप्त होने लगती है। अतः देशभक्त जब विद्रोहात्मक वाणी में क्रान्ति को निमंत्रण देने लगते हैं तो कवि सोम की वाणी पूर्ण ओजस्विता के साथ विप्लववादी देशभक्तों का स्वागत और समर्थन करने लगी –

---

१. सोम सुधा – आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ५६
२. सोम सुधा – आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ६७

"ध्वंस होगा अन्याय का तुरन्त, शीघ्र होगा पापों का नाश।
न्याय का दिनकर होगा उदय, करेगा सुख का मुक्त प्रकाश।।"[1]

(२) सामाजिक मंगल का आकांक्षी –

कवि की काव्यानुभूति नाना रूपों में प्रकट हुई है। कवि सामाजिक मंगल का सदैव आकांक्षी रहा है। यद्यपि स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व की भावना का उद्घोष साम्यवादियों की देन है किन्तु सामाजिक सर्वोदय के लिये हित–सहित सत्य का प्रसार कवि की वाणी द्वारा होना चाहिए। कवि सोम के शब्दों में –

"हित सहित सत्य का हो प्रसार, मेरी कल्याणी वाणी से।
मेरा सम मन, सम हृदय, रहे भूतल के प्राणी प्राणी से।।"[2]

कवि को आस्था है कि कभी न कभी वर्ग–विहीन समाज की स्थापना होगी और राजा–प्रजा, श्रमी एवं पूँजीपति, सेवक और स्वामी सहयोगी बनकर मानवता के विकास में सहायक सिद्ध होंगे। यहाँ कवि का सिद्धान्त मार्क्सवादी विचारधारा का पोषक है किन्तु सैद्धान्तिक रूप से कवि सोम उस विचारधारा के प्रति आस्थावान नहीं रहे हैं वे मूलतः वैदिक साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान हैं कवि कहता है –

"कब ऐसे शीतल मंगल क्षण अपने जीवन में आवेंगे ?
सुधा सिक्त वसुधा पर वसुमय दिव्य अमोघ वास पावेंगे।
राजा–प्रजा, श्रमी, पूंजीपति, सेवक स्वामी सब सहयोगी।
स्वस्ति पताका फहरावेंगे, मानवता की जय ध्वनि होगी।।"[3]

कवि प्रारम्भ से ही सामाजिक मंगल का आकांक्षी रहा है। 'कला जीवन के लिये है' इस सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कवि सोम ने व्यक्तिवाद के सम्बन्ध में लिखा है–

---

१. सोम सुधा – आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ६१
२. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ५५
३. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १३५

"व्यक्तिवाद के साथ विषैले वर्गवाद की छाया।

नीच नरों ने स्वार्थ–सिद्धि का साधन इसे बनाया।।"[1]

इसके साथ ही कवि आगे लिखता है –

"मानव मानव की समानता मानवता सम्मानी।

वर्गवाद विद्रोह–विकारी दाह–दैन्य का दानी।।

मानवता का नाता सबको ऊपर उठा सकेगा।

आर्य अमृत–प्रभु–पुत्र दस्यु की दृढ़ता से न रुकेगा।।"[2]

आज धर्म, जाति, भाषा और प्रादेशिकता ने हमारे ह्रदय को संकीर्ण बना दिया है। कवि ने लिखा है –

"है भिन्न धर्मा भिन्न कर्मा भिन्न भाषा–संभ्रमी

मिलकर चलें परिवार जन–सम, स्नेहयुत शमदम क्षमी"[3]

कवि समाज के प्रत्येक भाग में आदर्श जीवन धारा का अबाध वेग देखने का आकांक्षी रहा है –

'आज्ञा–परायण पुत्र हों, हों धर्म–धृत माता–पिता,

पति–प्रेम–युत जाया रहे, व्यवहार–मध्य अगर्विता।।

सद्भाव–पूरित हों स्वजन, सदबन्धुता हो वन्दिता।।

सत्कीर्ति– श्री घर–घर मिले, सद्वृत्त– सद्गुण अर्जिता।।'[4]

'सोम स्तोत्र सुधा' काव्य संकलन में भी कवि सोम ने भारत की दयनीय स्थिति पर गम्भीरता से विचार व्यक्त किये हैं –

---

१. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ0सं0 १२७

२. तदैव

३. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ0सं0 ११३

४. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ0सं0 ११४

"मर्यादा त्रुटिता च धर्म विकृतं वैभव्यहीना धरा।
संत्रस्त जनमानसं विकलता सर्वत्र संहरयते।।"[1]

इसी पुस्तक में कवि ने देश के लिये मंगल कामना की है कि सत्य सर्वदा बना रहे और परस्पर रागद्वेष के भाव समाप्त हो जायें। कवि की यह कामना कितनी निश्छल है –

"हृदय स्पर्शि याचना सत्या भवति सर्वदा।
कामाश्च सफला सर्वे रागद्वेष विवर्जिताः।।
हृदयं भावभूमिश्च, शुद्ध भावैः समन्वयः।
दुर्भाव रहिताः पूताः पवमान प्रणोदिताः।।"[2]

'सोमसुधा' काव्य संकलन में भी कवि का यह संदेश उपेक्षणीय नहीं है –

'बन के उदार अपना लो श्रमसाधकों को
इनके ही आश्रय में संस्कृति रहेगी शुद्ध।'[3]

(३) मानवता के प्रति अगाध विश्वास –

कवि सोम को मानवता के प्रति अगाध आस्था एवं विश्वास है। स्वाधीनता आन्दोलन काल में प्रचारात्मक दृष्टि से निर्मित हिन्दी का स्थूल साहित्य शुद्ध या शाश्वत साहित्य के अन्तर्गत नहीं आता। उसका ऐतिहासिक महत्व होते हुए भी आज की परिवर्तित परिस्थितियों में कोई विशेष महत्व नहीं है, किन्तु हिन्दी में राष्ट्रीय काव्य परम्परा का अधिकांश साहित्य शुद्ध साहित्य ही है जिसका आधार व्यापक एवं मानवीय है। दिनकर, प्रसाद, निराला, सोहन लाल द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त आदि की राष्ट्रीय कवितायें शुद्ध साहित्यिक एवं मानवीय भूमियों पर आधारित हैं और सार्वकालिक एवं सार्वजनीन होने के कारण साहित्य की अक्षय सम्पत्ति हैं। इसी प्रकार

---

१. सोम स्तोत्र सुधा – आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १७४
२. सोम स्तोत्र सुधा – आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १८४
३. सोम सुधा – आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ४५

कविवर 'सोम' की अधिकांश राष्ट्रवादी कवितायें शुद्ध साहित्य की श्रेणी में आती हैं। उनमें भाव विचार की उच्चता एवं शैली शिल्प की उत्तमता सर्वत्र परिलक्षित होती है। वे आज भी उतनी ही सार्थक हैं। मानवीय आस्था से सम्बन्धित कवितायें 'सोमसुधा', 'भागवती आभा', 'सोमस्तोत्र सुधा', 'जीवनगीत' आदि काव्य संग्रहों में सर्वत्र दिखाई देती हैं। 'भागवती आभा' काव्य संकलन की निम्नलिखित पंक्तियाँ मानव में आस्था एवं जीवन के प्रति विश्वास जागृत करने में कितनी सक्षम हैं –

'तुम भाव सिद्धि के साधन बन, उपलब्ध करो मनभावन को
भावों के निर्झर झर–झर कर भर देंगे कामद–कानन को।
है भाव–मूल अनुकूल कूल – फल फूल रही मधु फुलवारी।
भावुक बन पकड़ो मूल–चूल पल रही जहाँ संसृति सारी।।'[1]

इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर कवि ने मानव में विश्वास जाग्रत करते हुए यह तर्क उपस्थित किया है कि उसके अन्तर्गत सभी शक्तियाँ स्वयं विद्यमान हैं और उसके द्वारा अपनी शक्ति एवं कर्तव्यपरायणता से वह मानव की विकास यात्रा में विशिष्ट योगदान दे सकेगा –

"मानवता पाती रहे मान।
मानव! तेरा यह सहज रूप, तू बन विराट, तू बन महान।
सर्वज्ञ देव तेरे भीतर भर रहे शक्ति, दे रहे ज्ञान।
तू बन विनीत, कर ग्रहण इन्हें, होगा इनसे ही नवोत्थान।।
निज ज्ञान शक्ति का सदुपयोग कर देगा उज्ज्वल विधि–विधान।
कर्तव्य–परायणता में तू रह जागरूक, रह यत्नवान।।
व्यक्तित्व सुभग, परिवार सुभग, होगा समाज सुषमा–निधान।
मन्जुल मानवता का विकास देगा वसुधा को दीप्तिदान।।"[2]

इसी प्रकार 'सोम स्तोत्र सुधा' में कवि ने मानवता के प्रति अगाध विश्वास करते

---

१. भागवती आभा, आचार्य पंडित मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १३२
२. भागवती आभा, आचार्य पंडित मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १३६

हुए उसकी मंगल कामना करते हुए लिखा है –

'दुग्धेन घृत मिष्ठान्नैः पुत्र पौत्र विवर्धनी,
पुष्कलं धन धान्येन सौख्य वर्षी 'गृहे गृहे।'[1]

इसी संदर्भ में कवि ने 'सोमसुधा' के विविध शीर्षक खण्ड में 'कृषक', 'मानवता', 'मजदूर', 'विधाता का विधान' आदि कविताओं के अन्तर्गत किसानों मजदूरों (विशेषकर कानपुर की मलिन यांत्रिक व्यस्तता में मग्न श्रमिकों) पराभूत मानवों तथा उत्पीड़ित श्रम साधकों के प्रति अपनी संवेदना की सहज अभिव्यक्ति के साथ उनकी दयनीय स्थिति का मार्मिक उद्घाटन किया है। कवि की निम्नलिखित पंक्तियाँ श्रम जीवियों की तत्कालीन दयनीय दुरवस्था को कितने संवेदनशील रूप में प्रस्तुत करती हैं –

'स्वामी थे किसान वे ही सेवक बने हैं आज।
पीड़ित क्षुधा से युवराज – बाल वारे हैं।।'[2]

कवि सोम कवि को विवेक युक्त युग का प्रतिनिधि मानते हैं। कवि का उद्बोधन है –

'कवि फूँको स्वर हृदय–हृदय में लगे अचल वीरों का मेला।
सदियों से शोषित जन–जन के तनमन बन्धन खोलो।।'[3]

'भागवती आभा' की निम्नलिखित पंक्तियाँ भी पीड़ित मानवता के प्रति कवि की संवेदनशीलता की परिचायिका हैं –

'कैसा कोलाहल मचा हुआ, कैसा अशान्त मानव समाज।
स्वामी सेवक संघर्ष निरत, विक्षुब्ध प्रजा राजाधिराज।।'[4]

---

१. सोम स्तोत्र सुधा – आचार्य शर्मा, पृ०सं० १८४
२. सोम सुधा – आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ६६
३. सोम सुधा – आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ५७
४. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १२१

(४) क्रान्ति का उद्घोषक –

कवि सोम ने अपनी रचनाओं में आमूल क्रान्ति की भी उद्घोषणा की है। सोम उस समय के कवि हैं जब भारत स्वतंत्र नहीं हुआ था इसीलिये उन्होंने विदेशियों के अत्याचार से मुक्ति पाने के लिये क्रान्ति की आवश्यकता पर बल दिया है।

कवि का भाव जगत बड़ी आकुलता के साथ भारत माँ को स्वतंत्र देखना चाहता है। आशाओं के अपने केन्द्र युवा वर्ग में वह बड़े ही प्रेरक शब्दों में उत्साह–संचार करने का प्रयत्न करता है –

'पहन लो विकट त्याग का वर्म,
हथेली पर प्राणों की कर्म
यही है आज तुम्हारा धर्म।
खेल का खेल, मुक्ति का मर्म
पुनः पहिना दो माँ को ताज
खेल क्या खेलोगे तुम आज।'[1]

एक अन्य स्थल पर कवि आमूल क्रान्ति की आकांक्षा करता हुआ कहता है –

'आ, अशान्ति! तू अन्तस्तल में उथल–पुथल पैदा कर दे।
उस निर्जीव कलेवर में तू प्राणमयी विद्युत भर दे।
हो गतिशील, चले पथ पर, जो किंकर्तव्यविमूढ़ बना।
सम्मुख युद्धस्थल में डट जावें, बन जावें क्रान्तिमना।।'[2]

कवि का विश्वास है कि महाक्रान्ति की ज्वाला में समस्त विषमतायें और विकृतियाँ जल कर भस्म हो जायेंगी और उसके बाद संवेदना और सहानुभूति पर आधारित एक नये जीवन क्रम का आरम्भ होगा –

---

१. सोम सुधा – आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ७१
२. सोम सुधा – आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ६६

"महानाश, हाँ वह प्रलयंकर विप्लव की ज्वालाएँ।
धधक उठे, जल जावें जिनमें दुख–दुर्गुण मालाएँ।।
अरे भस्म हो यह दुर्गंधित कूड़ा–करकट सारा।
जिसके ऊपर रहे निरन्तर निर्मल जीवन धारा।।

x x x

विप्लव! तेरी विकट वह्नि में जल चमके कुन्दन से।
आहत, त्रासित, पीड़ित छूटे फौलादी बन्धन से।।"[1]

इसी प्रकार कवि सोवियत रूस को भी आदर और सहानुभूति से देखता रहा है। सन् १६४१ में जब जर्मनी ने अचानक रूस पर आक्रमण किया था तो उसकी सहानुभूति जाग उठी। कवि के शब्दों में –

'वह संधि – भंग था, कलंक वीरता का घोर।
जिससे प्रकटी रक्तस्राव की विभीषिका।'[2]

इस प्रकार कवि सोम की काव्यानुभूति के विविध पक्ष हैं। उनका सम्पूर्ण काव्य अध्यात्म की पीठिका पर आधारित है। मूलतः वे मानवीय आस्था के कवि रहे हैं।

(ग) भक्तिभावना –

सोम के काव्य में भक्ति का अबाध प्रवाह देखने को मिलता है। वे वैदिक साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान हैं। वैदिक साहित्य के गम्भीर अध्येता आचार्य सोम वेद प्रतिपाद्य कर्मवाद की अनिवार्यता स्वीकार करते हुए भी सूर के माध्यम से भाव प्रधान भक्ति क्षेत्र को ही अपना गन्तव्य मानते हैं। आचार्य प्रवर एवं कवि सोम अपने सम्बन्ध में 'मेरा जीवन प्रवाह' शीर्षक निबन्ध में लिखते हैं – "भक्तिभवानी के अनुग्रह का भाजन भी मैं बन सका, इसे प्रभु का प्रसाद कहिये या जन्मजन्मान्तर से प्राप्त संस्कार। भक्तिभाव मेरे सभी कार्यों में प्रेरक रहा है। छोटा था, तब भी याद है, स्नान करके ग्राम

---

१. सोम सुधा – आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ७५
२. सोम सुधा – आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ८७

देवता तथा पथवारी देवी पर जल चढ़ाया करता था। महर्षि दयानन्द के जीवन तथा ग्रन्थों से सच्चे शिव की ओर चला और 'भक्तितरंगिणी' तथा 'भागवती आभा' द्वारा प्रभु का गुण कीर्तन करके भी आश्वस्त हुआ।"[१]

'श्रुति संगीतिका', 'भक्तितरंगिणी', 'भागवती आभा' आदि काव्यग्रंथों में उनकी भक्तिभावना के दर्शन होते हैं। मूलतः वे वैदिक साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान हैं। "आचार्य शर्मा में आर्य समाजी नैतिक शुचिता और वैष्णवीय भाव प्रवणता का सुखद सम्मिश्रण है। वैदिक कल्पना के श्रेष्ठ मानवीय गुणों का वे सविग्रह रूप हैं। विनय उनके व्यक्तित्व का आधार है। श्रृद्धा, दृढ़ता और ऋजुता के पयस से उनकी आत्मा को पोषण हुआ है। वे शुद्ध भारतीय प्रजा के मनीषी एवं चिन्तक हैं।"[२]

यदि आचार्य सोम के सम्पूर्ण साहित्य का अवलोकन किया जाय तो यह स्पष्ट है कि वेद उनकी आत्मा के अधिक निकट रहा है। इसलिये उन्होंने अपने काव्य एवं साहित्य में इसी भावना को पल्लवित एवं पुष्पित किया है। तात्पर्य यह है कि वैदिक भक्ति के तीन अंग स्तुति, प्रार्थना, उपासना के साथ भागवत की नवधा भक्ति के सभी अंगों का समावेश करने के लिये गुण, कीर्तन, प्रार्थना, व्याकुलता, साधन और सिद्धि आदि अंगों की परिकल्पना करके अपनी अगाध भक्ति भावना का भी परिचय दिया है।

आचार्य सोम ने अपनी रचनाओं में स्थल–स्थल पर संकेत दिया है कि भौतिक विषमता के निवारण का एकमात्र साधन आध्यात्मिक समरसता है। सोम जी की 'श्रुति संगीतिका' और 'भक्ति तरंगिणी' में आत्मन् एवं परमात्मन् के सम्बन्धों की काव्यात्मक व्याख्या हुई है। 'जीवनगीत' और 'सोम सुधा' में सोम जी ने मानवी चेतना के अनेक रूप उपस्थित किये हैं। प्रबन्ध काव्य के रूप में 'विरहिणी' महाकवि सोम की अन्तिम यात्रा का चरमोत्कर्ष है। यह कृति परम पुरूष, आत्मपुरूष, अवतरण, रचना, विनय, विरह,

---

१. आचार्य पंडित मुंशी राम शर्मा 'सोम', साधना और सर्जना (अभिनन्दन ग्रन्थ), 'मेरा जीवन प्रवाह' – पंडित मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ५२–५३

२. ज्ञानगंगा के भगीरथ : आचार्य सोम (अभिनन्दन ग्रन्थ) डॉ० प्रभुदयाल अग्निहोत्री, पृ०सं० ७१

आश्वासन, साधना, उत्कृमण, दर्शन, स्वर्ग तथा आत्मगीत आदि सर्गो में 'विभक्त' है। यह रचना जीवात्मा तथा परमात्मा के वियोग एवं मिलन में वर्णित अन्तर्द्वन्द्व की विशेषता के कारण विशेष रूप से कलात्मक सौन्दर्य से अभिमंडित है।

सोम की 'भागवती आभा' सोम जी के विनयशील हृदय की विनयपत्रिका है। कवि ने उपासना भाव से प्रभु के समीप बैठकर अपने हृदय की परतों को खोल दिया है। सोम जी ने वैदिक ऋचाओं और मंत्रों का पद्यानुवाद भी विविध प्रकार के छन्दों, गीतों और पद्यों में किया है। मूल मंत्रों के अनुवाद 'सोम' जी की विलक्षण प्रतिभा का संकेत देते हैं। वेद के एक मंत्र का पद्यानुवाद सोम जी ने इस प्रकार किया है –

मूलमंत्र – 'संख्ये त इन्द्र वाजिनो मामेम शवसस्पते
त्वाम मिप्रणोनुमो जेतारम पराजितम्।'

भावानुवाद –

'निखिल बल अधिपति वैभव धाम, मिले तब स्नेह सख्य सुखस्रोत,
बना दे हमको जो धनवान अंग हो बल से ओत प्रोत,
प्रबल से प्रबल शत्रु हो खड़ा, न हों हम किन्तु कभी भयभीत,
प्रणत हो तब पद में सविशेष, सदा से जो जयशील अजीत।'[1]

आचार्य सोम मूलतः वैदिक साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान हैं। उन्होंने जीवन के हर क्षेत्र में वैदिक विचारधारा एवं भक्ति का अनुगमन किया है। वैदिक भक्ति के तीन अंग स्तुति, प्रार्थना एवं उपासना आदि का परिचय भी उनकी भक्तिभावना में दिखाई देता है। 'भागवती आभा' नामक काव्य में वैदिक भक्ति के इन तीन अंगों का विवेचन कवि सोम ने किया है। कवि सोम ने 'सोम स्तोत्र सुधा' में विभिन्न देवी देवताओं की स्तुति की है–

---

१. भक्ति तरंगिणी – आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ३३

'जय अम्बे! हंसवाहिनी! जय अम्बे सिंह साहिनी ।।
जय! ज्ञानकासनी! जय अम्बे शौर्य भासिनी।।
जयतु शिवे! दुर्गे! अम्बे! कुरु कल्याणं जगदम्बे।।
काल करालें! दह दुष्टान्! कुरु सुजनां पुष्टां तुष्टान्।।'[1]

इसी प्रकार 'भागवती आभा' काव्य में भी कवि परमप्रभु की स्तुति करता हुआ कहता है –

'हे दिव्य देव! तुम पूजनीय महनीय तेज से दीप्तिमान'[2]

एक अन्य स्थल पर कवि स्तुति करता हुआ कहता है –

'तुम ज्योति परात्पर परमोत्तम, तुम सत्तम, चित्तम सर्वोत्तम।
तुम महाश्चर्य, तुम उग्रवर्य, तुम सबके धारक महाधृते।।
तुम उषा, तुम मध्याह्न सूर्य, तुम शशि में शीतल प्रभा–पूर्य।
तुमसे प्रकाश पाता प्रकाश, तुम अटल, अचल ध्रुव, स्रोत–सृते।।
तुम मिल रहे सबके समीप, तुम दूर सभी के परम द्वीप।
तुम अनुरंजित अनुराग रूप, वैराग्य धाम, विश्रुत विरते।।'[3]

इसी प्रकार कवि सोम ने उस परम तत्व की प्रार्थना भी की है। कवि सोम मूलतः धार्मिक संस्कारों से युक्त वैदिक साहित्य के विद्वान हैं। इसलिये 'सोम सुधा' और 'भागवती आभा' काव्य संकलनों में उन्होंने उस परमसत्ता के प्रति प्रार्थना रूप में भावनात्मक उद्‌गार व्यक्ति किये हैं –

---

१. सोम स्तोत्र सुधा – आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ७
२. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ११०
३. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ६१

'हे प्राणपते हे प्राणप्रिय, हे प्राणोपम हे प्राणनिधे।
हे प्राणाधार, प्राणपितः हे प्राणरूप, हे प्राणविधे।
हे प्राणेश्वर, हे प्राणनाथ हे प्राण–प्राण परमपावन।
हे प्राणाराध्य, तवांशोऽयम, याचते शरणमशरण साधन।'[१]

एक अन्य स्थल पर भी कवि ईश्वर के प्रति प्रार्थना करता हुआ कहता है –

'नमामि जगदात्मानं नमामि परमं प्रभुम।
नमामि निखिलाधारं, प्राणाय मे नमो नमः।।'[२]

इसी प्रकार 'भागवती आभा' काव्य संकलन में भी कवि ने उस परमतत्व की प्रार्थना की है। एक स्थल पर कवि लिखते हैं –

'खोल दो देव दया का द्वार।
दीन , हीन, तन क्षीण, मलिन – हम डूब रहे मंझधार।
पापों का परिवार पुरातन, सीधा करता वार।
पुण्य पर्व सब पृथक पड़े हैं, हो भयभीत अपार।
जन्म मरण के साथी पहुँचे, सरिता के उस पार।
कोई कान नहीं करता है, कब से रहा पुकार।।'[३]

एक अन्य स्थल पर कवि प्रार्थना करते हुए कहते हैं –

'हे देव! करो उद्धार, पाप परिहार, बचा लो हमको।
कुछ करो प्रेरणादान, बढ़े अभियान हटाता तम को।।
सात्विक साहस–संवलित, साधना–सहित, अचल–चिति–चेरा।
तव चरणों में लवलीन, भक्ति–जल–मीन बने मन मेरा।।'[४]

---

१. सोम स्तोत्र सुधा – आचार्य सोम, पृ०सं० २८
२. तदैव
३. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १३६
४. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १४६

वैदिक भक्ति का तृतीय अंग उपासना है। कवि ने अपनी कविताओ के माध्यम से उस परम तत्व को जानने की कामना की है। कवि के शब्दो मे –

"आ रही धार, बंध रहा तार।
बह कृष्ण सहज आकर्षण से ही खींच रहा गोपिका–प्यार।।
इन्द्रिय इन्द्रिय मन ओर चली, मन–ज्ञान–ध्यान है प्रकृति पार।
तर्कणा–वितर्क यहीं बिखरी, आनन्त मग्न है सद्विचार।।
संस्कार चित्त को दे प्रसाद, प्रज्ञा में भरते ऋत उदार।
संस्कार सहजतम प्रज्ञा के पा गये कृष्ण में निज निरोध।
अब कहाँ क्रोध ? अब कहाँ मोह ? अब कहाँ शोक–व्यापी विरोध।।
नद–नदी–प्रवाही वारि–राशि हो गई सिन्धु पाकर प्रशान्त।
मिल गई ज्योति से ज्योति, दूर है अब आच्छादक मलिन ध्वान्त।।"[१]

एक अन्य स्थल पर कवि श्वास–श्वास में 'ओंकार' शब्द का वास चाहता है –

"ओंकार! बसो तुम इस सूने उर–पुर में।
अविराम जपूं प्रति श्वास–साथ आतुर मैं।
तुम एकमात्र मेरे जीवन आलम्बन।
तुम शरण वृहत, विश्राम–धाम आनन्दन।।"[२]

आचार्य सोम के श्वास–श्वास में वेद चिंतन होता है। इसका प्रमाण है उनका वैदिक बोध, उनके ग्रंथ और उनकी निष्ठापूर्ण दिनचर्या। इनसे भी अधिक पुष्ट प्रमाण है, उनकी निर्लिप्तता का धारावाही चिन्तन। इन्द्रिय बोधी शरीर से वे कर्म, ज्ञान एवं भक्ति में लीन रहते हैं किन्तु वे आत्मा से इनमें लिप्त नहीं हैं। यही तो आत्मा का निर्लेप है। यदि कहीं लिप्तता है तो सोम एवं ओम में। सोम ओम में लिप्त हैं और ओम सोम में। अन्ततः यही तो स्रोत है सोम के चिन्तन का –

---

१. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १५६
२. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १५५

'यदि पठन के साथ चिन्तन भी चले।
श्रवण का साथी मनन–दीप जले।
तो वचन–श्रवणी–क्रिया है फलवती।
मानवी मन भूमि है ज्योतिष्मती।।'[1]

आचार्य सोम की कृतियों के आलोड़न से यह स्पष्ट है कि आपने 'सत्य' की ही साधना की है। साधना के लिये चिन्तन आवश्यक है। चिन्तन की मानसिकता, परिस्थिति, इसका परिवेश एवं उत्स भी आवश्यक है। वेदान्त के अनुसार तो उत्स वेद ब्रह्म हैं। 'ओम' की यह सतत् अनुभूति वेद का मूल है। आचार्य सोम ने इसी को आत्मसात् किया है –

'वह नियम – नियामक नियति नाथ
वह दूर–दूर, वह साथ–साथ,
सब पर जिसका है अभय हाथ
गा, गा उस प्रभु की गेय गाथ।
हों मग्न उसी में सानुराग।।'[2]

श्रीमद्भागवत् में नवधा भक्ति के सम्बन्ध में कहा गया है –

'श्रवणं कीर्तनं विष्णो स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्म निवेदनम्।।'[3]

भक्ति के नौ रूपों में तीन वर्ग दिखाई देते हैं –

(१)	आराध्य के नाम की प्रधानता	–	श्रवण कीर्तन, स्मरण
(२)	रूप की प्रधानता	–	पादसेवन, अर्चन, वन्दन
(३)	भक्त के भाव की प्रधानता	–	दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन।

---

१. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ६६
२. संध्या संगीत, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० २८
३. श्रीमद्भागवत, (७ : ५ : २३)

भक्ति के माधुर्य वात्सल्य, सख्य, दास्य तथा शान्त बताए गये हैं। आचार्य सोम को इनमें दास्य भाव प्रिय है। उनका कथन है कि बिना अनुकम्पा एवं कृपा के सेवक का उद्धार सम्भव नहीं है –

'हे सर्वाश्रय! दे चरणाश्रय!
सब कहते हैं प्रभु अर्पित मैं, भगवती भक्ति से भावित मैं।
पर कहाँ वेदना का अर्पण, चिपटी मुझसे निष्ठुर निर्भय।।'[1]

x x x

'यह पाप–पाश, यह ह्रास–ग्रास।
है निगल रहा सर्वांग मुझे हरि! हरो दास का तीक्ष्ण त्रास।।'[2]

x x x

'कहाँ मैं, कहाँ तात वरणीय, कलुष पर कीर्ति केतु कमनीय।
दयानिधि देव, दास दयनीय, क्षुद्र यह, तुम भूमा महनीय।।'[3]

आचार्य सोम ने नवधा भक्ति के प्रायः सभी रूपों का उल्लेख किया है। परन्तु मूलतः उनकी दृष्टि नाम और रूप की महत्ता पर अधिक रमी है।

श्रवण –

'श्रुतियाँ प्रभु संस्तवशील, विप्र श्रुति पारायण।
जन बने ब्रह्म–श्रुति–प्रवण, करे प्रभु को धारण।।
उस ध्यान धारणा से होगा बाधा–वारण।
तर सके भक्त भव सिन्धु तरणि को दे तारण।।'[4]

---

१. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १४७
२. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १५०
३. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १८३
४. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ८३

कीर्तन –

'हे सर्वेश्वर, सर्वाधार! अच्युत, निराकार, अविकार।
सुर–मुनि–वंदित, ज्ञानागार! भक्ति–मुक्तिप्रद, परम उदार।।
विशद, विशुद्ध, बोध सम्पन्न। नित्य, अजन्मा, उर–आसन्न।
सर्वरूप, तुम सर्वापन्न! तुमसे सब अग–जग उत्पन्न।।
तुम अक्षय, अव्यय, अव्यक्त! भोग भाग से विरत असक्त।
पुष्ट प्रजाहित हुई विभक्त! नित्यानन्दी निर्मल भक्त।।'[1]

स्मरण –

'आओ हम सब मिलकर, समस्वर होकर प्रभु के गुण–गान करें।
उस सर्वेश्वर परमेश्वर का निज शुद्ध हृदय से ध्यान करें।।'[2]

पादसेवन –

'मेरे कृपालु! अब कृपा करो, यह सिद्धि संगिनी बन जावे।
मैं इन चरणों में पड़ा रहूँ, श्रुति ने जिनका यश गाया है।।'[3]

वन्दन –

'तुम चारु चरित, चैतन्य चन्द्र! हे राम, रम्यता–रम्य चन्द्र।
तुम– अमृत भरित, दे रहे अमृत, पी रहा जगत छक कर अतंद्र।।
तुम अमृत देव, तुम धैर्य धाम, तुम दयासिंधु करुणावतार।
तुम मानवता के दिव्यदूत, तुम भद्र–शुद्ध–शुभ–सत्यसार।।'[4]

x x x x

---

१. भागवती आत्मा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ४१
२. भागवती आत्मा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ७५
३. भागवती आत्मा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १८६
४. भागवती आत्मा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ६८

'तुम जनक, जन्म के परिपालक! समता शुचिता के संचालक।
अनुरक्तिमयी मेरी माता! ममता का तुमसे ही नाता।।
सब एक तुम्हारे ही अधीन! सब हीन एक तुम ही अहीन।
अपनी महिमा में समासीन! कर दो मुझको भी अदीन।।'[1]

आचार्य सोम ने मुख्य रूप से दास्य भक्ति का ही परिपालन किया है। किन्तु कहीं–कहीं, सख्य भावना का भी परिचय यत्र–तत्र मिल जाता है। 'भागवती आभा' की निम्नलिखित पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं–

'अयि प्राण प्रदाता, देव, परमप्रिय, रस भरे।
तव सोम–वृष्टि से वृक्ष–लता–वीरुध हरे।।
तुम इन्दु, विश्व को आर्द्र बनाने में लगे।
ऊष्मा–शोषित के बंधु–सखा तुम ही सगे।।
इस सख्य भाव को सब पल–पल अनुभव करें।
तव मैत्री में कर रमण कलेश– जलनिधि तरें।।'[2]

x x x x

तेरा सखा अपना सदा बस साथ तेरे ही रहे
मैं एक तेरे ही लिये जीवित रहा – जन–जन कहे।'[3]

इस प्रकार आचार्य सोम उस ब्रह्म के निराकार एवं साकार रुप के उपासक, नाम भक्ति के प्रेमी, दास्य भाव से भक्ति करने वाले तथा निरंतर वेद को अपने जीवन में आत्मसात करने वाले कवि हैं। उन्होंने 'ओंकार' को भी उतना ही महत्व दिया है जितना कि प्रभु के रूप–सौन्दर्य को जिसकी अनन्य भक्ति में चातक का आदर्श उनकी कविताओं में देखा जा सकता है।

---

१. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ0सं0 ३८
२. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ0सं0 १४१
३. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ0सं0 १८७

(घ) प्रकृति-चित्रण –

कवि सोम ने प्रकृति चित्रण के विविध प्रयोग किये हैं। श्री सोम की प्रकृति विषयक रचनाओं का एक पक्ष वह है जिसमें कवि ने राष्ट्रीय चेतना, उदात्त जीवन प्रेरणा और परोपकाराय सन्तां विभूतयः की भावना से परिपूर्ण होकर कवितायें लिखी हैं। वास्तव में प्रकृति की अपेक्षा मानव जीवन ही कवि के लिये प्रधान है, मानव जीवन का उत्कर्ष ही इसका अभीष्ट है। 'सोम सुधा' काव्य संकलन की अधिकांश कवितायें राष्ट्रीय भावना से अनुप्राणित हैं। 'नव वर्ष', 'पादप', 'फूल', 'ऋतुराज', 'शिवरात्रि', 'होली' आदि सभी कृतियों में कवि का उदार लोक संग्रह भाव प्रकट हुआ है। कविवर सोम का 'पादप' फल–फूलकर छिल–छिल कर उपकार–लीन रहता है। इसकी भावना देखिए –

'मैंने सीखा है दुख सहकर शरणागत का दुख हरना।
मैंने सीखा है परहित में सफल सदा जीना मरना।।'[1]

'शिवरात्रि' पर कवि हृदय में उदय होने वाली भावना कितनी भव्य है –

'चमक उठे आर्यत्व, विश्व को,
स्वस्ति शान्ति का दे आश्वासन।
दूर दस्युता ही मानव से,
दुरित दुर्गुणों का निष्कासन।
पुनः अवतरित हो स्वर्गिक सुख,
भूतल का शीतल अन्तस्तल।
पावन शिव त्रयोदशी भर दे,
यही भाव हृदयों में निर्मल।'[2]

होली का पर्व कवि दृष्टि में तभी सफल है जब स्वार्थ–द्रोह–ईर्ष्या लोलुपता पैशुन्य का पतझड़ हो, परहित–प्रेम–त्याग–सहृदयता–सद्भावना–बीज बो दिया जाय –

---

१. सोम सुधा – आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ४१
२. सोम सुधा – आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ३४

'आशाओं के अंकुर निकलें,

सदाचार तरु खड़ा सबल हो और सुकृति मंजरी सुखफल लावे।'[1]

'सोमसुधा' काव्य संकलन में कवि ने स्वतंत्र विषयों का चयन किया है जो द्विवेदी युग की सृजनात्मक प्रवत्तियों के अधिक समीप हैं। इस काव्य संकलन में 'राजस्थान', 'आबू के बादल', 'नेपाल', 'भारतमाता' जैसी कवितायें संकलित हैं जो उत्तर भारतेन्दु और पूर्व द्विवेदी युग के वातावरण की झलक देती हैं। 'प्रकृति' खण्ड की कवितायें भी द्विवेदी युग और श्रीधर पाठक का स्मरण कराती हैं –

'चारों ओर श्वेत पट बीच में नखतमणि

राजि रही राजी–रमणीयता रमा बनी।

देखो नायिका सी निज नायक सितांशु साथ

आई ऋतु शरद सुहानी मनभावनी।'[2]

'सोमसुधा' काव्य संकलन में प्रकृति चित्रण राष्ट्रीय भावना के परिप्रेक्ष्य में किया गया है। सोम का बाल सुलभ हृदय मातृभूमि के प्रति समर्पित है। उनके रोम–रोम में भारतीय वसुन्धरा का वैभव समाया हुआ है। उसी भावना से अनुप्राणित होकर कवि कहता है –

'भाल पै धौल हिमाकृति चन्दन, जासु छटा नभ माहिं लसी रहै,

अंक में खेलति, ब्रह्मजा, जह्नजा, भानुजा, सिंधु सदा हुलसी रहै,

बिंध्य बनावत मेखला मंजु, सदा अरि–ही झंकार धसी रहै,

पूजत जा पद सिंधु, सदा, सोई भारत – भू मन माहिं बसी रहै।'[3]

---

१. आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', साधना और सर्जना (अभिनन्दन ग्रन्थ), 'सोम सुधा पर एक दृष्टि' – डॉ० प्रेम प्रकाश गौतम, पृ०सं० २११

२. सोम सुधा – आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ४७

३. सोम सुधा – आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ७७

एक अन्य स्थल पर प्रकृति विषयक कविताओं में कही–कहीं राष्ट्रानुराग और सामयिक राष्ट्रदशा पर वेदना की अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। 'ऋतुराज' कविता में इसी प्रकार की वेदना का स्वर दिखाई देता है –

'जब हम थे, अपना भारत था, अपना था भाषा–भेष यहाँ।
अपना था रत्नाकर, अपने थे, पशु–खग–प्रजा–नरेश यहाँ।।
अब तो अपना सपना–सा है, केवल कलपना हमारा है।
फिर तुम्हीं कहो, कैसे कह दें स्वागत ऋतुराज तुम्हारा है।।'[1]

'सोमसुधा' काव्यग्रन्थ की ब्रजभाषा में लिखित कवितायें बड़ी ही मनोहारिणी हैं। रीतिकालीन शैली पर रचित इन कविताओं मे प्रकृति का उपयोग कहीं उद्दीपन तथा अप्रस्तुत विधान के रूप में है और कहीं आलम्बन रूप में हुआ है। ब्रजभाषा का भाषागत माधुर्य इनकी मधुरिमा–वृद्धि में योग देता है। 'ऋतुपति' शीर्षक रचना में 'कलकंठी कोकिल सखियनु संग मंगल' गाती है, प्रकृति 'उजेरे जस गीत' गाती हुई ऋतुराज का स्वागत करती है और उषा 'विजय तिलक' कर उज्ज्वल यश–प्रसारण करती है।

सोम का कवि हिन्दी के रहस्यवादी कवियों की भांति कल्पना में ही परमात्मा को प्रकृति के उपादानों में नहीं देखता, वह तो सच्चे अर्थों में साधक है। आलम्बन विभाव की दृष्टि से 'भागवती आभा' की द्वितीय किरण की 'सलिल' शीर्षक कविता में कहीं–कहीं स्वर्गीय मैथिलीशरण गुप्त की पद्यात्मक शैली की प्रतिच्छाया दिखाई देती है –

'सलिल है तो सफल कृषि है, कृषक माली प्रफुल्लित है।
सलिल से मोर चातक मीन पशु पक्षी मुदित–चित है।।
सलिल है तो अनुर्वर भाग भी धन–धान्य मंडित है।
सलिल को प्राण कहते सब, सलिल में सत्व रक्षित है।।'[2]

किन्तु इसी कविता के अन्तिम छन्द में कवि सोम ने बड़े चातुर्य के साथ सलिल

---

१. सोम सुधा – आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ५६
२. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ४७

को मानव–जीवन के लिये अनुकरणीय बताया है –

'सलिल था सिन्धु में खारा, तथा रवि रश्मि पर चढकर।
पवन के साथ शीतल हो बना घन में मधुर बढकर।।
द्रवित हो व्याप्त तप्तों पर बरसने लगा भू पर।
चराचर तृप्त हो गुण गान में, तत्पर हुए सत्वर।।'[1]

प्रकृति का स्वतंत्र रूप में वर्णन कवि ने किया है और प्रसाद जी की 'तू अब भी सोई है आली' की भाँति कवि ने कहा है –

'प्रातः पावनी उषा बेला।
पक्षी जग कर जप रहे नाम – चहचह के कितने भरे साम।
तू अब भी सोता है मानव! उठ देख ध्येय का धवल धाम।।
अद्भुत जड़ जंगम का मेला।।
प्राची अरुणाभा से मंडित, हो रही दिशा–प्रदिशा द्योतित।
यह सूर्य अतल से उठ ऊपर गिरि–शिखरों को कर आलोकित।।
समतल के सुमनों से खेला
रम्भा रम्भा करती श्यामा, सुन रहे वत्स ध्वनि अभिरामा।
आ गये ग्वाल–गोपाल सभी श्री कृष्ण साथ हैं श्री दामा
मच गया रामणीयक रेला।।'[2]

इस प्रकार कवि सोम ने प्रत्यूष काल का वर्णन करते हुए पक्षियों के कलरव स्वर एवं सूर्य की अरुण आभा के बिखर जाने का उल्लेख किया है। गायें भी रंभा रही हैं और उनके बच्चे अपनी माँ की ध्वनि को समझ रहे हैं। ग्राम्य प्रभात का चित्र प्रस्तुत करते हुए श्री कृष्ण और उनके ग्वाल बालों का भी उल्लेख कवि ने किया है। कवि ने ग्राम्य प्रभात के साथ नागरिक प्रभात का भी वर्णन किया है –

---

१. भागवती आमा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ४७
२. भागवती आमा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ५३

'संसद विदथों में चहल–पहल, जन सभा बन रही रंग–महल।
पौ फटते ही जग हुआ सजग भर गया चतुर्दिक कोलाहल।।'[1]

ऋतुओं के आवर्तन प्रत्यावर्तन से सम्बद्ध रचना में प्रकृति के विभिन्न क्रियाकलापों के रमणीय चित्र उभरे हैं। सूर्य को वर्षा का पिता बनाने में कवि कल्पना श्लाघ्य है –

'रवि बोले यह मेरी कन्या! वर्षा मेरे धन से धन्या।
मेरी किरणों में भरी वाष्प! बन गई वही वर्षा अमाप।
धो रही वही मम पाप–शाप! प्रति प्रसव पा रहे कृत कलाप ।
मैं धन–धान्य सन्तान सुभग! जो करे स्वच्छ पितरों का मग।।'[2]

कवि सोम ने उषा के सम्बन्ध में कितनी सुन्दर कल्पना की है जिस का चित्र इस प्रकार है –

'द्यावा की दुहिता, सविता की कविता–सी यह ऊषा रानी
यह सद्यः स्नाता बाला सी क्षण–क्षण क्षिति पर छवि छिटकाती।'[3]

उषा के सम्बन्ध में कवि सोम की यह कल्पना द्विवेदी युगीन कवि अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध की कविताओं से कितना साम्य रखती है –

'उषा अरुणिमा, ब्राह्मी बेला, तरु–खग–राजि जगी।
चह––चह कू–कू मधुर मनोहर ध्वनियाँ प्रेम पगी।।
साधक–संत–भक्त उठ–उठ कर प्रभु में लीन हुए।
पावन प्रांजल प्रेम पयोनिधि के मन मीन हुए।।'[4]

इस प्रकार कवि सोम ने ऊषा के प्राकृतिक सौन्दर्य में उसी आध्यात्मिक चेतना के प्रति अपनी कर्तव्यनिष्ठा का उल्लेख किया है और मानव को जीवन की अबाध

---

१. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ५३
२. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ५१
३. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ५४
४. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ५३

गत्यात्मकता का परिदर्शन कराया है।

रहस्यवादी कवि की भाँति कवि सोम ने परमात्मा के अस्तित्व को सार्वत्रिक माना है। इसकी सत्ता सर्वत्र विद्यमान है। प्रभु की विभूति ही पत्रों, मंजरियों, सुमनों को स्मरणीय बना देती है। संध्या को सिन्दूर, उषा को अरुणिमा, नक्षत्रों को झिलमिलाहट भी उसी से प्राप्त होती है क्योंकि परमात्मा के रस से खिंचे हुए सभी प्राकृतिक उपादान उसकी कान्ति से शोभायमान हो रहे हैं। अतः वे सभी उसकी सेवा में तत्पर हैं –

'तेरी विभूति, तेरी विभूति।
पत्रों, मंजरियों, सुमनों में करती श्री शोभा की प्रसूति ।।
संध्या को दे सिंदूर राग, अरुणिमा उषा में भर देती।
झिलमिल करने नक्षत्र–दीप, ज्योत्सना निज शीतलता लेती।
रवि को मिल जाता तेज तीव्र, अग–जग जिससे रक्षित रहता।
तरु–वीरुध–पशु–पक्षी–मानव सबमें जीवन–प्रवाह बहता।।
डाली–डाली पुलकित होती, पत्ती–पत्ती रोमांच युक्त।
गुंजार वंश–वीणा भरती, छा जाती वन–वन में विमुक्त।।'[१]

'न जाने नक्षत्रों से कौन निमंत्रण देता मुझको मौन' आदि जैसे भाव कवि सोम की कविता में यत्र–तत्र मिल जाते हैं। कवि पंत की कल्पना मानो मूर्तिवती हो गयी है –

"विद्युत में कौन चमकता है, बादल में किसका गर्जन है ?
श्यामलता मन–मोहन कैसी, कैसा यह भीषण तर्जन है ?
बिजली टूटी,कट गये शिखर, पर्वत कंपित, भयभीत विहग।
यह धारासार विकट वर्षा, ढह गये भवन, पादप डगमग।।
है कौन छिपा इनके भीतर, द्यावा जिसके सम्मुख झुकता ?
पृथिवी थर–थर कर काँप रही झँझा निदेश पाते रुकता ?
जिसके न बाहु, पर बज्र बाहु, जिसके न हस्त पर बज्रहस्त।
जो अविज्ञात, हो रहा ज्ञात, पर जात–मात्र हो रहे त्रस्त।।"[२]

---

१. एवं २. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १६ एवं १७ क्रमशः

प्रकृति के समस्त उपादानों का प्रयोग कवि ने किया है। कहीं प्रकृति का आलम्बन रूप में वर्णन है तो कहीं कवि ने उसे रहस्यवादी भावनाओं के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है। प्रकृति चित्रण का यह रूप सोम रचित मुक्तक काव्यों में अधिक दिखाई देता है। जहाँ तक 'विरहिणी' महाकाव्य का प्रश्न है उसमें प्रकृति का उद्दीपन रूप भी प्रस्तुत हुआ है।

(ड.) दार्शनिकता –

दर्शन का लक्ष्यार्थ अपरोक्ष अनुभूति है जिससे संसार के मर्म और रहस्य का बोध होता है। दर्शन ऐसी आँख है जिससे दृष्टा को भी अदृष्ट का दर्शन होता है। जहाँ भौतिक विज्ञान की शक्ति सामर्थ्यहीन होकर असहाय हो जाया करती है, दर्शन का वहाँ से शुभारम्भ होता है। दर्शन को अंग्रेजी साहित्य में 'फिलास्फी' कहते हैं जिसका अर्थ होता है 'ज्ञानानुराग'। मानव के अनवरत प्रयासों एवं चिन्तन का एकीकृत रूप दर्शन है। 'दर्शन' ज्ञान की वह अबाध सरिता है जिसका प्रवाह सनातन है। भारतीय साहित्य परम्परा में दर्शन और काव्य का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। दर्शन से काव्य में गाम्भीर्य की सृष्टि होती है। श्रेष्ठ साहित्यकार एवं मनीषी अपने साहित्य में भाव, कला एवं दर्शन का सामंजस्य स्थापित करते हैं। भारतीय परम्परा में काव्य सृजन एक पावन एवं श्रेष्ठ कर्म है। ईशावास्योपनिषद् में कवि के लिये कहा गया है – 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः'[1] अर्थात् कवि वह है जो क्रान्तदर्शी मनीषी एवं उदार दृष्टि वाला है। जीवन के महान एवं शाश्वत सत्य का उद्घाटन कवि करता है। संस्कृत साहित्य के उत्कृष्ट महाकाव्यों में दर्शन के श्रेष्ठ तत्वों की अभिव्यंजना हुई है। वेद मंत्रों के दृष्टा ऋषि, वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति आदि महाकवियों से लेकर कबीर, सूर, तुलसी आदि हिन्दी कवियों ने कवित्व के साथ दर्शन का भी समन्वय किया है।

सत्यान्वेषण का प्रयास अनेक प्रकारों से किया जा रहा है। दार्शनिक का खोजा सत्य हमारे बौद्धिक जगत को प्रभावित करता है, वैज्ञानिक का सत्य भौतिक रूप के

---

१. ईशावास्योपनिषद – ८

रहस्य का उद्घाटन करता है किन्तु मानव के भावजगत को आन्दोलित, परिष्कृत एवं परिवर्द्धित करने वाला सत्य कवि एवं साहित्यकार का है। दार्शनिक का सत्य शाश्वत है किन्तु सुन्दर नहीं, वैज्ञानिक का सत्य जड होने के कारण मानस को प्रभावित नहीं करता, भले ही उसमें शिव हो किन्तु कवि का सत्य, सत्य होने के साथ सुन्दर एवं रमणीय भी है और हमारे मानस को प्रभावित करने के कारण 'शिव' भी है।[1]

वैज्ञानिक एवं दार्शनिक सत्य के तत्वमात्र ग्रहण करते हैं। कवि इतने से सन्तुष्ट नहीं होता। वैज्ञानिक फूल का वनस्पति विज्ञान की दृष्टि में विवरण देता है, दार्शनिक उसकी क्षणिकता की ओर ध्यान खींचता है। ये दोनों सत्य ही बताते हैं किन्तु कवि फूल के सौन्दर्य की ओर ध्यान आकर्षित करता है। सरोवर का पानी वैज्ञानिक के लिये H_2O है किन्तु वाल्मीकि के लिये वह सज्जन के मानस का प्रतीक भी है।[2] काव्य के रूप में दर्शन की प्रतिष्ठा प्रभावकारी एवं हितकारी होती है। शेक्सपियर ने भी काव्य में दार्शनिकता के सम्बन्ध में लिखा है – लौकिक जीवन से दूर जाने पर हमें पेड़ में वाणी, बहते झरनों में ग्रन्थ, पत्थरों में भी प्रवचन और हर वस्तु में अच्छाई दिखाई देती है। कवि प्रतिभा के बल पर कल्पित पात्रों में शाश्वत सौन्दर्य की सृष्टि करता है और इस प्रकार अपनी दार्शनिकता व्यक्त करता है।

आचार्य सोम के श्वास–प्रश्वास में वेद चिन्तन परिलक्षित है। इसका प्रमाण है उनका विपुल वैदिक बोध, उनके ग्रन्थ और उनकी नैष्ठिक दिनचर्या। इनसे भी पुष्ट प्रमाण है उनकी निर्लिप्तता का धारावाही चिन्तन। 'प्रथमजा', 'जीवन दर्शन', 'संध्याचिन्तन', 'विकास–पद्धति', 'वैदिकी', 'वैदिक संस्कृति और सभ्यता', 'वेदार्थ चन्द्रिका' आदि उनके वैदिक चिन्तन के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। आचार्य सोम वेदाध्यायी हैं साथ ही वेदानुकूल आचरण करने वाले भी हैं। ऋग्वेद के इस मंत्र में उनकी पारमार्थिक चिन्तना को देखा जा सकता है –

---

१. हिन्दी साहित्य में प्रतिबिम्बित चिन्तन प्रवाह – डॉ0 सुधाकर गोकाककर एवं डॉ0 कुलकर्णी, पृ0सं0 ७
२. 'पश्य लक्ष्मण पंपेयं यथा सज्जनमानसम्' वाल्मीकि रामायण (सुन्दरकाण्ड)

ओऽम् ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञा । तेनो रासन्तामुरुगाय मद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः (जो दिव्य गुणधारी पूजनीय सत्ताओं में भी पूज्य हैं, जो मानसिक यज्ञ करने वाले हैं, अमर हैं, भक्ति को जानने वाले हों, वे आज हमें विस्तृत यश से सम्पन्न कर दें और अपनी कल्याणकारी शक्तियों के द्वारा हमारी सदैव रक्षा करते रहे हैं।)

आचार्य मुंशी राम शर्मा सोम की भक्ति भावना पर प्रकाश डालते हुए आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी ने ठीक ही कहा है "पंडित जी भारतीय संस्कृति और आध्यात्मिक दर्शन के प्रेमी हैं। वे वैदिक अद्वैत सिद्धान्त को मानते हुए सूर–तुलसी आदि भक्त कवियों की समीक्षाओं के अन्तर्गत द्वैत की उपासना प्रणाली से अभिभूत प्रतीत होते हैं यह उनके साध नागत औदार्य का ही प्रतिफल है। आपकी समस्त साहित्य सृष्टि सुचिन्तित और उसमें मननशीलता एवं गम्भीर अध्ययन की छाप अंकित है।"[1] आचार्य बाजपेयी जी के विवेचन के आधार पर उनकी भक्ति भावना के दो प्रमुख आधार बने हैं –

(१) अद्वैतवादी चिन्तन का प्रभाव

(२) द्वैत उपासना के प्रति उनकी गहन आसक्ति।

अद्वैतवादी चिन्तन का प्रभाव –

ब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध तथा मुक्ति विचार वेदान्त का प्रतिपाद्य है। वेदान्त दर्शन के इतिहास में शंकराचार्य का श्रेष्ठ स्थान है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' इस सूत्र के आधार पर अद्वैतवादी विचारधारा का शुभारम्भ हुआ।

अद्वैतवादी चिन्तन के आधार पर समस्त सृष्टि के मूल में एक ही तत्त्व विद्यमान है जिसे ब्रह्म या आत्मा कहते हैं। ब्रह्म सत, चित् तथा आनन्दस्वरूप है। वह निर्गुण, निर्विशेष, अनादि, अनन्त, निरंजन है। वह सर्वव्यापी चेतन तत्व है। वह भेद रहित

---

१. आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', साधना और सर्जना (अभिनन्दन ग्रन्थ), 'आशीष और अभिमत' – आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी, पृ०सं० १६

अद्वितीय है। वह नित्य, स्वयंसिद्ध, अजन्मा, निरवयव एवं अखंड है। कवि सोम ने 'भागवती आभा', 'सोम सुधा' आदि रचनाओं में ऐसा ही वर्णन किया है। कवि के शब्दों में –

'वह एक तत्व ही यहाँ–वहाँ सर्वत्र व्याप्त है सर्वप्राप्त।'[1]

x x x

"कहते हैं अग–जग प्रकृति परा–अपरा उसकी।
पर वह विशुद्ध चैतन्य भूमि सचराचर की।
आधार, नहीं आधेय, सभी उसमें आश्रित।
फिर भी वह सबसे पृथक् असंगी अपराजित।।
ये प्रकृति जात, ग्रह–पिंड उसी के शासन में।
उसका न यहाँ कोई शासक वात्यायन में।
उसका न जनक, उसका न जन्म जगतीतल में।
वह सबका अधिपति जो कुछ भी नभ में थल में।।"[2]

एक अन्य स्थल पर कवि लिखता है –

'वह नियम–नियामक नियति साथ,
वह दूर–दूर वह साथ–साथ।'[3]

ब्रह्म की भाँति जीव (आत्मा) ब्रह्म से भिन्न नहीं है। वह ब्रह्म की तरह निर्गुण, चेतन, नित्य और स्वयंसिद्ध है परन्तु शरीर की उपाधि के कारण वह 'जीव' कहलाता है। अविद्या या माया के कारण वह ब्रह्म के साथ अपने अद्वैत को समझ नहीं पाता और नानारूपात्मक हृदय जगत् को सत्य समझ बैठता है। यह जीव कर्ता, भोक्ता दुःख सुख का अनुभव करता हुआ जन्म मरण का दुःख उठाता रहता है – कवि सोम ने उपर्युक्त भाव को बड़े ही सार्थक शब्दों में अपनी कविता में प्रस्तुत किया है –

---

१. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ0सं0 १७
२. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ0सं0 १६
३. संध्या संगीत, पृ0सं0 २८

"रे मानव! चलता क्यों न उसी का आश्रय ले।
सत्पथ पर सतत् संत प्रणति के साथ चले।
पापी ऋत पथ को पार यहाँ कब कर पाते ?
सुकृती ही ऋत को चीर परमपद में जाते।।"[1]

एक अन्य स्थल पर भी कवि ने इसी भाव को व्यक्त किया है –

'सम स्वर से कहते एक बात, तुम ज्ञान–ध्यान से भी अगम्य।
तुम हो अवर्ण्य, तुम हो अदृश्य, तुम अमंतव्य अभिराम रम्य।।
जो सर्वात्मना समर्पित हो बस एक तुम्हारा बन जाता।
सब तोड़ मोहमाया जग की जो जोड़े तुमसे निज नाता।।'[2]

अद्वैतवादी चिन्तन में जगत् परिवर्तनशील, अनित्य और जड़ है इसीलिये वह सत्य नहीं मिथ्या है। यह जगत् इन्द्रियगोचर है। यह असत् नहीं है परन्तु उसकी सत्ता एक सीमा तक ही है। जब ब्रह्म तत्व का साक्षात्कार हो जाता है तब जगत् की सत्ता बाधित हो जाती है। इसीलिये जगत् व्यवहारिक सत्य है, अन्तिम सत्य नहीं। कवि सोम ने जगत के इसी भाव को अपने मुक्तक काव्य ग्रन्थों में व्यक्त किया है –

'तू जिसे अपना समझता, छोड़ देगा वह तुझे।
इस विनश्वर बन्ध से सम्बन्ध क्यों तुझको रुझे ?
वास पिघल पत्र सम चल, आज है तो कल नहीं।
जुट नवल निर्माण में झटपट, अभी इस क्षण यहीं।।'[3]

जीवात्मा और ब्रह्म में अद्वैत होने पर भी जीव द्वैत का अनुभव करता है और जगत् की सत्ता मिथ्या होते हुए भी उसी को सत्य समझ बैठता है। इसका कारण है माया। अद्वैतवादियों ने माया को अविद्या कहा है। माया सत्य नहीं है। कवि सोम ने

---

१. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ0सं0 १४
२. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ0सं0 २१
३. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ0सं0 ७७

भी अपनी कविताओं में माया जनित जीव की व्यथा को वर्णित किया है –

'इस प्रकृति–कूप में जीव–यूथ बंदी सम क्लेशा क्रान्त व्यथित।
कंकर, पत्थर फिसलन, रपटन मज्जन में कितना मरण ग्रथित ।।
यह जीवन भी क्या जीवन है जिसमें मरना ही मरना है।
आद्यन्त मध्य में जीवन भर संघर्ष मरण से करना है।।'[1]

x x x x

'प्रभुविष्णु प्रभुत्व लिये अपना क्यों दास बनेगा माया का।
माया में छलना, भ्रम प्रपंच, तू शुद्ध अंश चिति–जाया का।'[2]

सूर और तुलसी सदृश सगुण उपासना का प्रभाव –

इस प्रकार सोम ने अद्वैत विचारधारा को आत्मसात किया है। उनकी कविताओं में सूर और तुलसी की भक्ति भावना, कृपा दृष्टि अवतार रूप आदि सभी कुछ सहज रूप से दिग्दर्शित होता है। जिस प्रकार सूर और तुलसी ने अपने इष्ट की महानता के गीत गाये हैं उसी प्रकार सोम ने इष्ट के प्रति अपनी अनन्यता की भावना को इस प्रकार व्यक्त किया है –

'हे अतिथि देव! तुम दर्शनीय ।
अतिशय अद्भुत, अतिशय विचित्र, आकर्षक रूप अवर्णनीय,
श्री, शोभा, कान्ति, दीप्ति, आभा किसके समान है अकथनीय।
कमनीय यही तुम निज समान, उपमान तुम्हीं केवल स्वकीय।
तुम स्रोत सृष्टि की सुषमा के, तुमसे निकले सौन्दर्य–सुमन।
गिरि–निर्भर–निर्मल–जलधारा, श्रुति सुखद कर रही कल–कल स्वर।।'[3]

x x x x

---

१. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० २७
२. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ६७
३. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ३१

'तुम धर्म मार्ग के उन्नायक। सन्तों भक्तों के संस्थापक।
तुम शुद्ध स्वरूप ज्ञानदाता। बलदाता दीन दलित त्राता।
मैं भी तव शुद्ध–शरण याचक। कर दो पवित्र पावन पाचक।'[1]

x x x x

'प्रेरक प्रभु ही पिता, वही है मेरी माता,
विघ्न विनाशक विविध विपुल वैभव के दाता।
भय विपत्ति, संकट–कंटक में मेरे त्राता,
चिदानन्द धन वही सदा सुख शान्ति प्रदाता।'[2]

जिस प्रकार तुलसी राम के ब्रह्मत्व पर बार–बार बल देते हैं उसी प्रकार आचार्य सोम भी उस परम तत्त्व के साकार और निराकार दोनों ही रूपों के प्रति आस्था रखते हैं। 'भागवती आभा' में उन्होंने एक स्थल पर लिखा है –

'हे सर्वेश्वर, सर्वाधार! अच्युत निराकार, अविकार।
सुर–मुनि वंदित ज्ञानागार! भुक्ति–मुक्ति–प्रद परम उदार।।'[3]

निराकार के साथ सगुण रूप का भी कवि सोम ने गुणगान किया है कवि के शब्दों में –

'आओ, सब करें हृदय पावन, पावन मेधा, पावन तन–मन।
पावन गायन, पावन् कीर्तन, हो पावन प्रभु का आराधन।।
प्रेमार्द्र बनेंगे प्रभु मेरे, रीझेंगे मेरे वन्दन से।
द्रुत द्रवीभूत होंगे अवश्य मेरे कातर क्रन्दन से।।
स्वीकार करेंगे वे तुरन्त इस हृदय–प्रसूत सोमरस को।।
मेरे प्रभु कर देंगे निहाल लेकर निज अंक अनागस को।।'[4]

---

१. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ३८
२. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ४६
३. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ४१
४. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ७६

परमात्मा का अंश जीव अविनाशी होते हुए भी माया के वश मे पड़कर चौरासी लाख योनियों में रमण करता रहता है उस समय प्रभु ही सब का उद्धार करते हैं। इसी भाव को कवि सोम ने भी व्यक्त किया है –

'जब जब मायावी क्लेश सामने आये।
भव–भँवरों ने विकराल वेष दिखलाये।।
हे नाथ! तुम्हीं तब हाथ बढ़ाते आये।
जीवन नौका को पार लगाते आये।।'[1]

इसी प्रकार 'सोम स्तोत्र सुधा' में 'माया' के इसी प्रभाव को कवि ने व्यक्त किया है –

'माया प्रकृति संभारा मल विक्षेप कारिणी।
दुःखायैव, सुखार्थतु, ब्रह्मोपास्यं मनीषिभिः।।'[2]

कवि सोम ने 'सोम स्तोत्र सुधा' में भी इन्हीं भावों को व्यक्त किया है –

'कुरु दयां जगदीश दयानिधे! कुरु कृपां करुणेश कृपानिधे।
सुर सराशि धुरं धर वारिधे! शरणमाशु दयामया! देहि में।।'[3]

इस प्रकार आचार्य सोम की कविताओं में जहाँ एक ओर अद्वैत चिन्तन का प्रभाव परिलक्षित होता है, वहीं दूसरी ओर उनके मुक्तक काव्य में सूर और तुलसी सदृश सगुण उपासना के भाव भीं विद्यमान हैं। मूलतः आचार्य सोम जीवन की शुचिता द्वारा उस परम तत्व की प्राप्ति पर ही बल देते हैं। 'वैदिक संस्कृति और सभ्यता' 'वैदिक निबन्धावलि', 'वेदार्थ चन्द्रिका', 'तत्व दर्शन', 'संध्या चिन्तन' आदि ग्रन्थों से आचार्य प्रवर का तलस्पर्शी वेदानुशीलन स्पष्ट है। वेदों के गूढ़ रहस्यों को इतनी सरलता से कवि ने समझाया है, ऐसा अन्यत्र किसी भी कवि एवं विद्वान ने नहीं किया है। वास्तव में आचार्य सोम मनीषी

---

१. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १४२
२. सोम स्तोत्र सुधा – आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ७७
३. सोम स्तोत्र सुधा – आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १०२

एवं चिन्तक हैं जिन्होंने अनास्था के इस युग में अभाव से भाव, अपूर्णता से पूर्णता, तम से प्रकाश की ओर जनमानस को ले जाने का संकल्प लिया है। उनके व्यक्तित्व में एक चिन्तक की मननशीलता है, भक्त की निष्ठा है, परोपकारी की मति है और कवि की भाव प्रवणता भी विद्यमान है।

(च) रहस्यानुभूति –

'रहस्यानुभूति' शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है – रहस्य और अनुभूति। प्रारम्भ में ही 'रहस्य' शब्द का अनुशीलन हमारा अभीष्ट है। 'हिन्दी साहित्य कोश' में 'रहस्य' के सम्बन्ध में यह कहा गया है "अपनी अन्तःस्फुरित परोक्ष अनुभूति द्वारा सत्य, परमसत्य अथवा ईश्वर का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करने की प्रवृत्ति रहस्यवाद है। यह प्रवृत्ति मनुष्य की प्रकृति का अविभाज्य अंग रही है और रहस्यानुभूति सम्भवतः मनुष्य की श्रेष्ठतम एवं उदात्ततम अनुभूति है।"[1] प्रारम्भ में हिन्दी साहित्य के समीक्षकों ने 'मिस्टीसिज्म' (Mysticism) के पर्याय रूप में रहस्यवाद शब्द को स्वीकार किया था। ग्रीक धातु Mystes (Mustes) से Mystic तथा Mysticism शब्द बने हैं। व्युत्पत्तिपरक अर्थ की दृष्टि से जन्म और मृत्यु के रहस्यों को जानने वाला दीक्षित व्यक्ति Mystic है और इस प्रक्रिया का बोध Mysticism है।[2] इसी प्रसंग में 'रहस्य' शब्द के व्याकरणिक स्वरूप को भी जान लेना नितान्त अनिवार्य है। 'रह' धातु में 'असुन्' प्रत्यय लगकर 'रहस्' शब्द बनता है जिसका अर्थ है भेद की बात। इसी धातु से 'रहस्य' शब्द बनता है जिसका अर्थ है गुप्त, प्रच्छन्न (रहसि भवः यत)। संस्कृत साहित्य में 'रहस्य' शब्द के पर्याय के रूप में 'गुह्य', 'गोप्य' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। सामान्यतः जो बात बुद्धि की सीमा के परे रही हो उसे रहस्य कह दिया गया।[3] प्रारम्भ में योरप के गिरिजाघरों में 'कॅन्टम्प्लेशन' (Contemplat on) शब्द बहुत समय तक प्रचलित रहा। इसी Contemplation से प्राप्त अनुभूति को आगे चलकर Mystical experience कहा गया।

---

१. हिन्दी साहित्य कोश (प्रथम भाग) – प्रधान सम्पादक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ०सं० ६६१
२. हिन्दी साहित्य में विविधवाद – डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल, पृ०सं० ३६४
३. हिन्दी साहित्य में विविधवाद – डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल, पृ०सं० ३६५

'रहस्य' शब्द की अवधारणा से परिचित होने के पश्चात 'रहस्यानुभूति' का परिज्ञान भी अनिवार्य है। "लौकिकता से विमुख होकर जब किसी अज्ञात, रहस्यमय अलौकिक शक्ति के प्रति राग, उत्सुकता, विस्मय, जिज्ञासा, लालसा एवं मिलनानुभव व्यक्त किया जाने लगता है, तब उस अनुभववेद्य अवस्था को रहस्यानुभूति की अवस्था कहते हैं।"[1]

'रहस्यवाद' की भावना का सूत्र प्रायः हर देश में मिलता है। रहस्यवादी साधना का प्रमुख देश भारत है। अत्यन्त प्राचीन समय से लेकर आज तक इस देश में रहस्यवाद की साधना होती रही है। ऋग्वेद में उसके संकेत आंशिक रूप से ही प्राप्त होते हैं किन्तु तप, ऋत और पुरुष, सम्बन्धी विचारों में उसके अंकुर अवश्य मिल जाते हैं। 'उपनिषद' भारतीय रहस्यवाद का हृदय है। उपनिषदों का आग्रह प्रत्यक्ष रहस्यानुभूति और ज्ञान प्राप्त करने पर है। सगुणोपासक भक्ति का प्रचार दक्षिण के आलवार सन्तों और वैष्णव आचार्यों ने किया। वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु, रामानन्द, तुलसीदास, सूरदास, मीरा, तुकाराम, नरसी मेहता आदि प्रमुख मध्ययुगीन भक्त रहे हैं।

प्राचीन यूनान की प्रधान प्रवृत्ति यद्यपि बौद्धिक तथा ऐहिक थी फिर भी रहस्यवाद का सूत्र वहाँ भी प्राप्त होता है। पाइथागोरस एक महान रहस्यवादी था। सुकरात के समाधि जैसी अवस्था में जाने और दिव्य शक्ति से पूरित हो उठने का वर्णन मिलता है।[2] प्लेटो ने 'सिम्पोज़िअम' नामक संलाप में रहस्यानुभूति का प्रतीकात्मक वर्णन किया है। प्लेटो के शिष्य 'प्लोटिनस' की गणना विश्व के महान रहस्यवादियों में होती है।

चीन में भी रहस्यवादी भावना के सूत्र लाओ त्जेके के सिद्धान्त में प्राप्त होते हैं। उसने परम तत्व को 'ताओ' अथवा मार्ग का नाम दिया। इस सिद्धान्त के अनुसार 'ताओ' स्वर्ग से उच्चतर और पूर्वतर है। काल के पूर्व भी उसकी सत्ता थी, व्यक्त ईश्वर के पहले भी वह वर्तमान था। वह प्रकृति का विधान है, शाश्वत, अगोचर, अपरिवर्तनशील

---

१. हिन्दी साहित्य कोश (प्रथम भाग) – प्रधान सम्पादक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ०सं० ६६४
२. हिन्दी साहित्य कोश (प्रथम भाग) – प्रधान सम्पादक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ०सं० ६६२

और सर्वव्यापक है। उसका वर्णन निषेधात्मक नेति नेति से किया जा सकता है। उसी को प्राप्त करना मानव जीवन का परम लक्ष्य है। लाओ त्जेके ने ईश्वर का किंचित भी कर्तव्य नहीं किया। वह मानव का परम कर्तव्य अपनी इच्छा और अपनी सत्ता को 'ताओ' को समर्पित करके उसका यंत्र बन जाना ही मानता है।[1]

ईसाई धर्म के प्रवर्तक ईसामसीह का जीवन आदर्श रहस्यवादी जीवन है। उनके शब्द ईश्वर के प्रत्यक्ष साक्षात्कार और बल से प्राप्त हैं। स्वयं बाइबिल रहस्यवाद का श्रेष्ठ ग्रन्थ है। उसके 'एपिसिल्स' नामक अंशों में ईश्वर के प्रत्यक्ष साक्षात्कार की दिव्यानुभूति का वर्णन है। ईसाई धर्म पर प्लोटिनस और नव्य प्लेटोवादियों का बहुत प्रभाव पड़ा है।[2]

इसी प्रकार इस्लाम धर्म में रहस्यवादी भावना का सूत्र स्वयं हज़रत मुहम्मद के जीवन से मिलता है। उन्होंने तापसी साधना, रात्रि जागरण, व्रत, प्रार्थनाओं आदि की उपयोगिता पर बल दिया। इन साधनों का प्रयोग स्वयं भी मुहम्मद साहब ने किया। एक आन्दोलन के रूप में इस्लाम के अन्तर्गत सूफीवाद का आगमन हुआ। आगे चलकर दूसरी शती हिजरी में बसरा की महिला सन्त रबिआ ने रहस्यवादी प्रेम सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। तीसरी शती हिजरी में इस्लाम के ईश्वरवादी चिन्तन के विरोध में सर्वेश्वरवादी सिद्धान्त का विकास हुआ। आगे चलकर सीरिया में अनसुलेमान अलदारानी ने ज्ञान और आनन्द के माध्यम से रहस्यानुभूति के सिद्धान्त की स्थापना की। इसी में प्रकारान्तर से सूफी सम्प्रदाय सुसंघटित हो गया। गजाली, जलालुद्दीन रूमी, हाफिज उमर खैयाम, सादी और जामी प्रसिद्ध ईरानी सूफी कवि हुए।[3]

आधुनिक काल में भारत में रहस्यवाद की धारा प्रवाहित रही है। भारतीय पुनरुत्थान युग के अग्रणी राजा राममोहन राय औपनिषदिक रहस्यवाद में आस्था रखते थे। रामकृष्ण परमहंस के माध्यम से रहस्यवादी साधना को और भी बल मिला।

---

१. हिन्दी साहित्य कोश (प्रथम भाग) – प्रधान सम्पादक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ०सं० ६६२
२. तदैव
३. हिन्दी साहित्य कोश (प्रथम भाग) – प्रधान सम्पादक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ०सं० ६६३

रवीन्द्रनाथ ठाकुर मर्मी साधक थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे भारतीय काव्य में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के माध्यम से यूरोपीय प्रभावमात्र माना है और अलौकिक शक्ति के प्रति लालसा की अभिव्यक्ति को झूठा या कृत्रिम रहस्यवाद का रूप दिया। प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी इसी रहस्यवादी भावना के प्रतिनिधि कवि स्वीकार किये गये हैं। इस प्रकार रहस्यवाद की यह विकास यात्रा आज भी प्रवहमान है। इसी विकास यात्रा की एक कड़ी हैं आचार्य मुंशी राम शर्मा जिन्होंने अपनी कविताओं में तथा विशेषकर अपने महाकाव्य 'विरहिणी' में इसी रहस्यवादी भावना का उन्मेष प्रदर्शित किया है।

'जीवन संगीत', 'सोमसुधा', 'सोम स्तोत्र सुधा', 'भागवती आभा' आदि काव्य संकलनों में उनकी रहस्यवादी भावनाओं की अभिव्यक्ति विशेष रूप से हुई है।

डा० प्रेम नारायण शुक्ल ने रहस्यवाद की प्रमुख अवस्थाओं का पाँच प्रकार से उल्लेख किया है –

१. प्रभु के प्रति जिज्ञासा, कुतूहल और विस्मय की भावना

२. प्रभु का महत्व और उसकी अनिर्वचनीयता

३. प्रभु के दर्शन का प्रयत्न

४. प्रभु के प्रति विभिन्न सम्बन्धों की उद्भावना

५. प्रभु से एकाकारिता[1]

सूफी कवियों ने आध्यात्मिक यात्रा की चार अवस्थाएँ मानी हैं। साधक जब इस यात्रा के लिये चल पड़ता है तो वह प्रारम्भ में कुरान तथा हदीस में बताये हुए विधि–निषेधों (शरअ) का पालन करता है। उसकी इस मंजिल को '**शरिअत**' कहते हैं।

साधक की दूसरी मंजिल '**तरीकत**' है। इसमें साधक गुरु के मार्गदशर्न में साधना के रहस्यमार्ग पर अग्रसर होने लगता है। इस अवस्था में साधक को 'सालीक'

---

१. हिन्दी साहित्य में विविधवाद – डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल, पृ०सं० ३८२

कहते हैं।[1]

तृतीय मंजिल है '**मारिफत**'। यहाँ पहुँचकर साधक शक्तिसम्पन्न, पूर्णज्ञानी हो जाता है। वह परमात्मा के सानिध्य का अनुभव करने लगता है। ऐसे साधक को 'आरिफ' कहते हैं।

चतुर्थ मंजित है '**हकीकत**'। यहाँ पहुँचने पर साधक को सत्य की प्राप्ति हो जाती है। ऐसे साधक को हक़ और उसकी अवस्था को लाहूत (परमात्मा का मिलन) कहते हैं। सूफी साधना में मोक्ष की दो अवस्थायें मानी गयी हैं फना और बका। 'फना' में साधक की आत्मा का परमात्मा से मिलन होता है और उसमें उसे परमानन्द का लाभ प्राप्त होता है। बका मोक्ष की चरम अवस्था है। उसमें आत्मा परमात्मा के साथ एकाकार हो जाती है और उसे अपने अस्तित्व का ज्ञान नहीं रहता। इस अवस्था को प्राप्त करना ही साधक का अन्तिम लक्ष्य है।[2]

सूफियों की इन चार अवस्थाओं का परिज्ञान उपर्युक्त रहस्यवाद की पाँच उल्लिखित अवस्थाओं में हो जाता है और उसी के आधार पर आचार्य सोम की रहस्यानुभूति का विश्लेषण हमारा यहाँ अभीष्ट है। कवि सोम ने भी अपनी कविताओं में रहस्यवादी भावना का उद्दाम् आवेग प्रवाहित किया है जो इस प्रकार है –

१. जिज्ञासा, कुतूहल अथवा विस्मय की भावना –

भारतीय जनमानस प्रारम्भ से ही अध्यात्म प्रधान और आस्थावान रहा है। उसने विश्व के कण–कण को अपनी प्रेमभावना का दान दिया है एवं कृतज्ञता उसके जीवन का एक अंश बन गयी है। आदिकालीन प्राकृतिक शक्तियों की उपासना का बीज उसकी

---

१. हिन्दी साहित्य में प्रतिबिम्बित चिन्तन प्रवाह – डॉ० सुधाकर गोकाकर एवं डा० कुलकर्णी, (प्रथम संस्करण १६७६), (फड़के प्रकाशन, कोल्हापुर)
२. हिन्दी साहित्य में प्रतिबिम्बित चिन्तन प्रवाह – डॉ० सुधाकर गोकाकर एवं डा० कुलकर्णी, पृ०सं० ४५, (प्रथम संस्करण १६७६), (फड़के प्रकाशन, कोल्हापुर)

कृतज्ञता में निहित है। वैदिक ऋषि बड़ी आकुलता से इस जिज्ञासा को व्यक्त करते हैं –

"न नूनमस्ति नो स्वः कस्तद् वेद यदद्‌मुतम्
अन्यस्य चित्तममिसं चरेयण्मुताधी तं वि नश्चति।।"[1]

रहस्य का मूल इसी आश्चर्य अन्वेषण–शोध की क्रिया में विद्यमान है। इस रहस्य के मूल में भयमिश्रित और आनन्द मिश्रित दोनों ही प्रकार की प्राकृतिक शक्तियां साधक द्वारा अनुभव की जाती हैं। भयमिश्रित आश्चर्य का नाम विस्मय है और आनन्द मिश्रित आश्चर्य का नाम कुतूहल है। कवि सोम की कतिपय अध्यात्मपरक कविताओं में इसी प्रकार के विस्मय भाव की अभिव्यक्ति हुई है –

"यह कौन अग्नि में दहक रहा, रवि में छिप जीवन बाँट रहा।
शशि मिस दे औषधियों को रस, बिजली बन सबको डांट रहा।
यह कौन ग्रीष्म बन तपा रहा, जल को हिम कौन बनाता है।
बासन्ती कुसुमों में खिल–खिल यह हँसता कौन हँसाता है ?"[2]

इसी प्रकार 'सोम स्तोत्र सुधा' में भी कवि ब्रह्म के साकार और निराकार दोनों ही रूप देखकर जिज्ञासा और विस्मय की अनुभूति करता है –

'निराकारोऽपि साकारो, निर्गुणोऽपि गुणैर्युत।
अलिंगोऽपि सलिंगोहि, हरि सर्व विशेषणः।।'[3]

२. महत्व और अनिर्वचनीयता –

वस्तुतः कौन का प्रश्न ही रहस्य की सृष्टि करता है। जब इस कौन का उत्तर प्राप्त होने लगता है तब साधक की अनुभूति और भी गहन हो जाती है। साधक अपनी अनुभूति की व्यापकता में उस परोक्ष सत्ता के व्यापकत्व का अनुभव करने लगता है।

---

१. ऋग्वेद – १।७०।१
२. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १८
३. सोम स्तोत्र सुधा – आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ८६

उस महत्व का ज्ञान प्राप्त कर लेना ही मानो उसका लक्ष्य हो जाता है –

'शिशुओं की स्मिति में हँसता है, मेघो के व्याज बरसता है।
कुसुमों में उसका ही विकास, नर्तित मयूर में रास लास।
भूकम्पों में वह रुद्र रूप, शशि की ज्योत्सना में अमृत कूप।
प्रस्फुटित वही नव अंकुर में, रस रूप फलों के उर–उर में।।'

x x x x

'छवि छटा छिटकती जहां–जहां, तेरा सौन्दर्य–विकास वहाँ।
पर तू अखंड ये खंड–खंड मिलता तेरा उपमान कहाँ।।'[1]

शिशुओं के हास्य में, मेघों की आर्द्रता में, फूल के सौन्दर्य में, मयूर की नर्तित भावभंगिना में, भूकम्पों में, रुद्र रूप में, चन्द्र की ज्योत्सना में उसका अमृत स्वरूप, नये अंकुर में फलों के रसायन आदि सभी में उसका विराटत्व समाया हुआ है। विराटत्व की महिमा का उल्लेख कवि ने 'सोम स्तोत्र सुधा' में भी किया है –

'त्वमसि ब्रह्मा त्वमसि विष्णुः त्वमसि रुद्रो महेशस्त्वं।
त्वमसि कर्त्ता त्वमसि भर्त्ता त्वमसि हर्ता सुरेशस्त्वं।।'[2]

३. दर्शन का प्रयत्न –

प्रभु की महत्वानुभूति के प्राप्त होते ही मानव का सहज लोभी हृदय अधिक चंचल हो उठता है और उसके दर्शन की व्यग्रता और भी बढ़ जाती है। कबीर भी 'कबरे मिलहुगे राम' कह–कहकर उस दर्शन की तीव्र आकुलता से प्रतीक्षा करते रहते हैं –

'मेरे साथी मेरे संगी तुम मिले रहो न हटो मन से।
बस एक तुम्हारे लिये श्रवण, बस एक तुम्हारे लिये कथन।।
बस एक तुम्हारा करूँ मनन, बस तृप्त रहूं तव दर्शन से।
तुम हटे उसी क्षण है विनाश, तुम हटे हटा तत्क्षण प्रकाश।
तुम हटे अखिल आनन्द गया, भर गया हृदय दुख–बंधन से।।'[3]

---

१. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १६
२. सोम स्तोत्र सुधा – आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ६३
३. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ६५

x x x

'दयाधन! दया करो, हम दीन

द्वार पड़े हैं दर्शन जल–दे, तृप्त करो मन–मीन

जड़ क्या जाने, सुख–दुख कैसा, कैसा प्रेम प्रवीण ?

x x x

'शरण तुम्हारी चिन्ता हारी, हम चिन्ता में लीन।

देव! तुम्हारी मोद–गोद में हो जावें आसीन।'[1]

एक अन्य काव्य संकलन में भी कवि सोम ने परमात्मा की प्रतीक्षा करते हुए यह याचना की है कि तुम्हारे सिवा इस संसार में कौन उसका रक्षक है –

"तवाहं देव देवेश्वर! तवाहं विश्व विश्वेश्वरः।

पिता त्वं तात! पाता त्वं महामांगल्य माता त्वम्।।

त्वमसि बन्धुः सखा भ्राता त्वमसि सर्वोऽपि सर्वेश्वर।

तवाहं मामकीनस्त्वं, त्वमापिर्वेद्य वेत्ता त्वम्।।"[2]

'विरहिणी' में भी जीवात्मा परमात्मा से मिलन की प्रतीक्षा करती हुई कहती है –

"कब अपनेपन को छोड़ रमूंगी राम में ?

कब अपने प्रिय की प्राण बनूंगी प्रियतमा ?"[3]

इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर जीवात्मा की प्रतीक्षा कबीर की विरहिणी की भाँति दिखाई देती है –

'कागद पर ढल–ढल रिक्त तीव्र उद्गार हुए।

टप–टप गिरकर रस–बिन्दु रसा की क्षार हुए।।

---

१. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १०६

२. सोम स्तोत्र सुधा – आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', सप्तम : प्रवाह, पृ०सं० ११६

३. विरहिरणी – आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ६८

चिन्तन चिन्ता में क्षरित विविक्त विचार हुए।

उद्विग्न खिन्न, उदभ्रान्त, क्रान्त आचार हुए।।'[1]

४. विभिन्न सम्बन्धों की उद्‌भावना –

दर्शन के इस प्रलयकाल में साधक अनुभव करता है कि इस दृश्यमान जगत् के समस्त पदार्थों में वह समाया हुआ है। उसके पश्चात् साधक अपने और प्रभु के सम्बन्ध ज्ञान का अनुभव प्राप्त करता है। वह उसको अनेक रूपों में देखता है। सर्वप्रथम प्रभु स्वामी बनकर रक्षा करने आता है उसके पश्चात् माता पिता के रूप में उपस्थित होता है। उसमें अपना अतुल स्नेह साधक रूप पुत्र को प्रदान करता है। इसके पश्चात पति पत्नी की सम्बन्ध भावना भी उत्पन्न होती है जो साधक को आराध्य के और निकट ले आती है। इसी दाम्पत्य भाव में उत्सुकता, सौन्दर्यानुभूति, करुणा, विरह आदि भाव उत्पन्न होते रहते हैं। आचार्य सोम ने अपनी कविताओं में इस सम्बन्ध ज्ञान की भावना का भी उल्लेख किया है –

'तुमसे मेरा शाश्वत नाता, तुम पिता, तुम्हीं मेरी माता।

सुत ने है आँचल पकड़ लिया, ज्यों बने तात अब अपनाओ।'[2]

सम्बन्ध भावना का कितना मार्मिक उल्लेख कवि सोम ने इन निम्नलिखित पंक्तियों में किया है –

'स्नेहिल राधा में कृष्ण छिपे हैं, कृष्ण अंक में श्री राधा।

आराधन में मत आने दो आराधक! किंचित भी बाधा।।'[3]

५. प्रभु से एकाकारिता –

रहस्यवादी भावना की अन्तिम स्थिति वह है जिसमें साधक को प्रभु में तन्मयी भावना की अनुभूति होती है। संसार यात्रा का जो पथिक (साधक) यहाँ की घाम

---

१. विरहिरणी – आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ७१
२. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १०६
३. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ३७

(सांसारिक कष्ट) सहकर प्रभु की चिर आरामदायिनी शीतल गोद मे पहुँच जाता है फिर उसे किसी प्रकार के सांसारिक कष्ट की अनुभूति नही होती। उस दिव्य लोक मे इतनी अधिक छाया है कि वह फिर वहाँ से लौटकर संसार मे नहीं आना चाहता –

'वह नियम–नियामक नियति–नाथ
वह दूर–दूर, वह साथ–साथ
सब पर जिसका है अभय हाथ
गा, गा, उस प्रभु की गेय गाथ
हो मग्न उसी में सानुराग।'[1]

x x x x

'पाकर तेरा पावन प्रसाद।
मैं मुक्त हुआ इस बंधन से, ले रहा आज आनन्द स्वाद।।
है निकल रहे इस जिह्वा से तेरे ही प्रभुवर! यशोगान।'[2]

x x x x

"आ रही धार, बंध रहा तार।
वह कृष्ण सहज आकर्षण से ही खींच रहा गोपिका प्यार।
इन्द्रिय–इन्द्रिय मन ओर चली मन–ज्ञान–ध्यान है प्रकृति पार।
तर्कणा–वितर्क यहीं बिखरी आनन्द मग्न है सद्विचार।
आनन्द अस्मिता में डूबा, अस्मिता बनी संस्कार–सार।
संस्कार चित्त को दे प्रसाद, प्रज्ञा में भरते ऋत उदार।
संस्कार, सहजतम प्रज्ञा के पा गये कृष्ण में निज निरोध।
अब कहां क्रोध ? अब कहां मोह ? अब कहां शोक व्यापी विरोध ?
नद–नदी प्रवाही वारि राशि हो गई सिन्धु पाकर प्रशान्त।
मिल गई ज्योति में ज्योति, दूर है अब आच्छादक मलिन ध्वान्त।।'[3]

---

१. संध्या संगीत – आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ0सं0 २८
२. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ0सं0 १८६
३. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ0सं0 १५६

'विरहिणी' महाकाव्य के अन्तिम सर्ग 'आत्मगीत' में भी परमात्मा से मिलन के पश्चात् जीवात्मा कितनी आह्लादित है –

'भर रहा आज मधु अंग–अंग
बह रही चतुर्दिक मधु धारा
दे रही पुष्टि, दे रही तुष्टि
बन रही मनोरम श्रम हारा।'[1]

x x x x

'प्रियतम मेरे पास री, सखि।
अब न कहीं पर क्लेश–कुहासा, आज सफल मेरी अभिलाषा।'[2]

प्रत्येक रहस्यवादी के जीवन में मिलन की अवस्था आती है क्योंकि वह उसका परमलक्ष्य है। कवि 'सोम' की उपर्युक्त पंक्तियाँ कबीर की दाम्पत्य भावना से बहुत साम्य रखती हैं जिसमें कबीर ने परमात्मा से आत्मा के मिलन का उल्लेख किया है –

'दुलहनी गावहु मंगलाचार,
हम घरि आये हो राजा राम भरतार।।
तन रत करि मैं मन रति करि हूँ, पंचतत बराती।
रामदेव मोरे पांहुने आये मैं जोबन में माती।।'[3]

महामिलन की इस भावना को कवि सोम ने अन्यत्र भी प्रस्तुत किया है। उनकी वैदिक साहित्य सम्पदा का एक अमूल्य रत्न वैदिक विनयावली अभी अप्रकाशित है। इसमें भक्ति सम्बन्धी ५०० वैदिक मंत्रों का भावानुवाद है। उसी ग्रन्थ का माधुर्य संवलित एक गीत मिलन की समस्त सम्भावनाओं को व्यक्त करता है –

---

१. विरहिरणी – आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १६६
२. विरहिरणी – आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १७१
३. कबीर ग्रन्थावली, डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, पृ०सं० २८७

'तुम आओ मेरे सोम! उमा के साथ, छटा छिटकाते।
निज अचल शक्ति–समवेत सुधा की धार अजस्र बहाते।
शोभन छवि प्राण प्रदात्री ले अभिनव जीवन निर्मात्री ले।
मन्द ध्वनि मेघ समान तृप्त कर तृषा हर्ष बरसाते।'[1]

इस प्रकार समग्र विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनकी मुक्तक रचनाओं में भावना और कला का मणिकांचन योग है। 'जीवनगीत', 'भक्ति तरंगिणी', 'सोम सुधा', 'संध्या संगीत', 'भागवती आभा' आदि उत्कृष्ट काव्य संकलनों में जीवन के विभिन्न परिदृश्य प्रस्तुत कर कवि ने जहाँ एक ओर जीवन की समग्रता का परिचय दिया है वहीं उनकी सृजनात्मक दृष्टि निरन्तर भारतीय सांस्कृतिक आदर्शों के प्रति आस्थावान रही है। उसमें जीवन के शाश्वत मूल्य स्पन्दित हैं, अस्तु उनकी मुक्तक रचनायें भी कालजयी होने की सार्थकता सिद्ध करती हैं। भाव प्रवणता, काव्यानुभूति, भक्ति भावना, प्रकृति चित्रण, दार्शनिकता एवं रहस्यानुभूति आदि सभी दृष्टियों से उनकी मुक्तक रचनायें उत्कृष्ट हैं। अनास्था तथा संशय के इस वर्तमान युग में जहाँ उनकी कविताओं में तुलसी के गीतों की ध्वनि सुनाई पड़ती है वहीं निराला के समान उनकी राष्ट्रीय कविताओं में ओजस्विता एवं नव जागरण का संदेश भी मुखरित है। निश्चय ही वे एक श्रेष्ठ कवि हैं।

*****

---

१. आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', साधना और सर्जना (अभिनन्दन ग्रन्थ), सम्पादक – डॉ० शुक्ल, लेख (वेदव्रती आचार्य सोम – लेखक दीन बन्धु त्रिवेदी, पृ०सं० ३७६)

अध्याय ४

विरहिणी महाकाव्यः
काव्य संवेदना एवं वर्ण्य
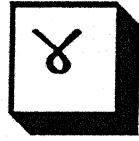
विरहिणी महाकाव्य: काव्य संवेदना एवं वर्ण्य

आचार्य मुंशीराम शर्मा "सोम" कानपुर जनपद के अप्रतिम साहित्यकार एवं कवि हैं। वे वैदिक साहित्य के मर्मज्ञ के रूप में स्वीकार किये जाते हैं। उनका समग्र जीवन वेदमय है। उनकी जीवनचर्या एवं चिन्तन धारा में उनके वैदिक अध्ययन का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। समीक्षापरक साहित्य में जहाँ एक ओर 'सूर सौरभ', 'भारतीय साधना और सूर साहित्य', 'सूरदास और भगवद्‌भक्ति', 'सारस्वत', 'भक्ति का विकास',

'साहित्य शास्त्र', 'तुलसी का मानस', 'हिन्दी साहित्य का उपोद्घात' आदि उनकी उल्लेखनीय उत्कृष्ट रचनायें हैं वहीं दूसरी ओर उनकी 'जीवनगीत', 'श्रुतिसंगीतिका', 'सोम सुधा', 'भागवती आभा' एवं 'विरहिणी' आदि रचनायें उनके कवि व्यक्तित्व की परिचायिका हैं। उनके साहित्य सृजन में ही नहीं वरन् उनकी दिनचर्या एवं चिन्तन धारा में भी वैदिक पद्धति का प्रभाव सतत व्यक्त हुआ है।

आचार्य सोम का काव्यक्षेत्र में अप्रतिम योगदान उनका 'विरहिणी' महाकाव्य है। यह काव्य हिन्दी के समस्त आधुनिक महाकाव्यों से भिन्नता रखता है। कथा विहीन होते हुए भी इसमें सृष्टि की एक शाश्वत कथा को लालित्यपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है। कवि का गम्भीर अनुचिन्तन एवं तलस्पर्शी अनुभूति अत्यन्त स्पृहणीय है। विषय विन्यास की दृष्टि से परम्परित महाकाव्य की परम्परा से यह काव्य भिन्न है। 'विरहिणी' आत्मा की पुकार है, अध्यात्म ज्ञान की विभिन्न वीथियों में रमण करने पर उस परमशक्ति से मिलने की व्यग्रता एवं आतुरता को जिस सहज भाव से कवि सोम ने व्यक्त किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। 'विरहिणी' कवि सोम की 'भागवती आभा' काव्य यात्रा की चरम परिणति है। विनयपूर्वक अपनी पत्रिका को प्रस्तुत करने का जैसा उदात्त भाव 'भागवती आभा' में प्रकट हुआ है उसकी एक अगली कड़ी 'विरहिणी' है। प्रस्तुत अध्याय में 'महाकाव्यत्व', 'कथ्य', 'दर्शन', 'काव्यानुभूति', 'प्रकृति चित्रण' एवं 'रहस्यानुभूति' की दृष्टि से 'विरहिणी' महाकाव्य का आंकलन करना ही हमारा अभीष्ट है।

(क) महाकाव्यत्व :

इसे काव्य की सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं गौरव गरिमा से मंडित विधा के रूप में स्वीकार किया गया है। इसमें जीवन–दर्शन की महत्वपूर्ण चेतनाओं, जीवन के समग्र पक्षों एवं काव्यरूपों का कलात्मक ढंग से चित्रण किया जाता है। प्राचीन काव्य चिन्तना में एवं पाश्चात्य विचारणा में सम्भवतः इसी आधार पर इस विधा को श्रेष्ठ माना गया है। संस्कृत कवियों ने महाकाव्यों का अध्ययन करके जीवन के उच्चतम आदर्शों को इसमें समाहित करने का प्रयास किया है। एतदर्श इस विधा पर प्रायः सभी संस्कृत, हिन्दी एवं पाश्चात्य आचार्यों ने गम्भीरता से विचार किया है।

महाकाव्य की परिभाषा निश्चित करने वाले प्रथम भारतीय आलंकारिक आचार्य भामह (पाँचवीं शताब्दी) हैं। उनके अनुसार लम्बे कथानक वाला महान चरित्रों पर आधरित नाटकीय पंच संधियों से युक्त, उत्कृष्ट और अलंकृत शैली में लिखित तथा जीवन के विविधरूपों और कार्यों का वर्णन करने वाला सर्गबद्ध सुखान्त काव्य ही महाकाव्य होता है।[1] आचार्य दंडी (छठी शताब्दी ई0) ने भामह की परिभाषा को समाविष्ट करते हुए महाकाव्य के बाह्य लक्षणों पर अधिक बल दिया है। आचार्य दंडी ने महाकाव्य को परिभाषित करते हुए कहा है –

सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम् ।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशोवापि तन्मुखम्।।
इतिहास कथोदभूत मितरद्वा सदाश्रयम्।
चतुर्वर्गफलोपेतं चतुरोदात्त नायकम्।।
नगरार्णव शैलतुं चन्द्रार्कोदय वर्णनैः।
उद्यानसलिल क्रीड़ा मधुरपानरतोत्सवैः।।
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदय वर्णनैः।
मंत्रदूत प्रयाणापि नायकाभ्युदैरपि।।
अलंकृतम संक्षिप्तं रसाभाव निरन्तरम्।
सर्गैरनति विस्तीर्णै श्रव्यवृत्ते सुसन्धिभिः।।
सर्वत्र भिन्न वृतान्तैरूपेतं लोकरंजकम्।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायेत सदलंकृतिः।।[2]

आर्य विश्वनाथ ने अपनी प्रसिद्ध कृति साहित्य दर्पण में युग परिवेश के अनुसार पूर्ववती धारणाओं एवं मान्यताओं से बहुत कुछ आगे बढ़ने का प्रयास किया है। महाकाव्य के लक्षणों को प्रतिपादित करते हुये आचार्य विश्वनाथ ने कहा –

---

१. आचार्य भामह, काव्यालंकार, १ : १६ : २१
२. आचार्य दण्डी, काव्यादर्श, १ : १४ : १६

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तागुणान्वितः।।
एकवंश भवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा।
श्रृंगारवीरशान्तानामेकाऽग्डी रस इष्यते।
अंगानि सर्वेऽपि रसः सर्वे नाटक संघयः।
इतिहासोद्भवं वृत्तं अन्यद वा सज्जनाश्रयम्।
चत्वारः तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं लभेत्।
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तु निर्देश एव वा
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुण कीर्तनम्।
एक वृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्य वृत्तकैः।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घा सर्गाः अष्टाधिकाः इह।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते।
सर्गान्ते भावि–सर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्।
सन्ध्या–सूर्येन्दुरजनी प्रदोषध्वान्त वासराः।
प्रातर्मध्यान्ह मृगया शैलतुं वनसागराः।
संभोगविप्रलम्भौ च मुनिः स्वर्ग पुराध्वराः।
रणप्रयाणोपयम् मंत्र–पुत्रोदयादयः।
वर्णनीया यथायोग्यं सांगोपांगा अमी इह।
कवेर्वृत्तस्य व नाम्ना नायकस्येतरस्य वा।
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्वनाम तु।
अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यान संज्ञकाः।
प्राकृतैर्निर्मिते तस्मिन सर्गा आश्वास–संज्ञकाः।[1]

पाश्चात्य आचार्य अरस्तू ने त्रासदी के सम्बन्ध में महाकाव्य के लक्षणों की अप्रत्यक्ष रूप से चर्चा की है। उनके अनुसार –

---

१. आचार्य विश्वनाथ, साहित्य दर्पण, षष्ठ परिच्छेद, पृ0सं0 ५४६ – ५५०

'Tragedy then is an imitation of action that is serious, complete and of a certain magnitude, in language embellished with each kind of artistic ornament, the serveral kinds being found in separate parts of the play in form of action, not of narrative, through pity and fear effecting the proper catharsis or purgation of these emotions.'[1]

अर्थात् "त्रासदी किसी गम्भीर, स्वतःपूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है जिसका माध्यम नाटक के भिन्न–भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है जो सभाख्यान रूप में न होकर कार्य व्यापार रूप में होती है और जिनमें करूणा और त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।"

आधुनिक युग के आलोचक एल एवरक्राम्बी का कहना है "बड़े आकार के कारण, ही कोई काव्य महाकाव्य नहीं हो जाता। जब उसकी शैली महाकाव्य की शैली होगी तभी उसे महाकाव्य माना जायेगा और वह शैली कवि की कल्पना, विचारधारा तथा उनकी अभिव्यक्ति में जुड़ी रहती है। इस शैली के काव्य (महाकाव्य) हमें एक ऐसे लोक में पहुँचा देते हैं जहाँ कुछ भी महत्वहीन और असारगर्भित नहीं होता है। महाकाव्य में एक पुष्ट स्पष्ट और प्रतीकात्मक उद्देश्य होता है जो उसकी गति का आद्यन्त संचालन करता है।"[२]

इसी प्रकार सी० एम० बावरा ने महाकाव्य को परिभाषित करते हुए कहा "महाकाव्य वृहदाकार कथात्मक काव्यरूप है जिसमें कुछ महत्वपूर्ण और गरिमायुक्त घटनाओं का वर्णन होता है ओर जिसमें कुछ चरित्रों के क्रियाशील और भयंकर कार्यों से भरे जीवन की कथा होती है। उसके पढ़ने से हमें एक विशेष प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है क्योंकि घटनायें और पात्र हमारे भीतर मनुष्य की महत्ता, गौरव और उपलब्धियों

---

१. डा० नगेन्द्र, 'Prof. Butcher' – अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ०सं० ८७
२. Abercrombie, The Epic, page no. 41 - 42.

के प्रति दृढ़ आस्था उत्पन्न करते हैं।"[1]

इस संदर्भ में मैकलीन डिक्सन ने महाकाव्य के स्वरूप को विवेचित करते हुए लिखा हैं "यद्यपि महाकाव्य का एक निश्चित स्वरूप होता है पर इसे संकीर्ण लक्षणों के बन्धन में नहीं बाँधा जा सकता। उदाहरणार्थ शास्त्रीय महाकाव्य का यह नियम कि उसमें कल्पित और अविश्वसनीय आश्चर्य के तत्व नहीं होने चाहिए यदि दृढ़तापूर्वक लिया जाय तो अनेक महान् महाकाव्यों को महाकाव्य की श्रेणी से निकाल देना पड़ेगा।"[२] मैकलीन डिक्सन ने स्वच्छन्दतावादी समीक्षक वाल्टेयर के मत को उद्धृत करते हुए लिखा है कि "महाकाव्य में घटना का महती या गरिमापूर्ण होना ही अनिवार्य शर्त है।"[३]

हिन्दी साहित्य कोश के प्रथम भाग में महाकाव्य की सारगर्भित परिभाषा दी गयी है – "महाकाव्य वह छन्दोबद्ध कथात्मक काव्यरूप है जिसमें संक्षिप्त कथा–प्रवाह या अलंकृत वर्णन अथवा मनोवैज्ञानिक चित्रण से युक्त ऐसा सुनियोजित सांगोपांग और जीवन्त लम्बा कथानक हो जो रसात्मकता या प्रभावान्विति उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ हो सके जिसमें यथार्थ, कल्पना या सम्भावना पर आधारित ऐसे चरित्र या चरित्रों के महत्वपूर्ण जीवन वृत्त का पूर्ण या आंशिक रूप से वर्णन हो, जो किसी युग के सामाजिक जीवन का किसी न किसी रूप में प्रतिनिधित्व कर सके, जिसमें किसी महत्प्रेरणा से अनुप्राणित होकर किसी महदुद्देश्य की सिद्धि के लिए किसी महत्वपूर्ण गम्भीर अथवा रहस्यमय और आश्चर्योत्पादक घटना या घटनाओं का आश्रय लेकर संश्लिष्ट और समन्वित रूप से जाति विशेष या युग विशेष के समग्र जीवन के विविध रूपों, पक्षों, मानसिक अवस्थाओं और कार्यों का वर्णन और उद्घाटन किया गया हो और जिसकी शैली इतनी गरिमामयी और उदात्त हो कि युग–युगान्तर तक महाकाव्य को जीवित रखने की शक्ति प्रदान कर सके।"[४]

---

1. Bowra, C.M., From Virgil to Milton, Page no. 18.
2. Dixon, Mcneil, English Epic & Heroic Poetry, Page no. 18 - 19.
3. Ibid, Page no. 9.
४. डा० धीरेन्द्र वर्मा, प्रधान संपादक, हिन्दी साहित्य कोश (प्रथम भाग), पृ०सं० ६२७

इस प्रकार महाकाव्य में महत् उद्देश्य, गुरूत्व महाकार्य, सुसंघटित जीवन्त कथानक, महत्वपूर्ण नायक, गरिमामय उदात्त शैली, तीव्र प्रतिभान्विति एवं अनवरूद्ध जीवनी–शक्ति रहती है। आज की परिवर्तित स्थितियों में महाकाव्य के स्वरूप में भी परिवर्तन के चिन्ह स्पष्ट होने लगे हैं और बहुत से बन्धन प्रायः शिथिल हो गये हैं। अन्त में वाल्टेयर के इस कथन से सहमत हुआ जा सकता है जिसमें उसने घटना का महती या गरिमापूर्ण होना उसकी अनिवार्य शर्त माना है। डा0 नगेन्द्र ने पाश्चात्य समीक्षक लांजिनस के उदात्त सिद्धान्त के आधार पर महाकाव्य के पाँच वर्ग स्वीकार किये हैं – १. उदात्त कथानक, २. उदात्त कार्य, ३. उदात्त भाव, ४. उदात्त चरित्र, ५. उदात्त शैली।[1] डॉ0 नगेन्द्र की भाँति डॉ0 भगीरथ मिश्र ने भी महाकाव्य के चार तत्व स्वीकार किये हैं महान कथानक, महान चरित्र, महान सन्देश और महान शैली।[2]

इस प्रकार आज के परिप्रेक्ष्य में महाकाव्य की प्राचीन अवधारणा में बहुत कुछ परिवर्तन हुआ है और हिन्दी के अधिकाँश समीक्षक महाकाव्य सम्बन्धी प्राचीन अवधारणाओं को नकार रहे हैं। इसी नवीन आधार पर मुंशीराम शर्मा के 'विरहिणी' महाकाव्य की परीक्षा करना हमारा यहाँ प्रतिपाद्य है।

उदात्त कथानक :

विरहिणी महाकाव्य में १२ सर्ग हैं जिन्हें क्रमशः परमपुरूष, आत्मपुरूष, अवतरण, रचना, विनय, विरह, आश्वासन, साधना, उत्क्रमण, दर्शन, स्वर्ग, आत्मगीत आदि संज्ञा से अभिहित किया गया है। कथा को उसके स्थूल और व्यावहारिक रूप में ग्रहण करें तो सम्पूर्ण काव्य में एेसा कोई तत्व नहीं मिलेगा जो उसे एक कहानी बना सके किन्तु आध्यात्मिकता के जिस धरातल को इस काव्य में स्पर्श किया गया है उसमें पात्रों के सूक्ष्म शरीर उनका व्यक्तित्व और क्रियात्मकता अपने वर्तमान रूप में अनुभवगोचर होकर उपस्थित है।[3] इस महाकाव्य के प्रथम सर्ग में वैदिक मंत्रों के आधार पर उस परम

---

१. डा0 सुरेश अग्रवाल एवं डा0 जगदीश शर्मा, भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, पृ0सं0 ६४
२. डा0 सुरेश अग्रवाल एवं डा0 जगदीश शर्मा, भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, पृ0सं0 ६६
३. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', साधना और सर्जन (अभिनन्दन ग्रन्थ), डॉ0 आनन्द प्रकाश दीक्षित, लेख – 'उदात्त आध्यात्मिक महाकाव्य विरहिणी', पृ0सं0 १२२

पुरूष का स्वरूप वर्णित है। परमपुरूष की महिमा और असीम शक्ति, एक और अनेक, मनुष्य की अज्ञता आदि का वर्णन किया गया है। आत्मपुरूष के अन्तर्गत आत्मा के विभिन्न रूपों, ब्रह्म तथा आत्मा की एकता, माया आदि का वर्णन किया गया है। अवतरण सर्ग में सृष्टि रचना, देवों का अधिष्ठान, ब्रह्माण्ड, भूख–प्यास आदि वृत्तियों के जागरण आदि का वर्णन है। रचना सर्ग में सृष्टि के प्रति विस्मय और जिज्ञासा आदि का वर्णन करते हुए कवि ने विभिन्न योनियों और जन्मों का वर्णन किया है। इसी क्रम में "विनय" सर्ग में आत्मा का एकाकीपन परमपुरूष के प्रति उसकी लौट आने की आकांक्षा, संसार के भ्रमित रूप से अपनी रक्षा करने की प्रार्थना वर्णित की गयी है। विरह सर्ग में आत्मा की विरहानुभूति की चर्चा कवि ने विस्तार से की है। विरह के पश्चात् "आश्वासन" सर्ग में आत्मा आश्वस्त हो जाती है कि सम्भवतः इसका लक्ष्य समीप आ गया है। आश्वासन की भावना के जाग्रत होने के पश्चात आत्मा प्रभु का सामीप्य लाभ प्राप्त करने के लिए साधना की ओर अग्रसर होती है। बाहर और अन्दर के प्रकाश के प्रति आत्मा की जिज्ञासा तीव्र होती चली जाती है। इस भूमि पर चलते हुए अष्ट चक्र की साधना के द्वारा कुंडलिनी के जागरण से आत्मा अधोराति से उर्ध्वमुखी होने लगती है। इसीलिए नवें सर्ग का शीर्षक है उत्क्रमण। इसके पश्चात् दर्शन सर्ग में आत्मा के उल्लास और आशा के स्वर सुनाई पड़ते हैं। दिव्यमन, विज्ञान–सदन और आनन्द भवन से होते हुए मंगल मिलन की बेला आ जाती है और मंगलगान होने लगता है। स्वर्ग सर्ग अहं और त्वं की एकता का निरूपक है। अन्त में "आत्मगीत" में आत्मा के आह्लाद की चर्चा की गयी है। इस प्रकार आध्यात्मिकता का आवरण प्रदान करते हुए कवि सोम ने कथा का ताना–बाना प्रस्तुत किया है। इस काव्य के प्रत्येक सर्ग का अपना अस्तित्व है और समग्र रूप से एक कथा विन्यास की सुगम्फित योजना भी इसमें विद्यमान है। इस महाकाव्य की यह विशेषता है कि किसी भी लौकिक कथा के न रहते हुए भी उसमें निरन्तर उसकी अनुभूति बनी रहती है। इस दृष्टि से 'विरहिणी' कथा विन्यास की दृष्टि से एक सफल महाकाव्य है।

उदात्त कार्य :

उदात्त कार्य से आशय उदात्त उद्देश्य से है। कोई न कोई महाकाव्य किसी

विशिष्ट उद्देश्य की सम्पूर्ति हेतु कवि द्वारा लिखा जाता है। महाकाव्य के दो प्रधान उद्देश्य हो सकते हैं प्रथम उन्नत जीवन दर्शन तथा द्वितीय संजीवनी शक्ति प्रदान करने की क्षमता। इन्हीं दो उद्देश्यों को लेकर संस्कृत के विविध महाकाव्यों का प्रणयन हुआ है। विरहिणी भी इस दृष्टि से सफल है। क्योंकि इसमें कवि सोम ने जीवन के लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार की चर्चा की है। यही जीवन की चरम उपलब्धि है। आत्मा परमात्मा से मिलने की आतुरता से प्रतीक्षा करती है। आचार्य सोम ने इस कथा के द्वारा उसका सम्मिलन भी प्रस्तुत किया है। अस्तु एक महान उद्देश्य को लेकर ही इस महाकाव्य की रक्षा हुई है।

उदात्त भाव :

जीवात्मा को परमात्मा के जिस वियोग की अनुभूति होती है वह सार्वभौम है, उसे किसी देश और काल की सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता है। अपने पूर्व जन्म के संस्कारों के बल पर प्रत्येक देश और काल की आत्माओं ने प्रभु–वियोग की व्याकुलता का असह्य अनुभव किया है। मिल्टन और दान्ते ने पृथक–पृथक देश और भिन्न–भिन्न काल से सम्बद्ध होते हुए भी पैराडाइज़ लॉस्ट तथा डिवाइन कॉमिडी में समान अनुभूति की अभिव्यक्ति की है। यही उदात्त भाव "विरहिणी" महाकाव्य में कवि सोम ने व्यक्त किया है। ये सभी काव्य कथात्मकता लिये हुए हैं जबकि विरहिणी कथाविहीन है फिर भी इसमें कथा–विन्यास की एक सुनिश्चित नियोजना हुई है। हिन्दी साहित्य के प्रायः सभी कवियों ने जीवात्मा एवं परमात्मा के विरह वर्णन में आख्यायिकाओं का सहारा लिया है।

उदात्त चरित्र :

विरहिणी महाकाव्य में उदात्त चरित्र की नियोजना है। जीवात्मा परमात्मा से सानिध्य प्राप्त न कर पाने पर वेदना का अनुभव करती है। जीवात्मा, परमात्मा, अयोध्या, सीता, रावण आदि प्रतीकात्मक चरित्र हैं। इनकी प्रतीकात्मकता ही मूलतः उजागर हुयी है।

उदात्त शैली :

विरहिणी महाकाव्य रस और भाषा दोनों ही दृष्टियों से उत्कृष्ट है। कवि सोम ने इसमें शान्त रस का ही प्रयोग किया है। भक्ति रस की छटा सर्वत्र परिलक्षित है किन्तु विरह विदग्धता के कारण श्रृंगार का भी अपूर्व संयोग हुआ है। विभिन्न छन्दों में काव्य की रचना होने से उसे जितना महत्व दिया जा सकता है उससे कहीं अधिक महत्व इस बात में है कि उन छन्दों का सुचारु और विभिन्न लयात्मक निर्वाह करते हुए कवि ने इसमें सांगीतिकता की सृष्टि की है और उनके गीतों में तो अपूर्व माधुर्य की सृष्टि हुई है। शिल्प के इस कौशल से रचना को ऐसा बल मिल गया है कि नाना रसों और उनके भावानुभावादि की खोज में तत्पर चित्त को भी उनका इस रूप में उपस्थित न होना अखरता नहीं अपितु गीतों का माधुर्य मन पर एक अमिट छाप छोड़ देता है। भाषा की दृष्टि से कवि ने तत्सम प्रधान शब्दावली का प्रयोग किया है। कहीं कहीं भाषा में छायावादी कविता की अनुगूँज सुनाई देती है। कवि सोम ने भाषा को लालित्य एवं परिपुष्ट बनाने के लिए लोकोक्तियों एवं मुहावरों का भी प्रयोग किया है। कवि ने शिल्प विधान में कहीं परम्परित आधार भी ग्रहण किया है। षड्ऋतु वर्णन एवं विरह की एकादश अवस्थाओं का उल्लेख भी रचना को प्रभावी बनाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। अन्त में डॉ0 आनन्द प्रकाश दीक्षित के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि – "हम इतना ही कहना चाहेंगे कि ज्ञान और अध्यात्म के साथ भाव भक्ति से सिक्त 'विरहिणी' काव्य एक उदात्त आध्यात्मिक महाकाव्य है जिसमें महाकाव्य की रीतियों का पालन पूर्ण करने का प्रयत्न भले ही न हो, उदात्त उद्देश्य, उदात्त कथन शैली, उदात्त भाव विचार और उदात्त भाषा का सर्वत्र निर्वाह हुआ है और इसी में इसका महाकाव्यत्व है, उदात्त महाकाव्यत्व।"[1] निस्संदेह विरहिणी एक उदात्त आध्यात्मिक महाकाव्य है।

(ख) कथ्य :

आचार्य मुंशीराम शर्मा रचित "विरहिणी" महाकाव्य एक उत्कृष्ट काव्य है जिसमें कवि ने परम्परागत कथा विन्यास को न चुनते हुए एक अभिनव प्रयोग किया है। यह

---

१. डॉ0 आनन्द प्रकाश दीक्षित, आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', साधना और सर्जना (अभिनन्दन ग्रन्थ), लेख – 'उदात्त आध्यात्मिक महाकाव्य : विरहिणी, पृ0सं0 १३७

काव्य शुद्ध–रूप से वैदिक शैली पर आधारित है। वेदों में भी आख्यायिकाओं के माध्यम को अपनाया नहीं गया है। 'विरहिणी' की भूमिका में कवि ने स्वयं लिखा है – "कामना और भावना कल्पना के साथ मिलकर विरह की जिस चित्रपटी का निर्माण करती हैं, उसमें एक नहीं नाना चित्र समाविष्ट होते हैं।" यही अनुभव करके 'विरहिणी' के कवि ने 'विरह' शीर्षक सर्ग के आदि में ही लिखा है –

मेरे मानस की कान्त किशोरी कामना,
इस सरल हृदय की भव्य भावनी भावना।
मिल एक सूत्र में बंधी कामना–भावना,
मधु स्वाद चखेगी युगल–मिलन की कल्पना।।[1]

'विरहिणी' महाकाव्य में बारह सर्ग हैं, जिन्हें क्रमशः परमपुरूष, आत्मपुरूष, अवतरण, रचना, विनय, विरह, आश्वासन, साधना, उत्क्रमण, दर्शन, स्वर्ग और आत्मगीत कहा गया है। आत्मा के इस आरोहावरोह की कथा को सर्ग–क्रम से देखें तो उसकी चार स्थितियाँ बहुत स्पष्ट हो जाती हैं, जिनके माध्यम से कथा का समुचित और सन्तुलित विकास होता है। वे चार स्थितियाँ, क्रमशः संयोग, वियोग, उद्योग एवं उपलब्धि हैं।

सर्ग क्रम में 'परमपुरूष' के अन्तर्गत वैदिक मन्त्रों के आधार पर उस परमपुरूष का स्वरूप वर्णित है जिससे उसका द्रष्टा रूप, उसकी महिमा, मनुष्य की अज्ञता, एक और अनेक, समष्टि और व्यष्टि, उससे वियुक्त होने में कष्ट, उसका गुणगान तथा विश्वक चेतना के सम्प्रसार का वर्णन किया गया है। उक्त वर्णन से उसकी असीम शक्ति और उसकी तटस्थता, दोनों का परिचय प्राप्त होता है। 'आत्मपुरूष' के अर्न्तगत आत्मा के विभिन्न रूपों ब्रह्म तथा आत्मा की एकता, माया आदि का वर्णन किया गया है और वैदिक मन्त्र "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" के आधार पर ब्रह्म, आत्मा तथा विश्व के रूपक को प्रस्तुत किया गया है। "अवतरण" सर्ग में सृष्टि–रचना, देवों का अधिष्ठान, ब्रह्माण्ड,

---

१. आचार्य सोम, विरहिणी, पृ०सं० ११

भूख–प्यास आदि वृत्तियों का जागरण, अन्नमयादि विविध कोष वर्णित हैं, और साथ ही देवों के द्वारा शरीर में अधिष्ठान के लिए आत्मा का आवाह्न भी वर्णित है। 'रचना' सर्ग सृष्टि के प्रति विस्मय और जिज्ञासा–भाव से आरम्भ होता है, 'कामस्त्तदग्रेवर्ततताधि' – के अनुसार पहले उसकी उपस्थिति का और फिर स्वेदजादि अनेक योनियों के द्वारा विविध जन्मों का वर्णन किया गया है। इस समस्त क्रम का ज्ञान उपलब्ध हो जाने पर 'विनय' सर्ग में आत्मा का अकेलापन, परम पुरूष के पास उसकी लौट जाने की तीव्र आकांक्षा, संसार के भ्रम–जाल से अपने बचाव की प्रार्थना तथा 'विरह' सर्ग में उसकी प्रकृष्ट विरहानुभूति और आकुलता को स्थान मिला है। धीरे–धीरे इतना गहन विरह सहन करने पर एक आश्वस्ति–भाव आता है, जिसे 'आश्वासन' सर्ग में प्रकट किया गया है। यहाँ आकर लगने लगता है कि गन्तव्य बस निकट ही आ गया है, प्रिय की नगरी समीप ही जान पड़ने लगती है, और अधिक अनुताप अनावश्यक जान पड़ता है। किन्तु, यही वह भूमि है जहाँ स्खलन संभव है, जहाँ आश्वस्त का भटक जाना आश्चर्यजनक नहीं, अतएव उस आश्वस्तता तक ही जाकर कार्य–व्याकुलता समाप्त नहीं हो जाती उसके भी आगे 'साधना' की भूमि है जिसके लिये तैयार रहना आवश्यक है। यहाँ आत्मज्ञान का प्रयत्न और प्रभु के सामीप्य का संकत चलता रहता है, बाहर और अन्दर के प्रकाश के प्रति जिज्ञासा प्रखर हो जाती है, त्रिक और चैतन्यशक्ति आदि का ज्ञान होता है। इस भूमि पर चलते हुए और योग की अनवरत साधना करने पर अष्टचक्र की साधना के द्वारा कुण्डलिनी शक्ति के जागृत होने पर आत्मा का अधोगति में अवतरण से अब उत्क्रमण होने लगता है। इसीलिये नवें सर्ग का शीर्षक है 'उत्क्रमण'। अनन्तर 'दर्शन' सर्ग में उत्क्रमण की सफलता के कारण उल्लास और आशा का स्वर सुनाई पड़ता है, तन के दमन के द्वारा मन–महल पर अधिकार होता है। दिव्य मन, विज्ञान–सदन और आनन्द–भवन से होते हुए मंगल–मिलन की बेला आ जाती है और मंगलगान होने लगता है। 'स्वर्ग' सर्ग अहं और त्वं की एकता का निरूपक है, शोधक–बोधक दिव्य–धाम और इन्द्रलोक का परिचय प्रस्तुत करता है। अन्त में आह्लाद की दशा में स्फुरित 'आत्मगीत' प्रस्तुत है।

'विरहिणी' काव्य के प्रत्येक सर्ग का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भी है और समग्रतया

एक कथा–विन्यास की चारूता भी उसमें दिखाई देती है। उसकी इसे विशेषता ही कहा जायगा कि किसी भी लौकिक कथा के न रहते हुए भी उसमें निरन्तर उसकी प्रतीति बनी रहती है और कहीं ऐसा नहीं लगता कि वस्तु विन्यास में असंगठन है। यों उसमें शान्त और भक्ति रस ही सर्वत्र परिव्याप्त हैं, किन्तु विरह विदग्धता के कारण श्रृंगार के पक्ष–विशेष की छटा भी सम्मिलित है। साथ ही यह भी कि वह शुद्ध विरह ही है और आन्तरिकता को प्रकट करता है, शारीरिकता और अनुभावादि की योजना के बिना भी उसका अपना प्रभाव अंकित हुए बिना नहीं रहता। विभिन्न छन्दों में काव्य की रचना होने से उसे जितना महत्व दिया जा सकता है, उससे भी कहीं अधिक इस बात का महत्व है कि उन छन्दों का सुचारू और विभिन्न लयात्मक निर्वाह करते हुए कवि ने उनमें सांगीतिकता का सन्निवेश कर दिया है ओर उसके गीतों में तो माधुरी छलकी ही पड़ती है। शिल्प के इस कौशल से रचना को ऐसा बल मिल गया है कि नाना रसों ओर उनके भावानुभावादि की खोज में तत्पर चित्त को भी उनका उस रूप में उपस्थित न होना अखरता नहीं, बल्कि उलटे मन गीत–माधुर्य में डूबता उतराता रहता है और एक गूँज है जो पाठक के मन में भर जाती है, उसके मन की रिक्ति को भर देती है।

आरम्भिक चार सर्गों की रचना मुख्यतः वेदोपनिषदादि के अध्ययन से प्राप्त ज्ञान पर आधारित है और उसमें व्यापकता से लेकर अणु–परमाणु तक के अस्तित्व और उससे उत्पन्न विविधता, भिन्नता और द्वैत आदि को उन्हीं रूपकों में स्पष्ट भी किया गया है। स्वयं कवि ने अपनी भूमिका में विस्तार से इस पृष्ठभूमि को स्पष्ट कर दिया है। इन चार सर्गों की सामग्री में रूपकों का सहारा लेकर पुरातन अश्वत्थ वृक्ष, परमात्मा और जीव रूपी पक्षी, ब्रह्माण्ड और हिरण्यगर्भ पुरूष, पिण्ड और ब्रह्माण्ड को तो प्रस्तुत किया ही गया है, अथर्ववेद में स्वर्ग अथवा हिरण्यय कोश कहलाने वाले मानव शरीर के शिरोभाग को नन्दन–वन का रूपक भी दिया गया है। शरीर के आठ चक्रों और नव द्वारों तथा सहस्रार की चर्चा भी है। साथ ही अथर्ववेद के सूक्त "अष्टचक्रा नवद्वारा देवनामपूरयोध्या। तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः।" के आधार पर अयोध्या, राम और सीता तथा उनके विरोधी पक्ष का रूपक भी परमात्मा, आत्मा तथा विरोधी वृत्तियों को स्पष्ट करने के लिये इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है –

"अयोध्या के सुवर्ण पर बनी,

आज रावण की लंका स्वर्ण।

राम की सीता अपहृत हुई,

कट गये वृद्ध गृद्ध के पर्ण। ६०–२ ।

सुमति देने आया, तो पड़ा, विभीषण पर भी पाद–प्रहार।

कहाँ हो अंगद, ओ हनुमान? करो लंका को बंटाढार।। ६१–२ ।।

अयोध्या की लक्ष्मी है पड़ी, क्रूरकर्मा दानव आधीन।

शान्ति का छिन्न–भिन्न साम्राज्य, भटकती है सुर–संस्कृति दीन।। ६२–२ ।।"[1]

विवश आत्मा–सीता के हाथ, विवश है हृदय बुद्धि आक्रान्त।

पराजित अपराजित यशमयी, अवतरण से उन्नति–पथ भ्रान्त।। ६२–२ ।।

खुलेगा देव कोष कब मुंदा? मिलेंगे कब फिर सीता–राम?

मरण में आवेगा कब अमृत? अयोध्या होगी पूर्ण प्रकाम?।। ६७–२ ।।

पराजित होगा रावण–पतन, उन्नयन–राम जयश्री–युक्त।

स्वर्ग में होगी ज्योति विकीर्ण, बनेगी आत्मा बन्धन–मुक्त।। ६८–२ ।।

भ्राजमाना यश से परिवृता, ज्योतिषावृता, प्रेम से प्लुता।

अवतरण–क्षीण, विरहिणी दीन, प्राणप्रिय से होगी संयुता।। ६६–२ ।।[2]

'रचना' सर्ग के उपरान्त और 'विरह' सर्ग के बीच 'विनय' सर्ग यद्यपि अपने विस्तार में अत्यन्त लघु शरीरी है, किन्तु अपनी उपस्थिति से वह जैसे 'विरह' सर्ग की दृढ़ भूमिका तैयार करता है, वैसे ही ज्ञान–पक्ष से भाव–पक्ष की ओर यात्रा भी वहीं आरम्भ होती है। ज्ञान के प्रतिफलस्वरूप ही जीव में मिलन की अभिलाषा जागृत हुई है और साथ ही उसे अपनी लघुता और सीमा का ज्ञान भी हुआ है, अतएव विनय की जागृति भी स्वाभाविक है। विनय मार्ग से बढ़ते हुए कदम ही जीव को उस तीव्र विरहानुभूति तक ले जायेंगे। वस्तुतः 'विनय' अलग सर्ग तो है, किन्तु 'विरह' का ही एक अंश–सा है और उसे 'अभिलाष–हेतुक' विरह से युक्त कहा जा सकता है। इस सर्ग का

१. आचार्य सोम, विरहिणी, पृ०सं० ३६
२. आचार्य सोम, विरहिणी, पृ०सं० ३७

मुख्य स्वर आत्मपीड़ा का नहीं, आत्मदीनता का है, जिसमें आत्म–परिष्कार की इच्छा, प्रभु की उदारता और शक्तिमत्ता, तथा प्रार्थना का सम्मिलित स्वर सुनाई पड़ता है। आत्मा कभी उसे प्रकाश में देखना चाहती है, कभी उसके पाप–निवारक तथा अन्तर्यामी स्वरूप का ध्यान करके उससे प्रार्थना करती है और कभी उसके संस्पर्श पाने की ललक और याचना में अपने आपको खोने लगती है। पाप निवारक से उसकी प्रार्थना है –

मेरे पाप निवारक स्वामी,
मेरे बन्धन ढीले कर दो, मुक्त हो सकूँ अन्तर्यामी ।

x x x

मार्ग विमल हो, बनूँ व्रती मैं, प्रेम–क्षेम की हो अधिकारी।
पावनता, ऋजुता, स्वतन्त्रता, समता हों मेरे सहचारी।[1]

"विरहिणी" का विरह तो जीवात्मा का विरह है, जो परमात्मा के वियोग में व्यथित और व्याकुल है। "विरहिणी" की विरह–वर्णन–प्रणाली जायसी, सूर, तुलसी, हरिऔध और मैथिलीशरण की विरह–वर्णन–प्रणाली से सर्वथा भिन्न है। यद्यपि ग्रन्थ में परम्परागत षड्ऋतु वर्णन है तथा प्रकृति के अन्य उपादानों का भी उल्लेख हुआ है, तथापि वह प्राचीन परिपाटी से सर्वथा भिन्न है। इस सन्दर्भ में यह ग्रन्थ एक अभिनव पद्धति का सूत्रपात करता है।

जीवात्मा, जो परमात्मा के सान्निध्य से बिछुड़ कर इस लोक में आती है, पुनः परमात्मा के मिलन के लिए व्याकुल बनती है। उसी व्याकुल जीवात्मा के विरह का वर्णन ग्रन्थ के षष्ठ सर्ग में हुआ है। यह विरह वर्णन, जितनी उत्कृष्ट पीठिका पर आधृत होना चाहिए, कवि 'सोम' ने उस पर उसे ले जाने की बराबर चेष्टा की है। वैदिक वाङ्मय के गम्भीर अध्ययन के कारण ही कवि इतनी सफलतापूर्वक उसका वर्णन कर सका है। जब ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय और ग्रन्थकार दोनों में भावजगत का साम्य हो तो निस्सन्देह ग्रन्थ सफल होता है। "विरहिणी" का वर्ण्य विषय वैदिक है और वर्णनकर्ता

---

१. आचार्य सोम, विरहिणी, पृ०सं० ७१

का सम्पूर्ण जीवन भी वैदिक ऋचाओं के अनुशीलन में ही बीत रहा है। अस्तु, इसे मणि–कांचन–योग ही कहा जा सकता है।

व्यथित विरहिणी आत्मा अपने परमपति के वियोग में दुःखातिरेक से व्याकुल हो रही है। वह पुनः अपने प्रियतम (परमात्मा) की संगिनी बनने के लिए बेचैन है। कवि कहता है –

यह व्यथित विरहिणी पुनः परमपति प्रणयिनी।
पावे प्रिय प्रेम–प्रसाद बने संयोगिनी,
यह पुण्य–अधः से ऊर्ध्व लोक–गति–रोहिणी।
यह धर्म युक्त हों दो वियुक्त जिस कर्म से,
यह मर्म सुरक्षित देव–वरण के वर्म से ।।[1]

मधुरिम मधुमास आता है। प्रकृति का अंग–प्रत्यंग आनन्दोल्लास से आपूर्ण है, पर विरहिणी (आत्मा) को आनन्द कहाँ ? अपने प्रियतम परमात्मा से वियुक्त वह मधुमास के आगमन पर हर्ष का अनुभव कैसे करे ? बिना प्राणप्रिय के सान्निध्य के कैसा मधुमास ? वह कहती है –

प्राणप्रिय का कब होगा साथ ? कटेंगे बंधन काल कठोर।
खिलेगा मलिन म्लान मन कभी प्राप्त कर उनकी करूणा–कोर।
आज भू पर बसन्त की प्रभा, छिपा है मेरा कहाँ बसन्त ?
प्रकट हो, कर देता है क्यों न, आज ही, अभी, दुःखों का अंत।।[2]

इसमें तीव्र विरह के उपरान्त 'आश्वासन' की भूमि प्राप्त होने लगती है। 'प्रिय की नगरी नियराई' और 'आ गया पदतल' में गन्तव्य का अनुभव होने लगता है। पीड़ा धीरे–धीरे पुलक में बदलने लगती है। विश्वास जागने लगता है। 'उत्सुकता कल्लोलिनी' उमड़कर बह निकलती है और जैसे कोई केवट के हाथ नाव छोड़कर

---

१. आचार्य सोम, विरहिणी पृ०सं० ६६
२. आचार्य सोम, विरहिणी पृ०सं० ७२

निश्चित हो जाये अपने आपको वैसे ही समर्पित करके आत्मा निश्चिन्तता का अनुभव करती है। प्रपत्ति में मग्न होने लगती है और 'खड़े हुए सम्मुख भगवान' दिखाई देने लगते हैं, सारे आवेग शान्त होने लगते हैं। 'साधना' और 'उत्क्रमण' के मार्ग से होते हुए अन्ततः वह शिखर पर चढ़ ही जाती है, सहस्रार का आनन्द प्राप्त करके रहती है –

अयि तपस्विनी ! तू जिस पथ से इस शरीर में आयी थी,
खुलते गए कपाट द्वार के, तू तम–मध्य समाई थी।
यह अधोमुखी यात्रा तेरी, भूली तू निज रूप यहाँ।
ऊर्ध्वमुखी बन चढ़ी शिखर पर, ऐसा तप–व्रत प्राप्त कहाँ।[1]

अन्ततः 'दर्शन' की वह भूमि आती है जहाँ पहुँचकर 'नवल प्रभात' का उल्लास फैल जाता है, सारी प्रकृति और चेतना उसी से युक्त हो जाती है, देवोत्थान होता है और असुरों का दमन हो जाता है। नयी आशा में सभी आवरण हटने लगते हैं और योग के अन्तर्गत गृहीत प्राण–धारणा को समझते–समझाते तन–दमन से मन–महल, विज्ञान–सदन और आनन्द–भवन से होते हुए मंगल–मिलन होता है। 'स्वर्ग' की विभूति का एक सर्ग में वर्णन होने और देव–दर्शन हो जाने पर आत्मा की यात्रा पूरी हो जाती है। अद्वैत की स्थापना हो जाती है –

आज सब केवल आत्मस्वरूप, दृश्य–द्रष्टा, चिति–चेत्य अभेद,
आज एकत्व, आज अद्वैत, आज आनन्द, अजेय अछेद।[2]

इस अद्वैत और अवर्णनीय को जानते हुए भी कवि ने उसका इतना वर्णन केवल इस उद्देश्य से किया है कि अवर्णनीय की स्तुति से अपने मन का थोड़ा–बहुत समाधान हो सके, थोड़ी बहुत शान्ति प्राप्त हो सके।

इसी हेतु मैं द्वैत पक्ष में गुण गण गाऊँ,

---

१. आचार्य सोम, विरहिणी, पृ०सं० ७४
२. आचार्य सोम, विरहिणी, पृ०सं० ७६

उसकी संस्तुति से अधीर मन को समझाऊँ।
सगुण क्षेत्र का स्वर्ग उसी की झलक दिखाता,
इसी झलक में भक्त परम प्रभु की द्युति पाता।[1]

इस द्युति का वर्णन करते करते उसे जो सुखकर प्राप्ति होती है, वही उस के अन्तः सुख में परिणत होकर आत्मगीतों की हार्दिकता और तल्लीनता में गेय हो उठती है। 'विरहिणी' का अन्तिम सर्ग 'आत्मगीत' इसी आत्मानन्द से युक्त है। इस प्रकार कथ्य की दृष्टि से 'विरहिणी' एक सफल काव्य है। कवि ने आख्यान का आश्रय न लेकर भी उसे कथात्मक रूप प्रदान किया है। वैदिक शैली पर आधारित यह अभिनव प्रयोग स्तुत्य है।

(ग) दर्शन :

आचार्य मुंशी राम शर्मा ने अपने सम्पूर्ण जीवन–दर्शन के लिए युग के अनेकानेक पाश्चात्य एवं भारतीय मनीषियों के विचारों का विश्लेषण किया है। 'साहित्यशास्त्र' में भी साहित्य सम्बन्धी विविध प्रचार बिन्दुओं को समझाने के लिए उन्होंने संस्कृत तथा हिन्दी के भी कुछ प्रवर समीक्षकों के अतिरिक्त पश्चिमी साहित्याचार्यों में मुख्यतः क्रोंचे, प्लेटो, अरस्तू, फ्रॉयड, इलियट आदि को चुना है। वैदिक दृष्टि को वे निरन्तर आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि के साथ जोड़ते चले हैं और अनेक स्थलों पर साम्य का विवेचन किया है जिससे जीवन के शाश्वत और सार्वभौम तत्वों का बोध होता है।

आचार्य मुंशीराम शर्मा वैदिक साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान हैं। वास्तव में वैदिक साहित्य को सर्वजन सुलभ करने और सर्वथा मौलिक तथा अनूठी व्याख्या करने के लिए आचार्य शर्मा श्रद्धा के योग्य हैं। सोम की अनवरत साधना और अप्रतिम मेधा के कारण ही हिन्दी जगत् के वैदिक साहित्य पर उनकी अधिकाँश कृतियाँ प्रकाश में आयीं। जीवन में भौतिकवादी तथ्यों को महत्व देने वाले काव्यों में विलासिता एवं श्रृंगार की

---

१. आचार्य सोम, विरहिणी, पृ०सं० ७५

भावना का आधिक्य रहता है। डॉ० शर्मा इस प्रवृत्ति को सहज मानते हुए सुसंस्कारित काव्य सृजन को अधिक महत्व देते हैं। 'विरहिणी' शुद्ध रूप से आध्यात्मिक पीठिका पर आधारित अलौकिक जगत् की झाँकी प्रस्तुत करने वाला अनूठा ग्रंथ है। उनका वैदिक वाङ्मय का अध्ययन 'विरहिणी' महाकाव्य में सर्वत्र आलोकित हो उठा है। उनका यह काव्य आत्मा की पावनता से प्रोज्ज्वल है।

वस्तुतः वैदिक चिन्तन से सोम जी को दो विशेष उपलब्धियाँ हुईं। प्रथमतः उन्होनें अपनी वाणी को परमेष्ठित बना लिया एवं द्वितीयतः उन्होंने परा एवं परमानुभूति द्वारा मोक्ष पथ का सम्यक बोध एवं परिदर्शन कर लिया। ब्रह्मानुभूति के लिए प्रथम कर्तव्य है त्रिगुणात्मक आवरण का बोध एवं उनसे परे पहुँचने का प्रयत्न। आचार्य सोम ने 'वैदिकी' में इस तथ्य का उद्घाटन करते हुए लिखा है "तम या प्रमाद रज या क्रिया से दूर होता है। रज का चांचल्य सत्य में समाविष्ट होने से हटता है और सत्य का परदा प्रभु के प्रति पूर्ण समर्पण–भावना से पृथक होता है।"[१]

सोम जी कर्म, ज्ञान एवं भक्ति को भी आवरण नाशक मानते हैं पर कर्म और ज्ञान दोनों ही अहम्मन्यता से आक्रान्त रहते हैं। सोम जी के अनुसार इसे भक्ति भावना ही शान्त करती है। भक्ति प्रभु के आगे समर्पण है, अपने अहं का शमन या विलियन। कोई शक्ति मेरे ऊपर है, इस भावना से अहंकार का प्रशमन होता है। अहं के विलियन पर ही त्वं दिखाई देता है। सः दूर है, अहं किसी को देखने नहीं देता। इस सः की दूरी और अहं का असामर्थ्य त्वं के सामने आते ही तिरोहित हो जाते हैं।[२] सामवेद का यह निर्देश है –

'त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रमो वभूविथ। अथाते शुम्नमीमहे।'[३]

आचार्य सोम के श्वास–श्वास में वेद चिन्तन होता है। इसका प्रमाण है उनका

---

१. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', वैदिकी, पृ०सं० ३१६
२. आचार्य 'सोम', वैदिकी, पृ०सं० ३१७
३. सामवेद, ११/७०

विपुल वैदिक बोध, उनके ग्रन्थ और उनकी नैष्ठिक दिनचर्या। इनसे भी अधिक है पुष्ट प्रमाण, उनकी निर्लिप्तता का धारावाही चिन्तन। इन्द्रिय बोधी शरीर से कर्म, ज्ञान एवं भक्ति में रत रहते हैं किन्तु वे आत्मा में इनसे लिप्त नहीं हैं। यही तो आत्मा का निर्लेप है। यदि कहीं लिप्तता है तो 'सोम' एवं 'ओम्' में। 'सोम' 'ओम्' में लिप्त है और 'ओम्' 'सोम' में। अन्ततः यही सोम के चिन्तन का स्रोत है।

आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम' ने 'विरहिणी' महाकाव्य में आत्मा की निश्छल पुकार तथा इस परमतत्व से मिलने तक की उत्कंठा को द्वादश सर्गों के माध्यम से व्यक्त किया है। इस महाकाव्य में कवि का अद्वैतवादी चिन्तन सर्वत्र व्यक्त हुआ है। उस परम पुरूष का गुणगान इस महाकाव्य के प्रथम सर्ग में किया गया है जिसे सगुण, निर्गुण, गुण रहित, गुणगान आदि सभी कुछ रूपों में व्यक्त किया गया है।

'विरहिणी' आचार्य प्रवर का एक प्रख्यात महाकाव्य है, जिसमें विरहिणी आत्मा का परमात्मा से मिलन का प्रयास वर्णित है। परमात्मा से जीवात्मा के वियोग का सफल वर्णन भारतीय साहित्य में ही नहीं, अन्य साहित्यों में भी हुआ है। आचार्य प्रवर का यह महाकाव्य भी उसी श्रेणी में आता है।

प्रकृति से पार होकर श्रेष्ठतर निज रूप पा जावें,
जिसे सब श्रेष्ठतम कहते उसी में फिर समा जावें।[१]

आत्मा–परमात्मा का यही मिलन जिसमें पुरूषार्थ–चतुष्टय की चरम परिणति मानी गयी है, हमारे जीवन का चरम लक्ष्य स्वीकार किया गया है।

'विरहिणी' में संयोग, वियोग, उद्योग और उपलब्धि नामक चार स्तर हैं। परम–पुरूष, आत्म–पुरूष, अवतरण, रचना और विनय, संयोग के प्रतीक, विरह वियोग का प्रतीक, आश्वासन, साधना और उत्क्रमण उद्योग के प्रतीक तथा दर्शन, स्वर्ग और आत्मगीत

---

१. विरहिणी, आचार्य 'सोम', पृ०सं० ४३

उपलब्धि नामक चतुर्थ स्तर के द्योतक हैं। 'परम पुरूष' नामक प्रथम सर्ग में उसी परब्रह्म परमात्मन का गुणगान है जिसे पूर्ववर्ती मनीषियों ने सगुण, निर्गुण, विरोधी गुणों से ओत–प्रोत, इन्द्रियातीत आदि कहा है। वह परम पुरूष अगति, गतिशील, गुणरहित, गुणवान्, अनादि, अजन्मा, अनन्त, निराकार, निर्विकार आदि सभी कुछ है। 'विरहिणी' के इस सर्ग में उस परम पुरूष के अनिर्वचनीय रूप का ही गुणगान है। द्वितीय सर्ग में आत्म–पुरूष अथवा जीवात्मा के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है। वैदिक साहित्य से लेकर आधुनिक काल तक के सभी मनीषियों ने आत्मा को चेतन, अजर, अमर, आद्यन्तहीन, अणु–सदृश आदि माना है। 'विरहिणी' के कवि के शब्दों में भी आत्मा का यही स्वरूप है –

ग्रह चिति ही चेतनता ही आत्मस्वरूप है।
यह अजर अमर आद्यान्तहीन, वपु–भूप है।
अणु सदृशी आत्मा पिंड–पिंड में व्याप्त है।[1]

उपनिषदों की कल्पना है कि आत्मा और परमात्मा नामक दो पक्षी इस बह्माण्ड अथवा विश्व–वृक्ष पर समान रूप से आसीन हैं –

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्ष परिषस्वजाते।[2]

'विरहिणी' में भी यही भाव इन पंक्तियों में व्यक्त हुआ है –

परमात्मा–आत्मा–विहग, विश्व के वृक्ष पर,
आसीन, किन्तु उभयान्तर है बहु भेदकर।
परमात्मा द्रष्टा, विरत वृक्ष–फल–स्वाद से,
जीवात्मा भोक्ता कर्म–शुभाशुभ–वाद से।[3]

---

१. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', विरहिणी, पृ०सं० २३
२. श्वेता, ४/६
३. आचार्य सोम, विरहिणी, पृ०सं० २६

'अवतरण' सर्ग में सृष्टि के विधान की व्यंजना हुई है। माया के आवरण में लिपटी हुई आत्मा और रावण द्वारा अपहृत सीता का रूपक अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। 'रचना' सर्ग में सृष्टि–रचना का वर्णन है, जिसके अन्तर्गत स्थावर, जलचर, पक्षी पशु, कीट, मनुज, आदि सभी प्राणियों का तथा विभिन्न ब्रह्माण्डों का वर्णन है। 'विनय' सर्ग में जीवात्मा द्वारा अन्तर्यामी प्रभु की विनय है। इस विनय के अन्तर्गत अनुकूल का संकल्प, प्रतिकूल का वर्जन, प्रभु की रक्षा का विश्वास, आत्म निक्षेप आदि विनय के सभी शास्त्रीय अंगों का विधान है। 'विरह' सर्ग में वियोगिनी आत्मा का करूण–क्रन्दन अपनी चरम सीमा को पहुँच गया है। इसमें लौकिकता तथा आध्यात्मिकता का अनूठा सम्मिश्रण है। कवि के ही शब्दों में "इस सर्ग की अनुभूतियाँ मूलतः आध्यात्मिक होते हुए भी लौकिकता का संस्पर्श कर रही हैं। इसका एक मात्र कारण है हम सबका लौकिक संभार की बहुलता द्वारा आच्छादित होना। उस अज्ञात एवम् अलौकिक को हम अपनी ज्ञात लौकिक सरणि द्वारा ही तो ग्रहण करने का यत्न किया करते हैं।" विरह के पश्चात् 'आश्वासन' है। यह सर्ग प्रभु के सान्निध्य का आश्वासन देता है।

समर्पण, पूर्ण समर्पण जिसका चरम लक्ष्य है, 'एक हो जाना प्रियतम–पास' ही प्रभु के सान्निध्य का अन्तिम लक्ष्य है। मानों यही कवि का सन्देश है। अष्टम सर्ग में साधना का स्वरूप वर्णित है। कवि ज्ञान–कर्मपंखों वाली गुर्वी आत्मा को सम्बोधित करता हुआ कहता है –

तू क्यों पिंजर में बद्ध? उड़ाने भर न्यारी,
उन्मुक्त व्योम में कर विहार मंगलकारी।[1]

साधना का मार्ग अत्यन्त दुस्तर है। जब शिव–संकल्प–व्रती मन अन्तर्मुखी वृत्ति में रमता है तभी आत्मा प्रकाशित होती है और अंतः प्रकाश के पथ से ही आत्म–ज्योति का दर्शन होता है। 'साधना' के पश्चात् 'उत्क्रमण' उसके पश्चात् 'दर्शन' सर्ग है। एकादश सर्ग 'स्वर्ग' है और द्वादश सर्ग जो अन्तिम सर्ग है, 'आत्मगीत' है। सच्चिदानंद

---

१. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', विरहिणी, पृ०सं० १२०

प्रभु को प्राप्त कर आत्मा कितनी प्रसन्न है। प्रभु के कमल–चरणों की प्राप्ति के उपरांत किसी प्रकार की आकांक्षा शेष नहीं रही –

बड़ी पुरानी कीर्ति–कामना प्रभु–दर्शन से सफल हुई
अब न रही कांक्षा की कर्दम, तृष्णा–तटिनी विमल हुई।[1]

कविवर 'सोम' ने बन्धन–पाशों से मुक्त होकर आनन्दानुभव से हर्षित जीवात्मा के आह्लाद का वर्णन करते हुए चतुर्दिक मंगलमय वातावरण का इस प्रकार चित्रण किया है –

नभ प्रसन्न, प्रसन्न भू है, वायु नृत्य विभोर,
अग्नि विद्युत, सूर्य की द्युति का न ओर न छोर।
हर्ष से उन्मत्त जल के बीच बीचि–हिलोर,
कर रहे हैं तरू लता निज प्रेम व्यक्त अथोर।
भूमि कहती है, हुआ इसका यहीं पर प्रात,
यह यहीं खेली, बढ़ी, कर पुष्ट अपने गात।
प्रेम का इसके हुआ विकसित यहीं जलजात,
आज मेरी लाड़िली का शान्त झंझावात।[2]

प्रकृति अपने पाशों से आबद्ध कर जीवात्मा को परमात्मा से जब वियुक्त कर देती है, तो जीवात्मा को सर्वत्र कष्ट की कारा ही दृष्टिगत होती है और वह अपने को नरक की यातना से प्रताड़ित अनुभव करती है। 'विरहिणी' के आत्मपुरूष सर्ग में रचयिता ने इस भाव को अभिव्यक्ति दी है –

---

१. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', विरहिणी, पृ०सं० १७३
२. आचार्य सोम, विरहिणी, पृ०सं० ८६

हैं दोनों सयुजा सखा कल्प कल्पान्तर से,

है भेद कराती प्रकृति नरोत्तम का नर से।

छवि छटा दिखाकर, गाकर मादक श्वासों में,

कर लेती है आबद्ध प्रकृति निज पाशों में।।

तब कहीं स्वर्ण श्रृंखला, रजत के रज्जु कहीं,

तब कहीं लोहे के निगड़, मोद का नाम नहीं।

बन्दी गृह में पड़े जीव विवश परतन्त्र दुःखी।

क्या करे सोम का स्रवन? स्वयं है परोन्मुखी।।[1]

मन के अशांत रहने पर स्वर्ग भी नरक के समान प्रतीत होता है। यही भाव 'विरहिणी' महाकाव्य में भी अभिव्यक्त हुआ है। रचयिता उस विरहाकुला जीवात्मा को सम्बोधित कर रहा है, जो अपने उद्विग्न मन के कारण स्वर्ग को भी बन्दीगृह के समान अनुभव करती है –

स्वर्गधाम भी बन्दीगृह है, दिव्य भोग, परतन्त्र यहीं।

इसमें कहाँ निवृत्त बन्ध से, तू भी यहां स्वतन्त्र नहीं।।[2]

मिल्टन व्यथा के तिमिराच्छादित वातावरण में प्रकाशमय आनन्द के प्राकट्य का अनुभव करते हुए लिखते हैं –

"But now at last the sacred influence of light appears, and from the walls of Heaven shoots far into the bosom of dimnight --

A glimmering dawn."[3]

विरहिणी महाकाव्य की जीवात्मा की व्यथा भार से मुक्त होती हुई पूर्ण तृप्ति का

---

१. आचार्य सोम, विरहिणी, पृ०सं० ४६

२. आचार्य सोम, विरहिणी, पृ०सं० ७६

३. आचार्य पंडित मुंशीराम शर्मा 'सोम', साधना और सर्जना (अभिनन्दन ग्रन्थ), संपादक, डॉ० प्रेम नारायण शुक्ल, 'मिल्टन एवं मनीषी सोम' निबन्ध से उद्धृत – लेखक डा० गिरिजा शंकर मिश्र, पृ०सं० ४१६

अनुभव करती है –

> आज हर्षित हैं प्रकृति के अंग अंग अमेय,
> आज माँ की कुक्षि सफला आज गायन गेय।।[1]

जीवात्मा को परमात्मा के बिना वियोग की अनुभूति होती है, यह सार्वभौमिक सत्य है। मिल्टन ने 'पैराडाइज लॉस्ट' में जिस दार्शनिक सत्य की प्रतिष्ठा की है, 'विरहिणी' महाकाव्य में उसी सत्य को प्रतिस्थापित करने का प्रयास कवि सोम ने किया है। अद्वैतवादी चिंतन की काव्यात्मक अभिव्यक्ति 'विरहिणी' है जिसमें अन्ततोगत्वा जीवात्मा एवं परमात्मा के मिलन एवं तादात्म्य की स्थिति का वर्णन कवि ने आनन्दवादी विचारधारा के परिप्रेक्ष्य में किया है। निश्चय ही अद्वैतवादी चिंतन का काव्यात्मक चरमोत्कर्ष 'विरहिणी' महाकाव्य में अभिव्यक्त हुआ है।

(घ) काव्यानुभूति :

आचार्य सोम आधुनिक युग के श्रेष्ठ कवि एवं साहित्यकार हैं। प्राचीनता एवं नवीनता का सम्मिश्रण उनके काव्य में इसी तथ्य से प्राप्त है कि उन्होंने वैदिक चिन्तन को काव्य रस से आप्लावित कर दिया है। अपने ग्रंथ 'भक्ति का विकास' की भूमिका अंश में वे लिखते हैं "बाल्यावस्था से ही अन्तः सलिला सरस्वती के समान वह महनीय परमसत्ता मुझे आकर्षित करती रही है।"[2] सोम जी के इस कथन में उनकी काव्यानुभूति का विषय भी स्पष्ट है। सरस्वती की साधना ही सोम जी का विषय है तथा महनीय परमसत्ता ब्रह्म का आराधन ही प्रयोजन है। गोस्वामी जी ने अपनी काव्यानुभूति का प्रयोजन 'रघुपतिगुणगान' माना था। इसी प्रकार रवीन्द्र नाथ टैगोर अपने गीतों का प्रयोजन उस परमसत्ता की अर्चना मानते थे। इस प्रकार सोम जी को तुलसी और टैगोर की परम्परा का कवि मानने में हमें कोई ऊहापोह नहीं होना चाहिए।

काव्यानुभूति के सन्दर्भ में आचार्य सोम ने अपने 'साहित्यशास्त्र' ग्रंथ में लिखा है

---

१. आचार्य सोम, विरहिणी, पृ०सं० १६०
२. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', भक्ति का विकास, भूमिका अंश से उद्धृत

"कवि की अनुभूति उसके सीमित व्यक्तित्व से निकलकर विश्व–मानस के साथ एक हो जाती है। अनुभूति के इन क्षणों में कवि का मन समस्त वैयक्तिक उत्सर्गों से शून्य अपने विशुद्ध रूप में रमण करता है। उसकी अनुभूति इसीलिए व्यापक सर्वहृदयानुवेद्य होती है।"[१] 'साहित्यशास्त्र' ग्रंथ में वर्णित एक समीक्षक के विचारों को यदि हम उनकी कविता में परीक्षित करने का प्रयत्न करें तो हमें यह स्पष्ट आभासित होगा कि कवि ने 'विरहिणी' में जिस विवेच्य विषय को उठाया है उसके साथ सम्पूर्ण न्याय किया है।

कवि की समग्र मौलिक रचनाओं की यदि वर्गीकरण की दृष्टि से स्थापना करें तो उनकी समस्त रचनायें तीन शीर्षकों में विभाजित की जा सकती है। १. ईश्वर, २. मानव, ३. प्रकृति। विश्व के किसी भी महान काव्यकार ने इन विषयों को निश्चय ही अपने काव्य में संस्पर्श किया है। कवि 'सोम' के मानस में समग्र सृष्टि एवं उसके सम्पूर्ण स्पन्दन अपनी मूल सत्ता से आध्यात्मिक सत्ता में रूपान्तरित हो गये हैं। कवि अपनी तीनों प्रकार की रचनाओं में कहीं भी उस परमसत्ता से विच्छिन्न नहीं होता है। कवि की चेतना में अध्यात्म की पूर्ण व्याप्ति है। कवि का यह आध्यात्मिक राग कभी राष्ट्रीय भावना में व्यक्त होता है और कभी प्रकृति के प्रेम के रूप में, कभी राष्ट्रीय भावना से अनुप्राणित महापुरूषों के प्रति श्रद्धा के रूप में और कभी उस मंगलमय शक्ति के प्रति भक्ति के रूप में। कुछ विद्वानों का मत है कि आध्यात्मिक भावना के प्रति निष्ठा का भाव व्यक्ति को दुर्बल बना देता है। डॉ० सोम के जीवन और साहित्य में इस भ्रम का सहज निवारण हो जाता है। इस प्रकार आध्यात्मिकता ही सोम के काव्य की आधार शिला है।

आचार्य सोम की सभी काव्य कृतियों में यों तो प्रभु के प्रति समर्पण भाव हार्दिक उल्लास और भक्ति की तरंगिणी प्रवाहित है, किन्तु अध्यात्म ज्ञान की विभिन्न वीथियों में रमण करने और उस परम शक्ति से मिलन के लिये अनवरत और अबाध रूप में हृदय के आन्दोलित रहने का जैसा अनुभव उनके आध्यात्मिक महाकाव्य 'विरहिणी' में और विनय–पूर्वक अपनी पत्रिका प्रस्तुत करने का जैसा अमल प्रणत–भाव 'भागवती आभा' में

---

१. आचार्य सोम, साहित्यशास्त्र, पृ०सं० १५

प्रकट हुआ है, वह विशिष्ट ही है।

'विरहिणी' बारह सर्गों में लिखा गया वह आध्यात्मिक काव्य है जिसमें जीवात्मा उस परमपुरूष से मिलन के लिए आकुल–व्याकुल दिखाई पड़ती है और जिसमें उसके अवतरण से लेकर उसके उत्क्रमण और मिलन तक की गाथा ही नहीं सृष्टि–रचना का रहस्य और उसकी प्रक्रिया तथा योग का साधना–पक्ष भी सम्मिलित है। वेद–मन्त्रों, गीता तथा उपनिषदादि के सतत अध्ययन, मनन और चिन्तन के परिणाम–स्वरूप उनके शब्द, भाव और विचार अनायास ही इस काव्य में सर्वत्र व्याप्त हो गये हैं, और इसीलिये इसके गहरे आस्वाद के लिये पाठक से विशिष्ट सहृदयता की अपेक्षा है। जो हाव–भाव अनुभाव के प्रदर्शन में ही रूचि रखते और रस लेते हैं, यह क्षेत्र उनके लिये नहीं है।

प्रेम और विरह तो काव्य का उसके आदि से ही उपजीव्य रहा है। महाप्रभु चैतन्य और अन्यान्य भावुक भक्तों ने उसे परमात्मा के प्रति निवेदित करके उसे उदात्तता की समुन्नत भूमि पर पहुँचा दिया, और वे कभी वात्सल्य–भाव से झूम उठे, कभी सख्य भाव ने उन्हें चंचल बना दिया, कभी वे दाम्पत्य की तरलता में बह गये। इसके लिये भारतीय और अभारतीय जैसी किसी देश–कालिक भिन्नता का कोई महत्व नहीं रहा। देश–विदेश में इस आध्यात्मिक प्रेम और विरह के अनेक गायक हुए। अपने अध्ययन–क्रम में कब पण्डित जी का मन इस प्रेम से बिंध गया, कुछ पता नहीं। परन्तु उन्होंने जब जो कुछ गाया उसमें इसी प्रेम और विरह की आभा थी। उन्हीं के शब्दों में "हृदय के किसी कोने को यह भावना कभी स्पर्श कर गई–ऐसा भासित होता है, क्योंकि स्वजनों की प्रेरणा के परिणाम–स्वरूप जो प्रथम गीत भगवती महाशक्ति ने लिखाया वह इसी विरह भावना से सम्बद्ध था।" और फिर आगे भी वे जो कुछ गाते रहे सब उसी भाव से आप्लुत होकर।

आत्मा का प्रयोग संस्कृत में पुल्लिंग में हुआ है, किन्तु दाम्पत्य–रूपकों में उसकी प्रतिष्ठा पत्नी–रूप में होने से उसे वहीं स्त्रीलिंगी रूप भी प्राप्त हुआ। भारतीय मानस ने प्रेम–निवेदन और विरहानुभूति के लिये सदैव स्त्री–जाति को ही आगे रखा। सूफियों

में आकर यह क्रम उलट गया। किन्तु उस काव्य से बाहर उसकी अन्यत्र प्रतिष्ठा नहीं हो सकी। परमात्मा से बिछुड़ जाने वाला आत्मन् भी इसीलिए स्त्रीलिंगी बना और उसी रूप में 'विरहिणी' काव्य में उसे प्रस्तुत भी किया गया है।

लौकिक विरहानुभूति को अथवा अलौकिक के प्रति निवेदित विरहानुभूति को कवियों ने प्रायः सीधे ढंग पर या उसे रूपक का बाना पहनाकर कथात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। इस अनुभूति की अभिव्यक्ति आख्यायिकाओं के माध्यम से पौराणिक शैली में की गयी। "सूर का सूरसागर, जायसी का पद्मावत, तुलसी का रामचरितमानस प्रभृति सभी कृतियों में इसी पद्धति को ग्रहण किया गया है। वैदिक वाङ्मय में आख्यायिकाओं का माध्यम नहीं है। वहाँ सीधी आत्मा की पुकार है। प्रस्तुत काव्य भी आख्यायिका के माध्यम से वंचित है। इसके ढाँचे में वैदिक शैली का प्राधान्य है।"

'विरहिणी' महाकाव्य की काव्यानुभूति का मूल विषय विरह ही रहा है। कवि ने वियोग की अभिव्यक्ति में आत्मा की व्याकुलता, विवशता, प्रतीक्षा, विपदा एवं संयोग–वियोग के मध्य अन्तर्द्वन्द को कलात्मक अभिव्यक्ति दी है। यह प्रारम्भ में ही कह दिया गया है कि 'विरहिणी' का विरह साधारण नायक एवं नायिका का विरह वर्णन नहीं है। अस्तु, कवि की काव्यानुभूति ने परम्परा को त्याग कर एक अभिनव पद्धति का अनुसरण किया है। कवि की काव्यानुभूति में आत्मा की विवशता को भी इस महाकाव्य में वर्णित किया गया है –

> मैं रोते–रोते मरी देव, कानों में पड़ी पुकार नहीं,
> है दृष्टि धुंध से भरी दीन पग क्षत–विक्षत, सामर्थ्यहीन।
> मन में न सहन की शक्ति रही, तन करण विवशता के अधीन,
> उत्थान–गमन प्रतिहत समस्त, अवशिष्ट रहा आधार नहीं।।[1]

---

१. आचार्य सोम, विरहिणी, पृ०सं० ७१

कवि की काव्यानुभूति में जहाँ एक ओर विवशता है वहीं वेदना की सघनता भी इसकी काव्यानुभूति की एक विशिष्टता है।

साहस गया, निराशा छाई फूल रहा है श्वास,
तन थर–थर कंपित मन विथकित, रहा न बल–विश्वास।[1]

आचार्य शर्मा एक सिद्धहस्त कवि हैं। 'विरहिणी' की प्रतीक्षा को जीवन्त बनाने के लिए कवि ने जिन शब्दों का चयन किया है और जिस प्रसंग की नियोजना की है वह निश्चय ही आधुनिक कविता में विरल है –

कब से भीषण भव यात्रा में, एकाकी दुःख झेला।
तुम्हीं बता दो, इस जीवन की कहाँ सुमंगल बेला?
मथुरा से गोकुल की दूरी, कहो दूर कब होगी?
कब दर्शन–वाणी से मुकुलित हो आश्वस्त वियोगी?[2]

इसी प्रकार 'विरहिणी' के मन में विद्यमान अन्तर्द्वन्द्व को कवि ने जिस रूप में व्यक्त किया है वह निश्चय ही कवि की सच्ची पुकार का द्योतक है। इन पंक्तियों से ऐसा आभासित होता है कि कवि ने उस विरहिणी की पीड़ा को स्वयं भोगा है –

मेरे तप से कब तक उनका सखी, मिटेगा रोष?
मेरा व्रत, मेरा सत उनको कैसे देगा तोष?
क्या मेरे दुख–दंशन–पीड़न उनके मन को भाते हैं?[3]

अन्तिम पंक्ति में विरहिणी का द्वन्द्व अपने चरणोत्कर्ष पर है ।

'विरहिणी' ग्रन्थ में आत्मा की व्याकुलता, विवशता, प्रतीक्षा, विपदा आदि नाना प्रकार की अनुभूतियों का अत्यन्त सफल चित्रण कवि ने किया है। यह बात निःसंकोच

---

१. आचार्य सोम, विरहिणी, पृ०सं० ७६
२. आचार्य सोम, विरहिणी, पृ०सं० ८३
३. आचार्य सोम, विरहिणी, पृ०सं० ७८

कही जा सकती है कि हिन्दी के अन्य किसी भी पूर्ववर्ती ग्रन्थ में काव्यानुभूति की नाना अभिव्यक्तियाँ इतने सफल रूप में नहीं प्रस्तुत हो सकी हैं। कवि ने जिस उद्देश्य को लेकर इस महाकाव्य का प्रणयन किया है उसमें उसे अभूतपूर्व सफलता मिली है। कवि का वैदिक शैली पर आधारित यह आख्यान निश्चय ही उसे एक उत्कृष्टता प्रदान करता है।

(ङ) प्रकृति चित्रण :

मानव और मानव–कृत पदार्थों के अतिरिक्त विश्व में जो कुछ रूपात्मक सत्ता दृष्टिगोचर होती है उसका चित्रण जब काव्य में किया जाता है तब उसे 'प्रकृति–चित्रण' कहते हैं। आकाश–मण्डल में चमकते हुए सूर्य, चन्द्र एवं तारे, अपनी उत्ताल तरंगों से पृथ्वी को क्षुब्ध करता हुआ समुद्र, क्षितिज को घेरते हुए धरा पर छा जाने वाले बादल, उनके वक्षःस्थल में चमक उठने वाले विद्युत–पुंज, धरती के अंचल पर अपना मस्तक उठाए हुए पर्वत–शृंग, घाटियों से निकलकर कभी मन्थर–गति से और कभी भयंकर वेग से गर्जन करती हुई सरिताएँ, हरी–भरी वनस्पतियां तथा उन्हें आन्दोलित करता हुआ पवन, वनों में उछलते–कूदते पशुओं के झुण्ड, धरा एवं आकाश के सन्देशों को पहुंचाने वाले कलरवशील पक्षियों के समूह ये सब–के–सब प्रकृति के अंग हैं।[1]

मानव–हृदय से निस्सृत आनन्द एवं अवसाद के निर्झरों की रमणीय विवृति ही काव्य है। कवि संवेदनशील कलाकार है। संस्काररूप में प्राप्त प्रकृति प्रेम कविता में उपेक्षित नहीं रह सकता। वह उभरकर आता है और काव्य को एक आकर्षक शोभा से मण्डित कर देता है। भावों का सहज उच्छलन प्रकृति के अवयवों का सम्बल लेकर काव्य में एक विलक्षण सौन्दर्य की सृष्टि करता है। प्रत्येक सफल कवि की कविता में प्रकृति–चित्रण किसी न किसी रूप में अवश्य रहता है।

आचार्य मुंशीराम शर्मा ने 'विरहिणी' महाकाव्य में 'विरह' सर्ग के अन्तर्गत

---

१. सम्पादक – उदयभानु सिंह, तुलसीदास, पृ0सं0 ६८

ऋतु–वर्णन के चित्र उपस्थित किये हैं जिसमें उन्होंने रीतिकालीन उद्दीपन पद्धति का आश्रय नहीं लिया है।

आचार्य सोम ने प्रकृति चित्रण में प्रकृति के विभिन्न रूपों की अभिव्यक्ति करते हुए परम्परित पद्धति से भिन्न प्रकृति के जो चित्र उपस्थित किये हैं उसमें एक अभिनव प्रयोग की जिज्ञासा है।

बसन्त की छटा को अनुभव करते हुए आत्मा अपने बसन्त की उपस्थिति के लिए प्रश्नाकुल हो उठती है, बसन्त की सुषमा उसके सामने खिल–खुलकर उपस्थित होती है, होली जैसे सर्वमान्य पर्व में रंग बरसने लगता है। दूसरी ओर अमराई में कोकिल का विरह विकल स्वर गूँज भरता है, आत्मा पाप–शाप की होली जलाकर अपने आपको बलि कर देना चाहती है। आरम्भ इस आकांक्षा के साथ होता है कि –

आज भू पर बसन्त की प्रभा, छिपा है मेरा कहाँ बसन्त?
प्रकट हो कर देता है क्यों न, आज ही अभी दुखों का अन्त।[1]

और, अन्त होता है इस आकांक्षा के साथ –

यदि अभिशाप पाप आये थे, बनकर मेरे अंग कभी,
तो हवि मेरी ही लो होली! हों प्रदग्ध दुःख दाह सभी।[2]

x x x

वह प्राचीन अमर्त्य बनेगा, असमीचीन मरण धर्मा?
पावेगा क्या कुगति कलुषिता, यह निरीह शोभनकर्मा?
दमकेगी क्या दीप्ति दानवी? सिसकेगी दिव्यता यहाँ?
घर्घर घोष उठेंगे नभ में, कहो, रहेगी शान्ति कहाँ?
नहीं, नहीं आओ ओ होली, मेरी बलि ले सबल बनो,
हाहाकार भस्म हों जिसमें, ऐसा ज्वाला–जाल तनो।[3]

---

१. आचार्य सोम, विरहिणी, पृ0सं0 ८२
२. तदैव, पृ0सं0 ८३
३. तदैव, पृ0सं0 ८७

इन दोनों के बीच बसन्त की प्रकृत शोभा भी अंकित है, और आन्तरिक उल्लास और विरह विह्वलता भी है। आन्तरिक उल्लास और प्रकृत शोभा के लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं –

कवि मानस में भाव हंस फुदकें, किलकोरें,
हुलसें हिय हंसिनी, जमाते निज–निज जोरें।

उठ–उठ कर अनुभाव, तार तन्त्री के तोरें,
सरस्वती के साथ हाथ विधि के झकझोरें।

आज खिल उठे अंग प्रकृति के फूले फूले,
रोम–रोम में हास छटा, छवि झूला झूले।[1]

x x x

भ्रमर भ्रमर सौरभित आम्र मंजरी वधू ले,
प्रेम पगे सुख सने पथिक अपना पथ भूले।

हरी–भरी वनराजि विराजित रंग रंगीली,
मटर–चणक–जौ–व्याज धरा की साड़ी नीली।

खिल सरसों दे रही बसन्ती आभा पीली,
सफल फसल निज देख कृषक की दृष्टि रसीली।

प्रकृति कपोलों पर गुलाब की आब विराजै,
गेंदा की लालिमा अधर द्युति देखत लाजै।

---

१. आचार्य सोम, विरहीणी, पृ०सं० ८६
२. तदैव, पृ०सं० ८०

राशि–राशि खिल रहे पुष्प, उपवन छवि छाजै,
नियति नटी जिनसे स्वरूप की सज्जा साजै।[२]

और विरह विह्वलता 'मेरी अमराई में' बजती कोकिल स्वर की शहनाई के कारण उत्पन्न प्रिय स्मृति और दुःख में कोकिल को समभागी मानने से प्रकट होती है –

अरे, न क्या यह मंगल बेला? विरह बाण कोकिल ने झेला?
पंचम स्वर में वही अकेला, बोल रहा हा–हा की हेला।
आ, समभागिनि, मिलकर भर दें, अश्रु विरह खाई में।
क्या न यहाँ वासन्ती वैभव? प्राण–पिकी का यह सकरूण रव?
उखड़ी साँस समीकरण का जब, फूल–फूल वण रक्त स्रव।
यहाँ कहाँ प्रिय? सब कुछ अप्रिय, प्रिय की पुरवाई में।

दिन पलटे पतझड़ के बीते, पर मैं मृत अपने ही जीते,
किसलय उधर,इधर रंगरीते, आवें, यदि आवें मनचीते।
डाल रही है मुझे प्रतीक्षा पीड़ा परूषाई में।[१]

उक्त पंक्तियों में 'साकेत' की पंक्ति "समुदुःखिनी मिलें तो उन्हें प्रणय पुरस्सर ले आ" का भाव भी है और 'निरख सखी ये खंजन आये' गीत का भी। स्मरण भी है और समवेदन, करूणा, आवेग, अनिष्ट और आशा की पुलक भी। साथ ही 'पवन' के प्रति यह दीन निवेदन भी अलग से है कि –

पवन बन वाहन चलो, तुम ले चलो प्रिय पास।

x x x

यह विशाल वियोग यात्रा, है अदृश्य विराम मात्रा।
मैं व्यथाकुल, शोक संकुल, विमल, विह्वल, गलित गात्रा।[२]
यदि मिला दो प्राण प्रिय से, दूर हो हति ह्रास।

---

१. आचार्य सोम, विरहिणी, पृ०सं० ८५
२. तदैव, पृ०सं० ८६

ग्रीष्म में हिम शीतल रूप भी तापकर लगने लगा है, मृगतृष्णा में भटकती आत्मा को तृष्णा से भी अधिक पीड़ा हुई है! फिर भी वह पाश–बद्ध रहकर भी निरन्तर उनके दर्शनों की प्यास लिए आगे बढ़ रही है, उसी आशा–डोर से बंधी है। तीव्र दाह का अनुभव करती है, किन्तु विश्वास नहीं टूटता, स्नेह घन के बरसने की आशा नहीं जाती, भले ही व्याकुलता गहरी होती जाती है। वर्षा में धरित्री भी वियोगमग्ना दिखाई देने लगी है, दुःख ही दुःख दिखाई देता है। 'तटिनी' का आन्दोलन स्वयं आत्मा के विकल और विचलित अन्तरान्दोलन से मेल खाता जान पड़ता है और दोनों में समानधर्मिता स्थापित प्रतीत होती है। वर्षा से भीगी धरित्री एक ओर तो इस रूप में दिखाई देती है कि आक्रमिता और विधृता जान पड़ती है –

अरे न प्रिय, दल व्याकुलता के, अश्रु झर रहे व्यथा हता के,
चमक–चिलक है अन्तस्तल में, किसी वियोग–विकल विधृता के।
अंकुर नहीं, किसी ममता ने तोड़–तोड़ कर केश गिराये।
मैं समझी थी पुलकित धरती, वाष्पमयी यह आहें भरती,
बाढ़–व्यथा में तिरती फिरती, अपना अंचल गीला करती।
नीचे ऊपर दुख ही दुख है, कहीं न सुख के दृश्य सुहाये।[1]

और कहीं हरी–भरी 'द्यावा–पृथ्वी' देखकर 'हरि–आभा' के निखरने की आशा और आकांक्षा जाग्रत हो उठती है।

शरद–वर्णन के साथ व्रत–पर्व के संस्कार जाग उठते हैं। उसके अलग–अलग तीन चित्रों में लेखक ने क्रमशः नवरात्र, दशहरा और करवाचौथ के व्रत को देखकर आत्मा द्वारा पुनः संकल्प कराया है कि प्रिय को प्राप्त करने के उसके व्रत में भी अब कोई विकल्प उपस्थित नहीं होगा। अहोई तथा धनतेरस जैसे पर्वों पर प्रिय का अनागमन उसके संकल्प को वियोग की जलन में परिणत कर देता है और ऐसा लगने लगता है कि –

---

१. आचार्य सोम, विरहिणी, पृ०सं० ८८

जलाती है प्रतिपल चाँदनी, दिखाते आँखें निशि के याम।
चण्डकर के प्रचण्ड कर मार, रूलाते हैं मुझको दिन वाम।
क्रूर से क्रूर रूप के साथ, सुखाती सूखे तन को घाम।
मारती तक–तक तीखे बाण, शरद सार्थक है तेरा नाम।[1]

लेकिन शीघ्र ही विरहिणी आत्मा को यह भी अनुभव होता है कि प्रकृति मनुष्य जाति की अपेक्षा अधिक आडम्बर–हीन तथा ईर्ष्या–द्वेष–विहीन है –

प्रकृति के ये अनूप उद्गार, न जिनमें आडम्बर का अंश।
कांस–कुश लम्बे लघु लहलहे, यशोमण्डित हैं पावन अंश।
यहाँ मस्तिष्क नहीं, है ह्रदय, कहाँ फिर भय, शंका, षड्यन्त्र?
प्रकृति में कहीं न ईर्ष्या–द्वेष, न कृत्रिमता–कृतघ्नता–तन्त्र।
यहाँ झरनों का झर्झर नाद, न यन्त्रों की घर्घर ध्वनि घोर।
यहाँ फूलों का कलकल हास, न श्रमिकों के रोदन का रोर।[2]

अतः शरद की शुभ्रता और स्वच्छता में उसे सब कुछ सरस दिखाई देने लगता है। प्रभु की प्राप्ति ही उसका लक्ष्य है, अतएव श्रमिकों का रोदन–रोर भी उसकी करूणा नहीं जगाता, भौतिकता के कारण अवहेलनीय बन जाता है और शरद के सौंदर्य पर रीझते हुए पुनः दीपावली के पर्व पर अन्य सबको त्यौहार मनाते, प्रसन्न होते देखकर उसकी वेदना कभी भाग्य–दोष की स्वीकृति में बदल जाती है या कभी प्रार्थना का स्वर उभर आता है –

मनाते मोद युवा, शिशु जरठ, देख मिष्ठान्ह, खिलौने, खील।
मनाऊँ मैं कैसे, अयमयी जड़ी है भाग्य–भाल में कील।
दीप! तुम जगर–मगर कर रहे, दिखा दो मुझको प्रिय का पंथ।
सिखा दो वशीकरण के मन्त्र, पढ़ा दो प्रेम–गीतिमय ग्रन्थ।[3]

---

१. आचार्य सोम, विरहणी, पृ०सं० ८५
२. आचार्य सोम, विरहणी, पृ०सं० ८६
३. आचार्य सोम, विरहणी, पृ०सं० ६२

और तीसरे में फिर शरद–सुषमा की ओर आत्मा लौट जाती है। हेमन्त का अकेला गीत उसे श्वेत सत्व की धारा बहाता हुआ अंकित करता है और वही अपना एक मात्र सहारा प्रतीत होता है। शिशिर के गीत में एक भिन्न ही रूप सामने आता है। ठण्ड से काँपता सिकुड़ता एक व्यक्ति ही जैसे मूर्तिमन्त हो जाता है और प्रातः से संध्या और रात्रि तक का पूरा चित्र सामने आ खड़ा होता है –

यह शिशिर अरे भय खाता, झोंके झेलता,
जा रहा मन्द कम्पित गति से किस ओर है?
यह अंक सिकोड़े, चादर ओढ़े, मुख ढके,
क्या सेंध लगाकर आया कोई चोर है?
क्यों आग तापता, वक्षस्थल नीचा किए,
क्या कोई मर्मन्तुद मानसी मरोर है?[१]

और इस माध्यम से अपने जीवन की पीड़ा और शून्यता का संकेत किया गया है। उस नैराश्य–नीहार से बचने के लिए प्रभु से प्रार्थना की गई है।

प्रकृति के सभी वर्णनों को यहाँ क्रमशः इसलिए उपस्थित किया गया है कि उससे कवि के चित्रण की भिन्नता और परम्परा के रक्षण की स्थिति का द्योतन कराया जा सके। इसमें पीड़ा की सांकेतिकता जितनी है, उतना उसका बाह्य वर्णन अथवा प्रदर्शन नहीं, बल्कि मात्र विरह वर्णन भी नहीं है, विरह की उद्दीप्ति के लिए प्रकृति के सौन्दर्य, उल्लास और विरह –पीड़ा का मिला–जुला अनुभव ही व्यक्त हुआ है।

प्रकृति से अलग भावोद्‌गारों को प्रकट करते हुए, और यदा–कदा उसमें योगादि दर्शनों का पुट देते हुए, विरह का दीर्घ वर्णन किया गया है। दो चार उदाहरण दे देना यहाँ उपयुक्त होगा।

---

१. आचार्य सोम, विरहणी, पृ०सं० ६१

विरह को अकेले झेलना पड़ता है, किन्तु विरही की बात को सुनने वाला भी कोई हो तो उसे अभिव्यक्त होने का भी अवसर रहता है और बँट जाने का हलका सुख भी। कवि परम्परा में इसलिए विरहिणी के साथ किसी सखी की कल्पना प्रचलित है। इस काव्य में भी विरहिणी अपनी सखी से अपने अस्वीकृत हो जाने, प्रिय की उपेक्षा और अपने प्रति खिन्नता, परित्यक्त हो जाने का दुःख और प्रिय के पुनः लौट आने की आकांक्षा को अभिव्यक्त करते हुए कहती है –

सखि कह दे प्रिय आते हैं।
मेरी हवि स्वीकार हो गयी, अब वे अंक लगाते हैं।
तू ही बता किया कब मैंने क्या उनके विपरीत?
अन्तःभवन छोड़ जो मेरा, वे भागे अप्रीत?
तब के पुलक कंटकित अब तक मन में धूम मचाते हैं।[1]

कभी वह उसे न पहचान पाने के अनुताप में डूब जाती है और महादेवी के गीतों में अभिव्यक्त प्रिय को न पहचानने का भाव यहाँ भी मुखर हो उठता है –

प्रिय प्रतिपल मेरे पास (मैं) पाकर पाती नहीं,
रहकर भी सतत साथ (मैं) संगी संगाती नहीं।[2]

उसे अपनी व्यग्रता में क्षुत–क्षाम और दीन–हीन हो जाने पर भी प्रिय के कानों में उसकी पुकार न पहँचने की पीड़ा सालती है –

मैं रोते–रोते मरी देव, कानों में पड़ी पुकार नहीं।
है दृष्टि धुंध से भरी देव, पग क्षत–विक्षत, सामर्थ्य–हीन।
मन में न सहन की शक्ति रही, तन–करण विवशता के अधीन,
उत्थान–गमन प्रतिहत समस्त, अवशिष्ट रहा आधार नहीं।[3]

---

१. आचार्य सोम, विरहणी, पृ०सं० ८६
२. तदैव, पृ०सं० ६३
३. तदैव, पृ०सं० ८७

कभी उसे अनुभव होने लगता है कि वह प्रिय के पास नहीं है, कहीं दूर है, तभी तो उसे उसकी पुकार नहीं सुनाई पड़ती, अथवा उसकी श्रवण–शक्ति ही समाप्त हो गई है –

तुम्हें बुलाते, तुम्हें बुलाते, मेरी वाणी मन्द हुई है,
जान न सका स्वर मेरा अथवा श्रवण–शक्ति तब बन्द हुई है।[१]

प्रिय को पुकारती–पुकारती आत्मा इतनी श्लथ और निर्बल हो गई है कि अब नहीं पुकारा जाता। उपालम्भ और आत्म प्रतारणा से उसका मन विकल हो उठा है। 'वाणी मन्द हुई' में समाप्ति के निकट आ जाने की भी ध्वनि है। प्राचीन और नवीन किन्तु पूर्ववर्ती कवियों की पद्धति पर उक्त दोनों कविता अंशों के "नैननि में जाले परे, पगनि में छाले परे, तऊ लाल लाले परे, रावरे दरस के" तथा "गिनते गिनते घिस गई अंगुलियाँ, घिस गई अंगुलियों की रेख रे" की विह्वलता अन्तर्भूत है।

विरह की कथा भी अकथ है। उसे कैसे कहा जाय, किससे कहा जाय? जिससे सहारे की आशा है, वही दाह–दग्ध दिखाई देता है। अन्तः बाह्य एक सा हो, ऐसा कोई नहीं दिखाई देता। विषमता के इस जंजाल से निकल पाना ही कठिन है।

कैसे कहूँ किसी से प्यारे ! मैं अपनी आपत्ति कथायें?
फँसी हुई मैं क्लेश जाल में, असहनीय ये पाश प्रथायें।
जिन्हें समझा सुख अपनाने को जैसे ही आगे बढ़ती हूँ,
वैसे ही अंकित उन पर मैं दाह–दग्ध अक्षर पढ़ती हूँ।

आदि मध्य अवसान सभी का घोर अमंगलमय, दुखदायी,
जो रमणीय दिखाई देते, वे उर मध्य विषम विषपायी।
इनके विकट पाश में फँसकर प्राण घुटे जाते हैं मेरे,
कैसे निकलूँ, कैसे भागूँ, चारों ओर छा रहे घेरे।[२]

---

१. आचार्य सोम, विरहणी, पृ०सं० ६१
२. तदैव, पृ०सं० ६५

"ज्यों ज्यों सुरझि भज्यो चहौं, त्यों त्यों उरझत जात" की सी विवशता और भाग निकलने की बेचैनी तो है ही, निशा के तारक और नभ आदि भी दाहक जान पड़ने लगे हैं –

नभ नहीं, अरे यह निशा–विरहिणी का है उर उत्ताप भरा।
तारका नहीं, ये विस्फुलिंग, जिनमें दाहकता शाप भरा।[1]

संध्या, कुहुकिनि, उषा और प्रातः, सबसे विरहिणी एक ही प्रश्न करती है, सबसे एक ही आशा रखती है कि प्रिय से भेंट करा दें। नहीं, ऐसा नहीं हो पाता।

इन आत्मगीतों में वैदिक ऋचाओं का अर्थ उतर आया है, ठीक वैसे ही जैसे पूरे काव्य में वह व्याप्त है। वस्तुतः 'विरहिणी' काव्य का वास्तविक आनन्द और उसका सही अनुशीलन दोनों तब तक नहीं सम्पन्न हो सकते जब तक कि अध्येता अपनी इस भारतीय ज्ञान–निधि से परिचित है, उनमें उसका अन्तर रमा नहीं है। 'विरहिणी' का कवि उसी में मग्न रहा है और उसकी जीवन भर उन्हीं की साधना चलती रही है, अतएव वे भाव विचार और पंक्तिगत अर्थ अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ काव्य की पंक्तियों में उतर आये हैं। उनकी पहचान रखने वाले का आनन्द कुछ और ही होगा। उदाहरण के लिए अथर्ववेद, ६–१२४–१ क़ी निम्नलिखित पंक्तियाँ, उनके गद्यार्थ और 'विरहिणी' के आत्मगीत के एक गीत की तुलना कीजिए –

दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षात् अपांस्तोकोऽभ्यपप्तद् रसेन।
समिन्द्रियेण पयसाऽहमग्ने, छन्दोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन।।

गद्यलोक से वृहत् अन्तरिक्ष में होता हुआ तुम्हारे अनुग्रह रूप जल का एक स्वल्प बिन्दु अपने समस्त रस के साथ मेरे ऊपर गिरा। उसे पाकर, हे परम दयालु देव! मुझे ऐसा अनुभव हुआ जैसे मेरे समस्त सुकृत सफल हो गए। मैं कृतार्थ हो गया। मुझे आत्मशक्ति, ज्ञान, वेद–मन्त्र तथा यज्ञ सबने कृतकृत्य कर दिया। मैं सबके आनन्दपप्रद

---

१. आचार्य सोम, विरहणी, पृ०सं० ६६

फल से संयुक्त हो गया।

> तुम्हारी करूणा का कण एक।
> आज मिला है मुझे भाग्य से, भागे कष्ट अनेक।।
> उस प्रकाशमय वृहत स्वर्ग से अन्तरिक्ष में आया।
> जल का बिन्दु रसीला मेरे लिए सघन घन लाया।।
> उसकी सरस मधुर वर्षा में मैंने सब कुछ पाया।
> ज्ञान, आत्मबल, वेद–यज्ञ फल, सकल सौख्य मनभाया।।
> नाथ ! तुम्हारी स्वल्प बूंद से जन्म–जन्म की प्यास बुझी।
> मैं सनाथ हो गया, तृप्ति की अब न रही आशा उलझी।।[1]

भावों की तरलता इन आत्म–गीतों में स्वयं अपनी गति खोज लेती है और गीतों में अकेले और समूह–गान के स्वर लहर लेने लगते हैं। "प्रिय प्रभु को आज, आओ, जगावें, रिझावें" जैसे गीतों में यही स्वर है। वस्तुतः विभिन्न छन्दों में उपस्थित एकाध स्थल पर भूले–भटके ब्रजभाषा का पुट लिए, इस काव्य की गरिमा लोकधर्म काव्यों से अधिक अन्तःकरण को निर्मल करने वाले आध्यात्मिक आनन्द–निष्यन्दि काव्य होने में है। इसी का विकास पाँच किरणों में प्रसारित 'भागवती आभा' की उदात्त विनय पत्रिका में हुआ है, जिसमें प्रभु का यज्ञ, विश्वक सृष्टि का रहस्य और अन्तरंग का विनीत भाव तो है ही, गोस्वामी जी की 'विनय पत्रिका' के समान ही कवि का आत्म परिचय और आत्मोद्बोध भी मिश्रित है। हाँ, यह पत्रिका उस क्रम से प्रस्तुत नहीं की गई है, और उसका कारण है कि यह एक सर्वशक्तिमान के प्रति समर्पित है, किसी राजा राम के प्रति नहीं कि उसके दरबारियों की कृपा–कोर की चाहना हो।

(च) रहस्यानुभूति :

"लौकिकता से विमुख होकर जब किसी अज्ञात, रहस्यमय अलौकिक शक्ति के प्रति राग, उत्सुकता, विस्मय, जिज्ञासा, लालसा एवं मिलनानुभव व्यक्त किया जाता है तब

---

१. आचार्य सोम, विरहणी, पृ०सं० १६८

उस अनुभववेद्य अवस्था को रहस्यानुभूति की अवस्था कहते हैं।"[1] रहस्यवाद और रहस्यवादी साधना का प्रमुख देश भारत है। अत्यन्त प्राचीन काल से लेकर आज तक इस देश में रहस्यवादी साधना होती रही है। वैदिक युग में रहस्यवादी साधना प्रमुख नहीं थी और ऋग्वेद में उसके संकेत प्रचुर मात्रा में नहीं मिलते किन्तु तप, व्रत और पुरूष सम्बन्धी विचारों में उसके अंकुर अवश्य मिल जाते हैं। उपनिषदों में परम तत्व और व्यष्टि की आत्मा के वास्तविक स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। वह परमतत्व एक और अद्वितीय, शान्त, आनन्द, सत्चित, अनन्त, अलक्षण और निर्विकार समस्त जगत् का अधिष्ठान ब्रह्म है।

सगुणोपासक भक्ति सम्प्रदाय के रहस्यवाद की परम्परा भी प्राचीन है। मध्ययुग में वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु,,रामानन्द, तुलसीदास, धर्मदास, दादू इत्यादि हैं। इस प्रकार दक्षिण के आलवार सन्तों और वैष्णव आचार्यों ने सगुण रहस्यवादी साधना का प्रचार किया। इसी प्रकार सूफीमत में भी रहस्यानुभूति की चार अवस्थायें मानी गयी हैं – शरीअत, मलकूत, मारिफत, हकीकत। साधना की यह चार अवस्थायें पार कर ही साधना सर्वोच्च बन पाती है। प्रथम अवस्था शरीअत की है जिसमें साधक कुरान और हदीस आदि में बताये गये विविध–निषेधों का पालन करता है। साधना का यह निचला स्तर है। इसके पश्चात् साधक दूसरी अवस्था को प्राप्त करता है। यह अवस्था है मलकूत की जिसमें साधक भौतिक जगत् की तुच्छता से ऊपर उठकर पवित्र हो जाता है तथा देवदूतों के गुण प्राप्त करने में सफल होता है। इसके पश्चात् साधना का तृतीय चरण मारिफत है। इसमें साधक शक्ति सम्पन्न हो जाता है और आध्यात्मिक यात्रा की ओर अग्रसर होता है। अन्तिम मंजिल हकीकत की है। हकीकत का तात्पर्य है परमसत्य इसमें साधक राग–विराग से विलग रहकर विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करता है। यह साधक के परमात्मा के साथ तादात्म्य की अवस्था है साधक को अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है।

---

१. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, सम्पादक, हिन्दी साहित्यकोश, पृ०सं० ६६४

आधुनिक युग में भारत में रहस्यवाद की धारा प्रवाहित रही है। भारतीय पुनरूत्थान युग के अग्रणी राजा राम मोहन राय औपनिषदिक रहस्यवाद में आस्था रखते थे। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर विख्यात रहस्यवादी साधक थे। राम कृष्ण परमहंस के प्रादुर्भाव से रहस्यवादी साधना को और भी शक्ति प्राप्त हुई। स्वामी विवेकानन्द ने भी इस साधना का और भी प्रचार किया। छायावादी युग में कवियों ने रहस्यवादी शैली पर आधारित कवितायें कीं। उसी परम्परा में आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम' रचित 'विरहिणी' महाकाव्य है जिसमें कवि ने आत्मा की निश्छल पुकार को व्यक्त करने के पूर्व परमपुरुष के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। सर्गो का विभाजन इस प्रकार किया गया है कि वह महाकाव्य आख्यायिका का स्वरूप धारण कर ले। कवि को इस कथाक्रम में सफलता भी मिली है परन्तु आख्यायिका या इतिवृत्त इसका उद्देश्य नहीं है।

जिज्ञासा भावना :

रहस्यानुभूति की प्रथम अवस्था वह है जिसमें वह व्यक्ति विशेष (अर्थात् रहस्यवादी) अनन्त शक्ति से अपना सम्बन्ध जोड़ने के लिए अग्रसर होता है। वह ईश्वर के समीप पहुँचने की चेष्टा करता है। यह जिज्ञासा भावना रहस्यानुभूति का प्रथम चरण है। 'विरहिणी' महाकाव्य में प्रारम्भ में परमात्मा एवं आत्मा के स्वरूप का वर्णन किया गया है–

परमात्मा आत्मा विहग, विश्व के वृक्ष पर
आसीन, किन्तु उभयान्तर है बहु भेदकर।
परमात्मा दृष्टा, विरत वृक्ष–फल–स्वाद से,
जीवात्मा भोक्ता कर्म शुभाशुभ वाद से।[1]

प्रेम :

वियोग की तीव्रता आत्मा की परमात्मा के प्रति उत्कट अभिलाषा का प्रतीक है। बसन्त की छटा को अनुभव करते हुए आत्मा अपने बसन्त की उपस्थिति के लिए

---

१. आचार्य सोम, विरहिणी, पृ०सं० २२

प्रश्नाकुल हो उठती है। बसन्त की सुषमा उसके सामने खिल खिलकर उपस्थित होती है, होली जैसे सर्वमान्य पर्व में रंग की वर्षा होने लगती है तो दूसरी ओर अमराई में कोकिल का विरह विकल स्वर गूँज भरता है। विरहिणी आत्मा की विकलता परमात्मा के प्रति उत्कट प्रेम का प्रतीक है –

> आज भू पर बसन्त की प्रभा, छिपा है मेरा कहाँ बसन्त?
> प्रकट हो कर देता है क्यों न, आज ही अभी दुखों का अन्त।

विरहिणी (आत्मा) परमात्मा को ही सार मानती है और सम्पूर्ण संसार को असार मानती है। विरहिणी ने अब निश्चय किया है कि वह निस्सार को (माया आदि को) नहीं पकड़ेगी।

उपालम्भ का स्वर कभी–कभी तीखा हो जाता है। प्रियतम को टेरते–टेरते वह अब थक गई है। वह अन्यमनस्का होकर कहती है –

हे प्रिय,मेरी टेर तुम तक नहीं पहुँची या तुम्हारी श्रवणशक्ति ही मन्द हो गई है (तुम बधिर तो नहीं हो गये?)

> तुम्हें बुलाते तुम्हें बुलाते, मेरी वाणी मन्द हुई है,
> जान न सका स्वर मेरा अथवा श्रवण–शक्ति तब बन्द हुई है।[1]

विरहिणी उस दिन की प्रतीक्षा में है, जिस दिन वह सभी दुःखों और जंजालों से मुक्ति पा जायेगी। देखिये वह क्या कहती है –

> किस दिन दुख–जंजाल हटेगा, पीड़ा पीड़ित हो भागेगी?
> त्राहि–त्राहि करती कर–बद्धा विपदा प्राणदान माँगेगी?[2]

प्रकृति के उपादानों में भी विरहिणी नाना प्रकार के दुःख–चिन्ह देखती है।

---

१. विरहिणी, आचार्य सोम, पृ०सं० ७७
२. विरहिणी, आचार्य सोम, पृ०सं० ७६

गगन के तारकगण विरह–व्यथिता निशा के दहकते हुए विस्फुलिंग ही तो हैं –

नभ, नहीं, अरे यह निशा विरहिणी का है उर उत्ताप भरा।
तारका नहीं ये विस्फुल्लिग, जिनमें दाहक तम–ताप भरा।।[१]

विरह की तीव्रता, गहनता और तीक्ष्णता तभी मानी जाती है जब विरहिणी चौबीसों घंटे विरह में व्याकुल रहे। 'सोम' जी की विरहिणी हमें वर्ष की सभी ऋतुओं में, दिन–रात के सभी समयों में विरह–विदग्ध दिखाई देती है। ऊषा–बेला में विरहिणी ऊषा–सुन्दरी को सम्बोधित कर कहती है –

तुम उषा हो तो जगाओ, स्वप्न के संकट हटाओ।
प्रिय मुझे मेरा मिले, कुछ युक्तिसखि, ऐसी बताओ।।[२]

विरहाकुल विरहिणी अपने प्रिय की प्रतीक्षा करते–करते थक गई है। प्रतीक्षा ने अब चिन्ता का रूप धारण कर लिया है –

प्रतीक्षा ने चिन्ता का रूप, कर लिया धारण है हरि ! आज।
व्याधि का सूत्रपात हो गया, निकट ही अन्तक का भी राज।।[३]

अपने प्राणधन को बड़ी आतुरता के साथ विरहिणी पुकारती है। न जाने कब से प्रतीक्षा में खड़ी वह पुकार रही है –

पर अब यह सब सहा न जाता, मेरे त्राता आ जाओ।
कब से खड़ी पुकार रही हूँ मुझ अबला के बल आओ।।[४]

मिलन :

प्रत्येक रहस्यवादी के जीवन में मिलन की अवस्था अवश्य आती है क्योंकि वही तो उसका लक्ष्य है जिसके निमित्त वह साधना कर रहा है। कबीर ने भी इस मिलन

---

१. विरहिणी, आचार्य सोम, पृ०सं० ८३
२. विरहिणी, आचार्य सोम, पृ०सं० ८२
३. विरहिणी, आचार्य सोम, पृ०सं० ८५
४. विरहिणी, आचार्य सोम, पृ०सं० ६०

की अवस्था का बड़ा ही जीवन्त चित्रण किया है –

दुलहनी गावहु मंगलाचार।
हम घरि आये हो राजा राम भरतार।।
तन रत करि मैं मनरत करि हूँ,,पंचतत बराती।
रामदेव मोरे पाँहने आये, मैं जोवन मैंमाती।।[१]

इसी प्रकार का चित्र जायसी ने पद्मावत में भी अंकित किया है।

जहाँ तक विरहिणी महाकाव्य का सम्बन्ध है आचार्य शर्मा ने विरहिणी के 'आत्मगीत' सर्ग के अन्तर्गत जीवात्मा तथा परमात्मा के मिलन को बड़े मार्मिक ढंग से वर्णित किया है –

प्रियतम मेरे पास री सखि।
अब न कहीं पर क्लेश–कुहासा, आज सफल मेरी अभिलाषा।
धीरे–धीरे दूर हो गई, दर्शन की आकुलित पिपासा।
आज जगा उल्लास हृदय में विश्वासों का वास।।[२]

तादात्म्य की स्थिति में आत्मा का परमात्मा में सम्मिलन हो जाता है उस समय जीवन के समस्त बन्धन समाप्त हो जाते हैं। वास्तविकता तो यह है कि सच्चा रहस्यवादी वही व्यक्ति है जो अनन्त शक्ति से एकत्व प्राप्त करने को ही अपना अन्तिम लक्ष्य बना कर चलता है। कवि सोम ने 'आत्मगीत' सर्ग में इस स्थिति का विवेचन करते हुए लिखा है –,

'कहाँ–चित्त है? अहंकार है ? सब की सत्ता शून्य,
पाप दूर था किन्तु कहाँ था पास प्रतापी पुण्य?
युगल के एकास्वादन में।'[३]

---

१. कबीर ग्रन्थावली, सम्पादक डॉ० भगवत् स्वरूप मिश्र, पृ०सं० २११, पदावली (१)
२. विरहिणी, आचार्य सोम, पृ०सं० १७१
३. विरहिणी, आचार्य सोम, पृ०सं० १७२

इस प्रकार आचार्य शर्मा ने 'विरहिणी' महाकाव्य में रहस्यानुभूति के विविध चरणों को संस्पर्श किया है। वास्तविकता तो यह है कि विरहिणी की मूल भित्ति रहस्यवादी भावना पर ही आधृत है। जिस प्रकार कबीर की विरहिणी प्रिय का पंथ निहारकर उसकी प्रतीक्षा करती रहती है उसी प्रकार की उत्कट वेदना की अनुभूति आचार्य सोम रचित 'विरहिणी' में व्यक्त आत्मा में परिलक्षित है। इस प्रकार रहस्यानुभूति की छवि से विरहिणी एक श्रेष्ठ काव्य है जिसमें कवि ने सच्चे रहस्यवादी की भाँति उन सभी साधना की स्थितियों का विवेचन किया है जिसको पार कर वह अपने गंतव्य तक पहुँचता है।

इस प्रकार समग्र विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'विरहिणी' महाकाव्यत्व, कथ्य, दर्शन, काव्यानुभूति, प्रकृति चित्रण एवं रहस्यानुभूति की दृष्टि से एक उत्कृष्ट महाकाव्य है। दर्शन, काव्यत्व एवं भावना की त्रिवेणी इस काव्य में सर्वत्र परिलक्षित है।

*****

अध्याय ५

आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम'
की
काव्यभाषा

५

आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम' की काव्य भाषा

काव्य भाषा का स्वरूप :

भाषा के स्वरूप का प्रश्न मूलतः अर्थ के स्वरूप से जुड़ा है। व्यक्ति और वस्तु के सम्पर्क से विभिन्न अर्थों का उदय होता है। वस्तु अथवा दृश्य जगत के प्रति व्यक्ति का दृष्टिकोण दो प्रकार का हो सकता है – बौद्धिक और रागात्मक। "बौद्धिक दृष्टिकोण" भी दो प्रकार का होता है – वस्तु प्रधान तथा विचार प्रधान। वस्तु प्रधान

दृष्टिकोण से वैज्ञानिक अर्थों का उदय होता है, जबकि विचार प्रधान दृष्टिकोण से दार्शनिक अर्थों का उदय होता है। रागात्मक दृष्टिकोण में वस्तु और विचार की अपेक्षा व्यक्तिगत अनुभूति और कल्पना की अधिकता होती है। इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि रागात्मक दृष्टिकोण वस्तु और विचार से पूर्णतः निरपेक्ष होता है। सच तो यह है कि रागात्मक दृष्टि के सम्पर्क से वस्तु अपनी प्रकृति सीमाओं को त्याग कर कल्पना के सहारे पुनर्निर्मित रूप से उपस्थित होती है और विचार अपनी बची–सची यान्त्रिक तर्क पद्धति से निकल कर व्यक्तिगत अनुभव या दृष्टि बिन्दु का अंग बन जाता है। यही कारण है कि भावात्मक या रागात्मक भाषा विज्ञान की वस्तुगत और दर्शन की तर्कगत भाषा से भिन्न होती है। किसी तथ्य या विचार का काव्यात्मक महत्व तभी होता है जब वह काव्यात्मक अर्थ के रूप में जन्म लेकर, काव्यात्मक भाषा में निबद्ध हो, किन्तु काव्यात्मक अर्थ और भाषा के स्तर तक पहुँचने पर उसे अपना मूल स्वरूप त्यागना पड़ता है।

कविता की भाषा विज्ञान और दर्शन की भाषा की भांति पारिभाषिक न होकर विशेष व्यापार सूचक होती है। उसमें तथ्यों और विचारों के सीमित और सुनिश्चित स्वरूप का बोध कराने वाले पारिभाषिक अथवा शास्त्रीय शब्दों का अभाव रहता है। पारिभाषिक शब्द वे होते हैं जिनका अर्थ सीमित, सुनिश्चित या रूढ़ होता है। ये शब्द प्रतीकात्मक न होकर चिन्हात्मक होते हैं। भारतीय आचार्यों ने कविता में पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग को 'अप्रतीतत्व दोष' माना है। इसलिये कविता की भाषा सामान्य या सैद्धान्तिक न होकर सन्दर्भ मूलक होती है। अनुभूति के आलम्बन रूप सन्दर्भ को उभारने के कारण कविता की भाषा बिम्बात्मक होती है। अनुभूति के आधार मूलतः ऐन्द्रिय होते हैं। इसीलिये अनुभूतियों के बिम्बन का एकमात्र उपाय यही है कि उन ऐन्द्रिय रूप व्यापारों को बिम्बित किया जाये जिनके गोचर होने पर अनुभूति का उदय होता है। रूपों और व्यापारों के साथ ही कविता में उनसे सम्बद्ध ध्वनि, रस, गंध, स्पर्श, ऐन्द्रिय संवेदनाओं के गोचर आधारों का भी सन्निवेश किया जाता है।

बिम्बात्मक होने के साथ ही कविता की भाषा सृजनात्मक होती है। गद्य की भाषा

संरचनात्मक होती है, उसमें रचना का स्तर केवल अर्थ का द्योतन कराने वाली वाक्य रचना तक सीमित रहता है। गद्य एक पूर्व निर्मित शब्दों का ढाँचा है। गद्य में शब्दों के कोशगत अर्थों से काम चल जाता है तथा गद्य के शब्द उसके रूप गठन में अभिन्न रूप से सम्पृक्त नहीं होते। कविता में शब्दों के कोशगत अर्थों से काम नहीं चलता। कविता के शब्द उसके समग्र रूपात्मक तत्वों – ध्वनियों, लयों, तुकों, बिम्बों, प्रतीकों, अलंकारों आदि से पूर्णतः सम्पृक्त होते हैं। इसीलिये शब्दों के पर्यायों को स्थानापन्न के रूप में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। कविता की किसी पंक्ति के एक शब्द को इधर से उधर हिलाने पर उसका सम्पूर्ण स्वरूप हिल उठता है। विविध तत्वों के अन्तर्गुम्फन में ही कविता का सृजनात्मक स्वरूप उभरता है। विविध तत्वों का यह सामन्जस्य जितना ही अधिक जटिल और उदात्त होगा, कविता में अर्थ गौरव के साथ कलात्मक चारुत्व भी उतना ही बढ़ जायेगा। गद्य में अर्थ बोध साध्य है, और भाषा साधन मात्र किन्तु कविता में अर्थ और भाषा की अभिन्नता के कारण दोनों ही साध्य हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कविता में प्रत्येक शब्द का अर्थ के अतिरिक्त अन्य दृष्टियों से लय, तुक, अलंकार, ध्वनि आदि से भी महत्व होता है। यही कारण है कि हम किसी कविता की व्याख्या मात्र सुनकर संतुष्ट नहीं हो सकते, मूल कविता पढ़कर या सुनकर ही तृप्ति लाभ करते हैं। कविता का अर्थ मूल कविता का स्थान नहीं ले सकता। प्रसिद्ध प्रतीकवादी मलार्मे ने इसी बात को ध्यान में रखकर कहा है – "कविता विचारों से नहीं शब्दों से लिखी जाती है।" इसका अभिप्राय यही है कि कविता से अर्थ बोध की अपेक्षा शब्दों के उन आनुषंगिक तत्वों – लय, संगीत, अनुप्रास, तुक, प्रतीकात्मकता आदि का विशेष महत्व है जो अर्थ के उत्कर्षक हैं अथवा उसे रमणीयता प्रदान करने वाले हैं। पं० राज जगन्नाथ ने 'रमणीयार्थम् प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' कहकर काव्य में शब्द की महत्ता पर बल दिया है। ध्यातव्य है कि इनसे पूर्व आचार्य विश्वनाथ – 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' कहकर रसात्मक वाक्य के रूप में काव्य की परिभाषा कर चुके थे। जगन्नाथ ने वाक्य के स्थान पर शब्द रखकर काव्य के स्वरूप को सही रूप में प्रस्तुत करने में अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया। वास्तव में वाक्य गद्य की इकाई है और एक निश्चित अर्थ का बोधक भी, जबकि कविता की इकाई शब्द है, क्योंकि कविता में प्रत्येक

शब्द, अर्थ, लय, छन्द, अलंकार, बिम्ब, प्रतीक आदि की गद्यात्मक रूप में अन्वित करके वाक्यों मे परिणत कर देने पर कविता का समूचा चारुत्व नष्ट हो जाता है।

जिस प्रकार रागात्मक अर्थों में मन के सभी स्तर राग, बुद्धि और कल्पना संयुक्त रूप में सक्रिय रहते हैं, उसी प्रकार रागात्मक अर्थों की भाषा में भाषा के सभी स्तर– अभिधा, लक्षणा, और अभिव्यंजना क्रियाशील रहते हैं। काव्यात्मक अर्थों और काव्य भाषा की इसी संश्लिष्टता के कारण कविता का अनुवाद उन्हीं अर्थों में कदापि सम्भव नहीं है, जिन अर्थों में विज्ञान के ग्रन्थों का अनुवाद सम्भव होता है। कविता के अनुवाद की इसी दुष्करता को ध्यान में रखकर फॉस्टर ने कहा है – "आत्मपरक भाषा व्यक्त अथवा निगूढ़ संवेग से निबद्ध होती है और संवेगात्मक मूल्यों का अनुवाद प्रायः दुष्कर होता है।" इलियट ने भी कविता के अनुवाद की असम्भवता को स्वीकार किया है। कविता के जो अनुवाद सुन्दर समझे जाते हैं वे वास्तव में मूल के भाव को लेकर की गयी स्वतंत्र रचनायें हैं और उनमें मूल रचना की भाषागत विशेषताओं लय, छन्द, तुक, अनुप्रास, शब्द, संगीत आदि के स्थान पर अनुवाद की भाषा की निजी विशेषताएं उभरती हैं। जिस प्रकार यह कहना सही है कि कविता की भाषा संदर्भमूलक होती है उसी प्रकार यह कथन भी ठीक है कि कविता की भाषा सादृश्यमूलक या उपमानात्मक होती है। सदृश, आकार, गुण, क्रिया, प्रभाव, वाले संदर्भों के सम्पर्क से मन में समान प्रकार की अनुभूतियों का उदय होता है। किसी प्रस्तुत मूर्त आधार से उत्पन्न अनुभूति की तीव्रता निरूपित करने तथा उसे और अधिक तीव्रता प्रदान करने के लिये पुनः कुछ सदृश आधारों की योजना की आवश्यकता पड़ती है, जो मूल अनुभूति के समान या उससे भी तीव्र अनुभूति जगा सकें। इन अप्रस्तुत आधारों को ही उपभाषा कहते हैं। उपमान में उपमेय के साथ आकार, गुण, क्रिया और प्रभाव की जितनी अधिक सदृशता होगी वह उतनी ही अधिक प्रभावोत्पादक और काव्योपयोगी होगी। कविता की भाषा में उपमेय और उपमान के रूप में दुहरे सन्दर्भ समन्वित रहते हैं। उपमान योजना में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दो अनुभव क्षेत्रों या सन्दर्भों को आमने–सामने रखकर प्रस्तुत अनुभव क्षेत्रों पर, अप्रस्तुत अनुभव क्षेत्र से अनुभूति का प्रकाश विकीर्ण करके मूल प्रभाव में वृद्धि की जाती है। काव्य भाषा अपने विकास क्रम में अनुकरण (अभिधा) से सादृश्य (अप्रस्तुत योजना) की ओर तथा सादृश्य से प्रतीक की

ओर अग्रसर होती है। संक्षेप में कविता की भाषा उपमानात्मक होने के कारण आलंकारिक और प्रतीकात्मक होती है।

कविता की भाषा लयात्मक होती है। लय, अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति का अन्तर्वर्ती नैसर्गिक तत्व है। छन्द, भावानुकूल, वर्ण–विन्यास, अनुप्रास, तुक आदि लय के ही धारक तत्व हैं जो मूलानुभूति और उसकी अभिव्यक्ति के स्वरूप का भी नियमन और निर्धारण करते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कविता में लय और नाद सौन्दर्य की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए उस स्थिति की भी पूर्व कल्पना की है, जिसमें विदेशी प्रभाव के फलस्वरूप कविता को लयहीन बनाकर भ्रष्ट किये जाने की आशंका है। उनकी यह पूर्व कल्पना आज अधिकांशतः यथार्थ सिद्ध हो रही है।

लयहीनता या गद्यात्मकता वास्तव में कविता की मूल प्रकृति के ही प्रतिकूल है। तथाकथित मुक्त छन्द में भी किसी निश्चित छन्द के अद्योपान्त निर्वाह के बन्धन से तो मुक्ति होती है किन्तु लय से नहीं। उसमें लय का ऐसा घनीभूत प्रवाह रहता है कि अनेक छन्दों की पंक्तियाँ अनायास अन्तर्युक्त होती चलती हैं। जो तथाकथित कवि अनुभूति और अभिव्यक्ति के उस स्तर तक नहीं उठ पाते कि कविता में सहज ही लय का संचार हो सके, वे लय–हीनता या गद्यात्मकता को काव्य के नाम पर चालू करने के समर्थन में मिथ्या सिद्धान्त जाल गढ़ कर अपनी प्रतिभाहीनता और साधनशून्यता पर पर्दा डालने में भले ही सफल हो जायें किन्तु चिरजीवी काव्य की सृष्टि कभी नहीं कर सकते।

कविता की भाषा बोलचाल की भाषा से भिन्न होते हुए भी जीवन–रस उसी से ग्रहण करती है। जब कविता की भाषा परिष्कार की सीमा पर पहुँचकर परिनिष्ठित रूप ग्रहण कर लेती है, तो वह रूढ़ होकर अपनी अर्थोष्मा खोने लगती है और कभी–कभी तो यांत्रिक संगीत मात्र बनकर रह जाती है। काव्य भाषा बोलचाल की भाषा से कलात्मक व्यवस्था और स्तर में भिन्न होती है। यदि किसी कविता की भाषा में बोलचाल की भाषा से किसी भी रूप में उच्च स्तर का शिल्प नहीं है तो फिर उसे कविता ही नहीं माना जा सकता है। काव्य भाषा का लोक भाषा से सम्पर्क हमेशा बना रहना चाहिए किन्तु सम्पर्क

की अतिशयता और अत्यल्पता अवांछनीय है। सूर और तुलसी की यही विशेषता है कि उन्होंनें लोकभाषा से ही साहित्यिक भाषा का चारुत्व और संगीत अर्जित किया है, किन्तु उनकी भाषा कहीं भी ठेठ बोलचाल के 'गवांरूपन' अथवा परिनिष्ठित भाषा के निर्जीव नाद सौन्दर्य की सीमा तक नहीं पहुँची है। आधुनिक युग के प्रसिद्ध कवि और समीक्षक टी0एस0 इलियट ने भी इस बात पर विशेष बल दिया है कि काव्य भाषा की शक्ति का मूल स्रोत लोकभाषा में ही होना चाहिए किन्तु लोकभाषा की संभावनाओं का उचित काव्यात्मक उपयोग करने के लिये कवि में अपेक्षित कलात्मक संयम नितांत आवश्यक है। कवि को यह ध्यान रखना चाहिए कि कविता संगीत की ओर कितनी ही अग्रसर क्यों न हो जाये, किन्तु उसका सम्बन्ध बोलचाल की भाषा से नहीं टूटना चाहिए। लय और संगीत को कविता से साग्रह बहिष्कृत करने वाले नये कवियों के लिये यह ध्यातव्य है कि टी0एस0 इलियट ने भी कविता में संगीत की महत्ता स्वीकार की है। शर्त यही है कि कविता लोकभाषा से सम्पर्क छोड़कर संगीत मात्र न रह जाये। भारतीय आचार्यों में भर्तृहरि ने लोकभाषा और लोक परम्परा को भाषा की मूल प्रेरणा शक्ति के रूप में स्वीकार किया है।

कविता की भाषा सांस्कृतिक मूल्यों की भाषा होती है। किसी जाति या राष्ट्र के चिरजीवी अर्थों विचारों, संस्कारों, भावों और मूल्यों की जीवन्त परम्परा ही संस्कृति है। सांस्कृतिक अर्थ गूढ़ और व्यापक होते हैं साथ ही उनको व्यक्त करने वाली भाषा ही अधिक व्यन्जक होती है। डा0 देवराज ने उचित ही कहा है – "हमारे विचार में काव्य भाषा के शब्दों के वे अर्थ महत्वपूर्ण होते हैं जो जीवन मूल्यों अथवा सांस्कृतिक मूल्यों की ध्वनियों के रूप में विशिष्टता लिये रहते हैं।" महान कवियों का व्यक्तित्व ही महान सांस्कृतिक सन्दर्भों को आत्मसात करने और उन्हें सशक्त रूप में वाणी प्रदान करने में समर्थ होता है। किसी राष्ट्र के जीवन के सांस्कृतिक तत्व उसके ऐतिहासिक, सामाजिक, पौराणिक, धार्मिक और दार्शनिक सन्दर्भों में अनुस्यूत रहते हैं। परिस्थितियों के आकस्मिक परिवर्तन से या विदेशी प्रभावों के प्राबल्य से जब किसी देश का सांस्कृतिक बोध धूमिल पड़ जाता है तो तत्कालीन युग बोध की दिशा शून्यता के साथ ही उसको व्यक्त करने वाली भाषा भी अस्पष्टता, संस्कार हीनता और निरर्थकता के दिगन्तों को छूने

लगती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कविता की भाषा पारिभाषिक या शास्त्रीय न होकर संदर्भ मूलक और बिम्बात्मक होती है। जहाँ गद्य की भाषा संरचनात्मक होती है वहाँ कविता की भाषा कलात्मक होती है।

काव्यभाषा एवं सामान्य भाषा में अन्तर :

काव्य शास्त्र की दृष्टि से कवि के व्यक्तित्व की छाप लिये अर्थ विस्तार से युक्त भाषा ही काव्य भाषा के नाम से अभिहित होती है। ग्रीक विचारक अरस्तू के अनुसार – "गद्य की भाषा कविता की भाषा से भिन्न है। काव्य भाषा में भाषा शिल्प का प्रयोग होता है, उनमें ललित कल्पना की क्रीड़ा होती है जो श्रोता के मन का अनुरन्जन करती है। इस प्रकार की भाषा का अपना वास्तविक किन्तु सीमित महत्व है।"[१] सचमुच इस रूप में भावुकता की मस्ती में भाषा का असाधारण प्रयोग होता है और इसके निमित्त कवि आयास एवं प्रतिभा की अपेक्षा होती है।

"For this means the exertion and strict discipline of effort, in order to produce in language a symbol of the experience that shall be as nearly as possible exactly right to his artistic conscience."[२]

"यही कोरे कोश ज्ञान से भाषा पर प्रायोगिक अधिकार नहीं हो जाता। हृदय से निकले हुए भावों में अपना साकार परिणत के लिये अपने अनुरूप ही बाह्य परिधान बना लेने की अपूर्व शक्ति होती है जो स्वाभाविक प्रेरणा उन्हें उत्पन्न कराती है। वही उन्हें मार्ग बना लेने एवं अनुकूल रूप गढ़ लेने के लिये शक्ति भी प्रदान कर देती है। (समस्त उत्कृष्ट साहित्य का रहस्य है – सजग विवेक–शक्ति) कुशल अनुकर्ता से मेरा अनुरोध है कि वह सच्चे प्रतिमानों के लिये जीवन और नीति का अध्ययन करें और वहीं से जीवन

---

१. अरस्तु का काव्यशास्त्र (भूमिका), डॉ० नगेन्द्र, पृ०सं० १४२
२. Principles of Literary Criticism, L. Abercrombic, Page no. 46 - 47.

ग्रहण करें।"[1]

यदि कवि वैसा न करके प्रतिकूल दिशा में आडम्बर पूर्ण प्रयास करता है तो पाठकों का ह्रदय रसभंग की पीड़ा से ह्रदय में कुशाघात का अनुभव करता है। इस अर्थ में अक्षम्य होकर भावाभिव्यक्ति को समाश्रित करते हुए काव्यभाषा बनने के लिये सामान्य भाषा की ही पदावली दूसरा कल्पनागर्भित, संयत, ह्रदयाकर्षक, उपयुक्त एवं उन्नत रूप धारण करती है और इस प्रकार अन्य किसी रूप में नहीं प्रत्युत सामान्य की अपेक्षा अपने इसी विशिष्ट रूप में ही उससे भिन्न हो जाती है।

"This poetry is not pure poetry in any modern sence i.e., we may descript it as a hightened form of ordinary speech, without committing ourselves to this as an adequate definitions of poetry. This heightening is shown by a formal structure metre rhyme alteration, lines of equal syllabic length regular stress or quantity assonance devices that distinguish it from ordinary speech and give it a mysterious perhaps magical emphasis. There are repetitions, metaphors and anti thesis of their formality we regard as essentially poetic."[2]

छन्द के माध्यम को अपना लेने से उसकी भव्यता एवं लयात्मकता बढ़ जाती है, अनेक भौतिक एवं आध्यात्मिक तथ्यों का समावेश उसकी गरिमा समृद्ध करती है, उसमें चटकीले सुरंगों की भांति अनेक स्पष्ट एवं परिमार्जित भाव होते हैं तथा उनकी अभिव्यक्ति की प्रतीक नाना अर्थगर्भित, अलंकृत, सुष्ठ, शब्दावली के साथ प्राणों में अनुगुंजन करने वाली उसमें एक शाश्वत ध्वनि भी समाविष्ट हो जाती है जो निखिल मानवता के अनुकूल होती है। उसमें जिस किसी भी प्रकारसे भावाभिव्यक्ति नहीं, प्रत्युत अपने वक्तव्य को सुसज्जित एवं सुरुचिपूर्ण ढंग से निवेदित करना ही लक्ष्य होता है जिसका प्रभाव तत्काल श्रोता या पाठक के ह्रदय को अभिभूत कर लेता है। आचार्य बाजपेयी के शब्दों में –

---

१. होरेस की काव्य–कला, डॉ नगेन्द्र, पृ०सं० १६

२. Illusion and Reality, C. Caudwell, Page no. 12.

"रूप योजना व्यक्तिगत होती है, वह कवि के वैयक्तिक मानस से सम्बन्धित है, पर वाणी का परिधान पहनकर अपूर्व रमणीय बन जाती है।"[1] प्राचीन काल में अरस्तू ने भी ऐसा ही मत व्यक्त किया था – "सामान्य प्रयोगों से भिन्नता भाषा को गरिमा प्रदान करती है, क्योंकि शैली से भी मनुष्य उसी प्रकार प्रभावित होते हैं जिस प्रकार विदेशियों से अथवा नागरिकों से। इसलिये आप अपनी पद रचना को विदेशी रंग दीजिए, क्योंकि मनुष्य असाधारण की प्रशंसा करता है और वह प्रशंसा का विषय है वह प्रसन्नता का भी विषय होता है।"[2] लौंजाइनस ने इसे ही काव्य का उदात्त तत्व मानकर उसका विवेचन किया है – "औदात्य अभिव्यक्ति की विशिष्टता और उत्कृष्टता का नाम है। और केवल इसी के आधार पर श्रेष्ठ कवियों और लेखकों ने अपनी प्रतिष्ठा एवं अमर यश का अर्जन किया है। उदात्त भाषा का प्रभाव श्रोता के मन पर प्रत्यक्ष के रूप में नहीं वरन् भावोद्रेक के रूप में पड़ता है। गरिमामयी वाणी अपनी अभिधा व क्षमता के कारण अनुनय तथा परितोषकारी वाणी की अपेक्षा सदैव और सभी प्रकार से अधिक समर्थ होती है।"[3] भारतीय काव्य शास्त्र में भावाभिव्यक्ति का शिल्प पक्ष बहुत कुछ यही विवेचन करता है।

सामान्य भाषा में साज–सज्जा की वैसी कोई अपेक्षा नहीं होती जबकि काव्य भाषा में रमणियों की भांति शोभनार्थ उसका स्वाभाविक कलात्मक श्रृंगार एवं विशेषीकरण पहली शर्त है। आचार्य कुंतक ने तो अलंकृत वाक्य में ही काव्यत्व माना तथा विश्व कवि गुरुदेव श्री रवीन्द्र नाथ टैगोर की भी मान्यता वैसी ही है। यहाँ तक कि यथार्थवादी दृष्टिकोण से भी देखा जाय तो भी कुछ न कुछ चयन चुनाव की प्रवृत्ति अवश्य ही परिलक्षित होगी। जब तक काव्य की रूपसत्ता उपयुक्त अभिव्यंजना या वाणी विधान नहीं प्राप्त करती, तब तक उनमें आह्लादकता का गुण नहीं आ पाता। प्रतिभावान कवियों की काव्यभाषा सहज ही सजी हो सकती है, जबकि ठोंक–पीटकर बने हुए कवियों की भाषा में कृत्रिम सज्जा परिलक्षित होगी। (और सच तो यह है कि उसकी कविता बहुत कुछ पद्य होगी) यद्यपि दोनों की ही काव्यभाषा का रूप प्रवाह सम्पन्न, भावों से सुपुष्ट,

---

१. नया साहित्यः नये प्रश्न, आचार्य नन्द दुलारे बजपेयी, पृ०सं० १०
२. डॉ० नगेन्द्र, अरस्तु का काव्यशास्त्र, पृ०सं० १४८
३. डॉ० नगेन्द्र, काव्य में उदात्त तत्व, पृ०सं० ४४

उत्कृष्ट स्वाभाविक एवं भव्य होगा, जबकि अकवि की काव्य भाषा सामान्य एवं पद्यबद्ध मात्र होकर सामान्य चर्चा सी करती हुई, अनाकर्षक प्रतीत होगी।

काव्य भाषा एवं पाश्चात्य चिन्तन :

साहित्यिक भाषाएं अब अपनी चरमोन्नति पर पहुँचकर शास्त्रीय गूढ़ एवं रूढ़ होकर जनजीवन से परे हो जाती हैं तो उसे उक्त पद से हटाकर नये रूप में जनभाषायें ही पुनः साहित्यिक भाषाएं बनती हैं। इससे भी सिद्ध होता है कि काव्य भाषा अपनी उच्चता में भी मूलतः सामयिक जनभाषा से विलग होकर अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकती। यूरोप में साहित्य के इतिहास के मध्य युग में लैटिन के विरुद्ध दांते ने भी लोकभाषा को काव्य भाषा बनाने पर बल दिया था। कारण कि तेरहवीं शती में उसके सामने दो तरह की भाषाएं थी – १. ग्रीक, लैटिन आदि। २ प्रादेशिक भाषाएँ। इन दोनों प्रकार की भाषाओं में महान अन्तर था। लैटिन आदि परम्परागत काव्य भाषायें रूप में शास्त्रीय अतएव क्लिष्ट होकर विद्वर्ग से ही सम्बन्धित रह गयी थीं। क्रमशः वे काव्य में अधिकाधिक अलंकार प्रधान होकर अत्यन्त ही रुढ़ और गूढ़ होती चली गयीं, विषयों की दृष्टि से भी उनमें गम्भीर आख्यान चयित होते थे, लोक सामान्य स्तर पर प्रयोग प्राचीन भी हो चली थीं। अतएव उनके समझने एवं उनमें रचना करने के लिये गम्भीर साहित्यिक अध्ययन की अपेक्षा थी। फलतः यूरोप में स्थापन्न अनेक प्रादेशिक भाषाओं का निर्माण भी हो गया था। साथ ही उनमें लोक सामान्य स्तर पर जन जीवन के भावों एवं आख्यानों के रूप में लोक साहित्य भी निर्मित हो चला था। कवि लोक हृदय का अद्भुत पारखी होता है और समसामायिक जन भावों एवं भाषा का प्रतिनिधित्व करता है। ऐसी स्थिति में दांते ने अन्तर्प्रान्तीय स्तर पर संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाली आदर्श काव्य भाषा के प्रश्न पर गम्भीरता पूर्वक विचार करके अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "दी वल्गेर एलाम्विओं" में प्रश्न उठाया, "कवि को कौन सी भाषा प्रयोग करनी चाहिए ?" और सर्वप्रथम उसने यह निर्णय भी दिया "काव्य में लोक भाषा का प्रयोग होना चाहिए, तभी काव्य उच्च स्तर पर जा सकता है।"

"Dante, as a poet and critic, is intent upon shaping and defining nothing

less than an ideal language fit to express to best thought of the greatest poet. He has started from the fact that this must be the native tongue the language in which he freely and instinctively expresses thought and emotion."[१]

उसका कारण बताते हुए उसने मातृभाषा की स्वाभाविक अभिव्यक्ति, माधुर्य, भोलापन, स्वाभाविक रूप में सहज ही काव्य में प्रवेश आदि उदात्त–गुणों पर भी प्रकाश डाला। सचमुच लैटिन की एकछत्र व्यापकता के विपरीत जनभाषा के समर्थन का गंभीर निर्णय एक अत्यन्त ही क्रान्तिकारी कदम था। और दाँते ने समस्त जनभाषाओं की प्रतिनिधि एक उपर्युक्त अन्तर्प्रान्तीय आदर्श काव्य भाषा के निर्धारण का प्रयास भी किया।

आगे चलकर अठारहवीं शताब्दी में योरोपीय स्वच्छन्दतावादी कवियों में प्रकृति के पुजारी कवि वर्ड्सवर्थ ने भी सिद्धान्त एवं निदर्शनों (लिरिकल बेलेडस) के द्वारा काव्य भाषा के लिये उसके विषयिक शास्त्रीय क्लिष्ट रूप में विपरीत स्वच्छन्द जनभाषा का ही समर्थन इस प्रकार किया – "इन कविताओं में मेरा मुख्य लक्ष्य रहा है सामान्य जीवन से घटनाएं एवं स्थितियाँ लेकर उन्हें यथासंभव आद्योपान्त जनसाधारण द्वारा वस्तुतः व्यवहृत भाषा में चुनी हुई शब्दावली में समुपस्थित करना – निराडम्बर तथा ग्राम्य जीवन को सामान्यतः इसलिए चुना गया है कि उस जीवन में मनोभावों को विकसित होने के लिये अधिक अनुकूल क्षेत्र मिलता है वहीं उन पर वैसा अंकुश नहीं रहता और उनकी अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत सरल एवं सशक्त भाषा में होती है।" उन लोगों की भाषा (लोक भाषा) भी ग्रहीत की गयी है, जिनसे उनकी भाषा का सर्वोत्कृष्ट भाग मूलतः उत्पन्न हुआ है और समाज में उनका स्तर ऐसा है। उनके सम्पर्क की परिधि इतनी संकुचित तथा समरस है और सामाजिक दम्भ के प्रभाव से अपेक्षाकृत इतनी अछूती है कि वे अपने भावों और विचारों को सरल प्रयासहीन शैली में अभिव्यक्त करते हैं।

वर्ड्सवर्थ के अनुसार गाँव के साधारण व्यक्ति के दैनिक जीवन की साधारण बात

---

१. James, R.A.Scott, The Making of Literature, Page no. 104, (1953).

भी काव्य का विषय बन सकती है। तदनुसार उन्होंने शास्त्रीय परम्परा के विपरीत ग्राम्य विषयों एवं ग्राम्यभाषा को ही काव्य भाषा के उपयुक्त माना और लिरिकल बेलेड्स की रचनाओं में अपने उक्त सिद्धान्त को चरितार्थ भी किया। किन्तु काव्यभाषा के सप्रयत्न निर्माण एवं उसके प्रयोग पर दांते की भांति बल नहीं दिया। वरन् उसने उसी भूमिका में जहाँ जन-सामान्य के द्वारा प्रयुक्त होने वाली भाषा के ग्रहण पर बल दिया, वहीं उसने काव्य की परिभाषा करते हुए उसके अभिव्यक्ति पक्ष में (the spontaneous overflow of powerful feelings) सशक्त भावनाओं के स्वाभाविक स्फुरण का भी संकेत किया और इस प्रकार उसने काव्य भाषा के गढ़न्त रूप के विपरीत अकृत्रिम एवं भाव संवाहक प्रवाहपूर्ण स्वतंत्रतावादी रूप पर बल दिया जो कवि की भाव प्रकाशन क्रिया के साथ अनायास स्वतः स्फुरित होता है।

उपर्युक्त उभय दृष्टिकोण पर सम्यक विचार करने पर जन भाषा किस रूप में काव्य भाषा हो सकती है प्रश्न सामने आ जाता है, फिर जन भाषा के भी साधारणतः तीन स्तर – (अतिसामान्य, मध्य एवं उन्नत) हो सकते हैं। अति सामान्य असंस्कृत एवं अशिक्षित ग्रामीणों की भाषा होती है, साधारण शिक्षितों की भाषा मध्यम कोटि की जन भाषा मानी जा सकती है और उन्नत जनभाषा उक्त भाषा के विद्वानों से सम्बन्धित होती है। अतएव प्रश्न उठता है कि जनभाषा का कौन सा स्तर काव्य भाषा के उपयुक्त सिद्ध हो सकता है? दांते ने जिस शास्त्रीय परम्परा के अनुकूल जन भाषा का काव्य भाषा के रूप में सायास चयन चुनाव का निर्णय किया वह एक शास्त्रीय, कृत्रिम एवं दुस्तर कार्य है और वर्ड्सवर्थ ने जिन कविताओं में लोकभाषा के यथार्थ रूप का प्रयोग किया उन्हें साधारण एवं हीन कोटि की रचना माना गया। जॉन लिविंगस्टन लाक्स ने उसके इस सिद्धान्त की आलोचना की है। वर्ड्सवर्थ का सिद्धान्त मौलिक तथ्यों एवं सूक्ष्म हेत्वाभासों का निश्रण है। जब उन्होंने विषय की अपेक्षा कर केवल सिद्धान्त को दृष्टिगत रखकर रचना की, तब सत्य तो दूर चले गये और हेत्वाभास भूत की तरह उस पर सवार हो गये।

"Wordsworth's doctrine is a compound of fundamental truly and subtle fallacies. And when he wrote with his eye on his theory, and not on the subject

the truth slipped out from under him, and the fallacies rode him like hags."[1]

यही नहीं सर्वथा वे अपने उक्त सिद्धान्त का अपनी रचनाओं में पालन भी नहीं कर सके। जब जब वे सिद्धान्त की पृष्ठभूमि छोड़कर स्वच्छन्द रूप से कवि कर्म मे प्रवृत्त हुए हैं, उनकी रचनायें गहन–भावभूमि की ओर एवं भाषा उत्कृष्ट साहित्यिक धरातल पर पहुँच गयी है।

आर्मस्ट्रांग रिचर्ड्स ने भाषा के दो भेद माने हैं – १. वैज्ञानिक (scientific), २. रागात्मक (emotive)। वैज्ञानिक के लिये वे कई अन्य पर्याय का भी प्रयोग करते हैं। जैसे – प्रतीकात्मक (symbolic), निर्देशात्मक (referential), सूचनात्मक (informative), आदिभाषा का यह द्विविध भेद आग्डेन के सहलेखकत्व में लिखित The meaning of meaning नामक पुस्तक में पहली बार आया। वहाँ scientific के आधार पर symbolic शब्द का प्रयोग हुआ है। वैज्ञानिक तथा रागात्मक भाषा में रिचर्ड्स के अनुसार – "वैज्ञानिक भाषा में निरूपण, संसूचन या निर्देशन अभिमत होता है, जबकि रागात्मक भाषा मे भाव का उद्‌बोधनी। अतः एक में भाषा सीधी सपाट होती है, दूसरी में रमणीयता सम्पन्न।"

रिचर्ड्स की अर्थ सम्बन्धी मीमांसा मुख्यतः (The meaning of meaning) नामक ग्रंथ में की गयी है। उसकी संक्षिप्त चर्चा (Practical criticism) में भी है। सम्भवतः इसलिये (Principles of Literary Criticism) में अर्थ का विचार बहुत कम किया गया है। रिचर्ड्स स्वयं कहते हैं समस्त अध्ययन की मौलिक कठिनाई अर्थ बोध की समस्या है जो हमारा प्रस्थान बिन्दु है। अर्थ क्या है? जब हम अर्थ तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं तब वस्तुतः क्या करते हैं? वह कौन सी चीज है जिसे हम समझते हैं? इन सरल प्रतीत होने वाले प्रश्नों के उत्तर आलोचना सम्बन्धी सभी समस्याओं की प्रधान कुंजियाँ हैं। इस प्रयोजन से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अर्थ में चार का विभाजन है – १. मुख्यार्थ

---

1. Lowes, John Livingston, Convention and Revolt In Poetry, Page no. 138 (1938).

२. भावना (Feeling) ३. वचन भंगी (Tone) ४. उद्देश्य (Intention)।

१. मुख्यार्थ :

हम जब भी बोलते हैं तो कुछ कहने के लिये और सुनते हैं तो इस आशा से कि कुछ कहा जायेगा। हम शब्दों का प्रयोग तीन बातों के लिये करते हैं – (क) श्रोता का ध्यान किसी कार्य की ओर आकृष्ट करने के लिये, (ख) श्रोता के विचारार्थ कोई विषयवस्तु प्रस्तुत करने के लिये, (ग) इन विषयों के सम्बन्ध में कुछ विचार जागृत करने के लिये। तात्पर्य यह है कि किसी कार्य या विचार की उपस्थापना मुख्यार्थ है।

२. भावना :

इन कार्यों के विषयों के सम्बन्ध में हमारी कुछ भावनायें भी होती हैं। उन भावनाओं की अभिव्यक्ति, पक्षपात, निर्देशन, भावनाओं, अभिवृत्तियों या अभिरुचियों को अभिव्यक्त करने के लिये होता है। बोलने के समय भी यह प्रक्रिया का काम करती रहती है। निष्कर्ष यह है कि वस्तुनिर्देश के साथ भावना का अंश भी मिला होता है। भावना से सर्वथा रहित वस्तुनिर्देश शायद ही कभी होता हो। इसलिये अर्थ विचार में भावना का भी योग अपरिहार्य है।

३. वचनभंगी :

जिस तरह वस्तु, विषय, कथ्य के साथ कुछ हमारी भावना भी मिली होती है उसी तरह श्रोता के प्रति भी हमारी अभिवृत्ति (Attitude) हुआ करती है। उदाहरणार्थ, श्रोता के अनुसार ही हम शब्दों का चयन या विन्यास करते हैं। बच्चे को कुछ कहते समय हमारी भाषा कुछ और ही होती जो किसी विद्वन्मण्डली में भाषण करते समय हुआ करती है। गुरुजन और समवयस्क के साथ हम एक तरह से ही बात नहीं करते। मतलब यह कि श्रोता के साथ अपने सम्बध को ध्यान में रखकर ही हम कुछ कहते हैं, और उससे हमारे वचन भंगी में अन्तर आता है।

४. उद्देश्य :

अन्ततः भाषा के प्रयोग में जाने अनजाने वक्ता का उद्देश्य या प्रयोजन भी रहता है। चूंकि हम जो कुछ कहते हैं वह किसी न किसी उद्देश्य से प्रेरित होकर ही, इसलिये हमारे उद्‌देश्य से भी हमारी भाषा नियंत्रित होती है।

अतः रिचर्ड्स पाश्चात्य विद्वानों में काव्य भाषा को एक नया विधान सिद्धकर उसको महत्व देने में अग्रणी हैं।

काव्य-भाषा सम्बधी टी०एस० इलियट का विचार :

इलियट के पूर्व रूमानी साहित्यिकों द्वारा सामान्यतः यह धारणाबद्ध भूल हो गई थी की कविता कवि की अन्तःप्रेरणा का प्रतिफल है और कवि एक दैवी प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति। कविता उसके मनोद्वेगों का शाब्दिक चित्र है। इस वैयक्तिकता का विरोध करते हुये इलियट ने प्रतिपादित किया कि कला या साहित्य का परम्परा से निरपेक्ष आंकलन न पूर्ण है, न तर्क संगत। यहीं से वैयक्तिकता का निषेध प्रारम्भ होता है। इलियट कहते हैं – "कोई भी कवि, किसी भी कला का कोई भी कलाकार अकेले अपनी पूरी अर्थवत्ता सिद्ध नहीं कर पाता। उसकी महत्ता, उसका विवेचन मृत कवियों एवं कलाकारों के साथ उसके संबंध का विवेचन है। उसका अकेले आप मूल्यांकन नहीं कर सकते – तुलना के लिये आपको उसे भी मृतों के साथ रखना होगा।"

इलियट काव्य–भाषा को जनभाषा से इतर नहीं मानते पर यह अवश्य मानते हैं कि सामान्य भाषा के लोक प्रचलित रूप का उदात्त संस्करण काव्य भाषा होती है। अपने अति निम्न दैनिक व्यवहार की भाषा काव्य के उपयुक्त नहीं हो सकती वह हमारे लिये कच्चे माल का कार्य करती है और उसी पर काव्य भाषा का निर्माण होता है परन्तु दूर की भाषा अर्थात् युग प्रचलित भाषा से इतर भाषिक रूप से कविता नहीं लिखी जा सकती – "But there is one law of nature more powerful than any of these varying currents or influences from abroad or from the past, the law that poetry must not stray too far from the ordinary every day language which we use and

hear."[1]

इससे स्पष्ट है कि टी0 एस0 इलियट जनभाषा को काव्य भाषा में प्रयुक्त करने के पक्षधर थे। इसके बावजूद वे कहते हैं कि साहित्य में भाषा के लोक प्रचलित रूपों को सीधे नहीं ग्रहण करना चाहिए। नाट्य भाषा में तो उच्च, निम्न और मध्य वर्ग के पात्रों के लिये उसी वर्ग की भाषा का प्रयोग अभीष्ट है। काव्य भाषा तो कवि की अपनी होनी चाहिए।

वस्तुतः इलियट का मन्तव्य है कि कवि अपनी काव्य भाषा के माध्यम से मानव–मूल्यों को आम आदमी तक पहुँचाता है। वह जन भाषा के प्रयोग से ही साधारणीकरण करने में सक्षम हो सकता है। वह न तो कोई अलौकिक भाषा ही उत्पन्न करता है और न जनता की दैनन्दिन भाषा का व्यवहार ही करता है। यह उसके उच्च मानसिक स्तर और लोक के आधार पर ऐसा स्वतः स्फूर्त व्यापार है जिसके द्वारा कवि एक ऐसी परिनिष्ठित, गरिमामयी और आनन्दप्रद भावाभिव्यक्ति के लिये समर्थ भाषा का सृजन करने में सफल हो जाता है। जब किसी अभिजात कृति के कारण भाषा अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाती है तब वह जनभाषा से दूर हो जाती है। काव्य भाषा के दायित्व के सन्दर्भ में इलियट का अभिमत है कि यदि कवि ऐसे गूढ़ भावों की अभिव्यक्ति करना चाहता है, जिनको प्रस्तुत करने में भाषा समर्थ नहीं है, तो काव्य भाषा में अस्पष्टता, जटिलता एवं नवीनता का आना स्वाभाविक है, परन्तु अस्पष्टता सर्व स्वीकृत नियम नहीं है और आमतौर पर इससे बचना चाहिए।

एम्पसन की काव्य भाषा विषयक अवधारणा :

एम्पसन श्लेष अथवा अनेकार्थता सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं, विलियम एम्पसन जिन्होंने अपनी पुस्तक "सेविन टाइप्स ऑफ एम्बिगुइटी" अर्थात् श्लेष के सात प्रकार में इसका विशद विवेचन किया है। एम्बिगुइटी का मूल शब्दार्थ है – द्वि–अर्थक और फिर

---

1. Eliot, T.S., On Poetry & Poets, Page no. 29.

इसका अर्थ विस्तार हो गया है संदिग्धार्थता एवं अनेकार्थता में। सामान्य व्यवहार में द्वि–अर्थक शब्दावली का प्रयोग एक प्रकार का दोष ही माना जाता है, परन्तु काव्य में इसका प्रयोजन होता है चमत्कार की सृष्टि। भारतीय अलंकार शास्त्र में श्लेष का चमत्कार द्वि–अर्थता के स्थान पर प्लुरिसिग्नेशन अनेकार्थता का प्रयोग अधिक समीचीन माना है। उनका तर्क है कि काव्य के चमत्कार अथवा सौन्दर्य के सन्दर्भ में सन्देहवाचक शब्द के स्थान पर भावात्मक अर्थ के बोधक शब्द का ही प्रयोग करना उचित है।

एम्पसन के शब्दों में – "द्वि–अर्थता का आशय सर्वथा स्पष्ट है – उसमें अनिवार्यता कुछ न कुछ विदग्धा या प्रवंचना का तत्व रहता है, किन्तु यहाँ मैं इस शब्द का अर्थ–विस्तार कर रहा हूँ। इसकी परिधि में शब्द के ऐसे सभी सूक्ष्म संकेतों का अन्तर्भाव हो सकता है जिनके द्वारा शब्दावली विशेष से एक से अधिक अर्थों की व्यंजना होती है।"[1]

एक शब्द के कई अलग–अलग अर्थ हो सकते हैं कई ऐसे अर्थ हो सकते हैं जो परस्पर सम्बद्ध हैं या जो अपने आशय को पूरा करने के लिये एक दूसरे की अपेक्षा करते हैं, या कई ऐसे अर्थ हो सकते हैं जो परस्पर संयुक्त होकर एक विशेष सम्बद्ध अथवा प्रक्रिया का द्योतन करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि एम्पसन के श्लेष या अनेकार्थता नामक गुण में शब्द श्लेष, अर्थश्लेष, यमक, लक्षणा, और व्यन्जना द्वारा सिद्ध विविध अर्थ चमत्कार अनेक प्रकार के विरोधमूलक तथा कुछ सादृश्यमूलक अलंकार शब्दालंकार, वक्रोक्ति, तथा कुन्तक की वक्रता के कई एक भेदों का अन्तर्भाव हैं। इस सिद्धान्त का आधार यह है कि शब्द अर्थ का चमत्कार ही कविता है और शब्द अर्थ में चमत्कार की सृष्टि तब होती है जब कवि शब्द के द्वारा प्रचलित अर्थ से भिन्न या अतिशय अर्थ की व्यंजना करता है। अतः शब्द का विशिष्ट या अनेकार्थक प्रयोग ही कविता का मूल तत्व है।

---

1. Ampson, W., Seven Types of Ambiguity, Page no. 9 (1957).

भारतीय काव्य परम्परा :

भामह, दण्डी, रुद्रट्, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक, और क्षेमेन्द्र काव्य भाषा की व्याख्या करते हैं। इनके काव्य लक्षणों में शब्द और अर्थ को ग्रहण किया गया है। आनन्द की ध्वनि शब्द और अर्थ के विभिन्न प्रयोगों में निहित है। वामन शब्द और अर्थ के विशेष साहचर्य के प्रतिपादक हैं। कुन्तक और क्षेमेन्द्र की भी एतद्विषयक व्यवस्थायें पूर्णतः भाषानिष्ठ हैं। इन आचार्यों का विवेचन कहीं भी अनिवर्चनीय नहीं है। काव्य के अभिव्यक्ति तन्त्र के प्रत्येक अंग का प्रत्येक रचना का पूर्ण आख्यान इन आचार्यों ने प्रस्तुत किया।

काव्य भाषा के संदर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं कि "कविता में कही गयी बात हमारे सामने चित्र रूप में आनी चाहिए। अतः उसमें गोचर रूपों का विधान अधिक होता है।"[1] यह प्रायः ऐसे रूपों और व्यापारों को ही लेती है, जो स्वाभाविक होते हैं और संकट में सबसे अधिक दिखाई देते हैं। इस मूर्ति विधान के लिये लक्षणा का प्रयोग आवश्यक होता है, जैसे – "समय बीतता जाता है यह एक सामान्य सा कथन है, पर इसे समय भागा जा रहा है", यह कहना वह अधिक पसन्द करेगी। किसी काम से हाथ खींचना, किसी का रुपया खा जाना, कोई बात पी जाना, दिन ढ़लना या डूबना, मन मारना, मन छूना, शोभा बरसाना, उदासी टपकाना इत्यादि ऐसी ही कवि–समय–सिद्ध उक्तियाँ हैं जो बोलचाल में रुढ़ होकर आ गई हैं।[2] लक्षणा द्वारा स्पष्ट और सजीव आकार प्रदान का विकास प्रायः सब देशों के कवि कर्म में पाया जाता है – कुछ उदाहरण देखिये –

(क) धन्य भूमि बनपथ पहारा। जहँ जहँ नाथ पाव तुम धारा – तुलसी।

(ख) मनहु उमगि अंग–अंग छलकै – तुलसी।

(ग) वृन्दावन बागन में वसन्त बरसो परै – पद्माकर।

(घ) हो तो श्यामरंग में चोराय, चित चोरी–चोर चरित तो,
बोरयो पै–पै विचरित बनै नहीं – पद्माकर।

---

१. आचार्य शुक्ल, चिन्तामणि : भाग–१, पृ०सं० १२०
२. तदैव

"एहो नन्दलाल ऐसी व्याकुल परी है वाल,

हाल ही चलौं, तौ चलौं, जोरे जुटि जायेगी,

कहै पद्माकर नहीं तौ ये सकोरे लगे,

और लौ लचाका बिनु धोरे धुरि जाएगी,

तौ ही लगि चैन जौं लों चेति है न चन्द्रमुखी,

चैतैगी कहुँ तौ चाँदनी में चुरि जाएगी।"[1]

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वस्तु या तथ्य के पूर्ण प्रत्यक्षीकरण व भाव या मार्मिक अन्तर्वृत्ति के अनुरूप व्यंजना के लिये लक्षणा का बहुत कुछ सहारा कवि को ही लेना पड़ता है।[2]

कविता कुछ वस्तुओं और व्यापारों को मन के भीतर मूर्त रूप में लाना और प्रभाव उत्पन्न करने के लिये कुछ देर रखना चाहती है। अतः उक्त प्रकार के संकेतों से ही उसका काम नहीं चल सकता। इससे जहाँ उसे किसी स्थिति का वर्णन करना रहता है वहाँ उसके अन्तर्गत सबसे अधिक मर्मस्पर्शी कुछ विशेष वस्तुओं या व्यापारों को लेकर उनका चित्र खड़ा करने का आयोजन करती है।

छायावादी कवियों के मत

१. प्रसाद

जयशंकर प्रसाद ने स्वतंत्र रूप से भाषा का प्रश्न नहीं उठाया है। उन्होंने कलात्मकता पर विशेष बल दिया है। प्रसाद जी लिखते हैं – "सूक्ष्म आभ्यंतर भावों के व्यवहार में प्रचलित पद योजना असफल रही। इसके लिये नवीन शैली, नया वाक्य विन्यास आवश्यक था। हिन्दी में नवीन शब्दों की भंगिमा स्पृहणीय आभ्यंतर वर्णन के लिये प्रयुक्त होने लगी।"[3]

---

१. आचार्य शुक्ल, चिन्तामणि : भाग १, पृ०सं० १२०
२. तदैव
३. जयशंकर प्रसाद, काव्यकला तथा अन्य निबन्ध, पृ०सं० १२४

२. पंत

भाषा के संदर्भ में पंत जी का यह मत, "भाषा संसार का नादमय चित्र है। ध्वनिमय स्वरूप है। यह विश्व की हृतंत्री की झंकार है। जिसके स्वर में वह अभिव्यक्ति पाता है।" भाषा के संदर्भ में एक व्यापक और गहन दृष्टि है। संसार का ध्वनिमय स्वरूप निस्संदेह एक महत्वपूर्ण टिप्पणी है बशर्ते असाधारण भावों की अभिव्यक्ति में हम समर्थ हों। यह सामर्थ्य ही राग है, जिसकी व्याख्या करते हुए पंतजी कहते हैं – "भाषा का और मुख्यतः कविता की भाषा का प्राण राग है। राग के ही पंखों की अबाध उन्मुक्त उड़ान में लयमान होकर कविता सांत को अनन्त से मिलाती है। राग का अर्थ आकर्षण है। यह वह शक्ति है जिसके विद्युत्स्पर्श से खिंचकर हम शब्दों की आत्मा तक पहुँचते हैं। हमारा हृदय उनके हृदय में प्रवेश कर एक भाव हो जाता है।"[१]

३. महादेवी वर्मा

महादेवी जी भाषा को मानव का सबसे महत्वपूर्ण आविष्कार मानती हैं। उनके अनुसार भाषा की अन्य क्षेत्रों में एक निश्चित शब्दावली होती है, पर साहित्य की भाषा किसी पारिभाषिक संकीर्णता में नहीं बंध सकती। साहित्यकार शब्द का चयन करता है – भावों को सम्प्रेषणीय बनाने के लिये। साहित्य या काव्य की भाषा न संकेत मात्र है और न उसके अर्थबोध के लिये किसी प्रकार की बौद्धिक विशेषता अपेक्षित रहती है। वह तो ऐसी मानव सामान्य अनुभूतियों की चित्रलेखा है, जिसका सम्प्रेषण मानव सामान्य मानस में ही संभव रहेगा।[२] महादेवी जी ने इस बात का भी संकेत किया है कि कवि को भावानुरूप भाषा का प्रयोग करना चाहिये। इसके लिये भाषा का परिष्कार कवि कर सकता है। महादेवी जी ने इस संबंध में लिखा है – "कवि ने कुशल स्वर्णकार के समान प्रत्येक शब्द को ध्वनि, वर्ण और अर्थ की दृष्टि से नाप–तौल और काट–छाँट कर तथा कुछ नये गढ़कर अपनी सूक्ष्म भावनाओं को कोमल कलेवर दिया।"[३]

---

१. सुमित्रा नन्दन पंत, गद्य–पथ (भूमिका भाग से उद्धृत), पृ०सं० १५
२. महादेवी वर्मा, यामा (तृतीय संस्करण), पृ०सं० ६८
३. महादेवी वर्मा, महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृ०सं० ६५

४. निराला

निराला जी ने काव्य भाषा के सम्बन्ध में यथेष्ट रुप से विचार किया है। निराला जी ने भी काव्य भाषा के भाव संवाहिनी होने पर विशेष बल दिया। काव्य भाषा के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की कृत्रिमता एवं अवरुद्धता न होनी चाहिए, उसके स्थान पर स्वाभाविकता एवं स्वच्छन्द प्रवाह की सत्ता को वे अनिवार्य रुप से स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने इस बात पर भी बल दिया है कि उच्च भावों की अभिव्यक्ति में भाषा स्वतः क्लिष्ट हो जाया करती है। काव्य भाषा के सम्बन्ध में उनकी ये उक्तियाँ दृष्टव्य हैं –

(१) "बड़े–बड़े साहित्यकारों ने प्रकृति के अनुकूल ही भाषा लिखी है। कठिन भावों को व्यक्त करने में प्रायः भाषा ही कठिन हो गयी है। जो मनुष्य जितना गहरा है, वह भाव तथा भाषा की उतनी ही गम्भीरता तक पैठ सकता है और पैठता है। साहित्य में भावों की उच्चता का ही विचार रखना चाहिए। भाषा भावों की अनुगामिनी है।"[१]

(२) "इसीलिए वृहत साहित्य यानी ऊँचे भावों से भरा हुआ साहित्य कभी देशकाल या संस्था में नहीं रहा और उसी से देश, काल और संस्था का अब तक यथार्थ कल्याण हुआ है। उन प्राचीन बड़े–बड़े साहित्यकारों की भाषा कभी जनता की भाषा नहीं रही, सोलह आने में चार आने जनता के लायक रहना साहित्य का ही स्वभाव है। क्योंकि सब तरह की अभिव्यक्तियाँ साहित्य में होती हैं।"[२]

५. अज्ञेय

व्यवहार के माध्यम रूप में भाषा के लिये यह अनिवार्य है कि वह एक के लिये बोधगम्य हो लेकिन क्योंकि भाषा जीवन की अभिव्यक्ति है, जीवन की जटिलता के साथ अभिव्यक्ति की जटिलता भी सहज सम्भाव्य है, ऐसी दशा में भाषा अलौकिक या दीक्षागम्य हो जाती है भले ही वह उसकी शक्ति नहीं उसका आपद्धर्म है।

---

१. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', प्रबन्ध पद्म, पृ0सं0 २५
२. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', प्रबन्ध पद्म, पृ0सं0 २४

"कविता शब्द में होती है, विचार भाषा में होता है। वे विचार से आरम्भ करते हैं इसलिये वे भाषा से आरम्भ करते हैं। विचारों का सम्प्रेषण गद्य में भी हो सकता है। इसलिये अपने विचार को काव्यत्व ओढ़ाने के लिये भाषा को कुछ ओढ़ाते हैं, उसे कसते हैं, उसे रंगत देते हैं। हर हालत में भाषा में कुछ जोड़ते हैं। भाषा उनके लिये पहले से दी गयी चीज होती है और अन्त तक दी हुयी चीज बनी रहती है। पर कविता जोड़कर नहीं बनती वह रची जाती है। उसका प्रतिज्ञात या गिवन भाषा नहीं केवल शब्द है। और कवि शब्द से शब्द नहीं जोड़ता, शब्दों के सानिध्य मात्र से नये अर्थ जुड़ते हैं, अर्थों, भावों, ध्वनियों, संस्कारों, रूपाकारों की अनेक गूँजें, अनुगूँजें उत्पन्न करता है। ध्वन्यार्थों का एक पूरा संसार रच जाता है।"[१]

भाषा का महत्व ध्वनित होने वाले अर्थ को लेकर है। छन्दोबद्ध अभिधा में व्यक्त भाव कविता नहीं, कविता की दुर्गति है। कविता से अपेक्षा इस बात की है कि वह इस सौन्दर्यमय अर्थ को ध्वनित करे जिसका आलोक ऐसा हो जैसा हम बन्द कमरे की खिड़की से आते हुए आलोक को देखकर अपनी संवेदना के सहारे ही मूर्त कर लेते हैं।

काव्य संवेदना और काव्य भाषा :

संवेदना शब्द की व्युत्पत्ति 'वेदना' शब्द के पूर्व 'सम्' उपसर्ग लगा देने से होती है। यह वेदना शब्द विद् धातु से बनता है। संस्कृत भाषा की इस विद् धातु का अर्थ पीड़ा या संताप के अतिरिक्त प्रमुख रूप में ज्ञान से होता है। विद् धातु में धञ्, ल्युट, और टाप् प्रत्यय लगा देने से वेदना शब्द बनता है –

विद् + धञ् + ल्युट् + टाप् = वेदना।

इस वेदना शब्द के पूर्व सम् उपसर्ग लगाने से संवेदना शब्द बनता है। सम् का अर्थ होता है – सम्यक रूप से, समान रूप से अथवा प्रत्यक्ष रूप से। जिस रूप में है, उस रूप से। इस प्रकार संवेदना का व्युत्पत्तिपरक अर्थ पीड़ा या ज्ञान को उसके

---

१. अज्ञेय, अन्तरा, पृ०सं० ११६

सम्यक रूप में बोध करने से होता है।

अब प्रश्न यह है कि ज्ञान का सम्यक् रूप में बोध करना क्या है? वस्तुतः कोई भी ज्ञान निराधार या वस्तु सत्ता निरपेक्ष नहीं हो सकता। मनुष्य के पास जिस तरह का भावनात्मक ज्ञान होता है वह भावसत्ता और बाह्य ज्ञान सत्ता का एकीकृत रूप ही होता है। वह बाह्य ज्ञान सृष्टि सापेक्ष होता है परन्तु यह ध्यातव्य है कि यह ज्ञान विचार का ठीक–ठीक पर्याय नहीं हो सकता। सृष्टि के साथ मनुष्य अपने निरन्तर सम्पर्क से जिस प्रकार अनुभवात्मक ज्ञान प्राप्त करता है, वही जब मानस और प्रमुख रूप में अन्तर्जगत में अनुभूति के स्तर पर अविस्थित हो जाते हैं, तब संवेदना के रूपाकार को प्राप्त कर लेते हैं।

अंग्रेजी में संवेदना का सही–सही शब्द सेन्सिबिलिटी (sensibility) है। इसी के कुछ पास का एक शब्द होता है, सेन्सेशन (sensation) जिसे 'सेन्स आफ नॉलेज' (sense of knowledge) भी कहा जाता है। इसका अर्थ ज्ञान के या बोध के प्रत्यक्षीकरण से लिया जाता है। वस्तुतः सेन्सेशन वह प्रत्यक्ष अनुभव (feeling) है जो इंद्रियों के माध्यम से बाह्य सृष्टि के निरन्तर सम्पर्क में प्राप्त होता है। सेन्सिबिलिटी में प्रत्यक्ष अनुभवों की मृदुता या कोमलता का वास रहता है जिसे अक्सर सूक्ष्म बोध भी कहा जाता है। यह प्रत्यक्ष अनुभवों की मृदुता या उनसे सूक्ष्म बोध का जुड़ाव सीधे–सीधे मनुष्य के अन्तस से होता है। प्रत्यक्ष अनुभवों का यह मृदु या सूक्ष्म बोध अन्तस के तारों को झंकृत कर देता है। अन्तस के इन तारों का झंकृत होना मनुष्य को मनुष्य बनाता है और तारों की इस झंकार को सुनना मनुष्य का मनुष्योचित धर्म है।

इस प्रकार हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सेन्सिबिलिटी अर्थात् संवेदना की कोई स्वायत्त सत्ता नहीं होती। उसकी सत्ता इन्द्रियों द्वारा बाह्य सृष्टि की ग्रहणशीलता पर निर्भर करती है। बिना इस प्रत्यक्ष अनुभव के संवेदनात्मक अनुभव असंभव है। हमारा अन्तर्जगत जब बाह्य जगत के सम्पर्क में आता है तभी तो हमें ऐसा बोध प्राप्त हो पाता है। बर्ट्रेण्ड रसेल ने अपनी पुस्तक 'द एनालिसिस आफ माइन्ड' (The Analysis

of mind) में सेन्सेशन जिसे हम प्रत्यक्ष अनुभव भी कह सकते हैं, को निम्नलिखित तीन रूपों में परिभाषित किया है –

१. वे सब जिनके कारण भौतिक हों और प्रभाव मानसिक हो, उन सबको हम 'सेन्सेशन' के रूप में परिभाषित कर सकते हैं।[१]

२. हमारी बोध वृत्ति के स्मृति रहित तत्व 'सेन्सेशन्स' हैं।[२]

३. मानसिक जगत और भौतिक जगत जहाँ एक दूसरे से मिलते हैं वहाँ 'सेन्सेशन्स' होते हैं।[३]

संवेदनशीलता के बारे में इमैनुअल कांट के विचार भी काफी सार्थक प्रतीत होते हैं – "देश और काल इसके (हमारे समग्र प्रत्यक्षों के कहना चाहिए) विशुद्ध आकार हैं और संवेदना सामान्य रूपेण इसका उपादान है। इनमें पहले केवल दो तत्व (देश और काल) को हम प्रागानुभव से जान सकते हैं। इस प्रकार का ज्ञान विशुद्ध प्रत्यक्ष कहलाता है, परन्तु दूसरा तत्व (अर्थात संवेदन) हमारे ज्ञान के अन्तर्गत वह तत्व है जिससे ऐसा होता है कि वह ज्ञान पाश्चानुभवी ज्ञान अथवा अनुभवगत प्रत्यक्ष कहलाता है वे दोनों (देश और काल) तो हमारी संवेदनशीलता में निरपेक्ष अनिवार्यता के साथ अन्तर्विष्ट रहते हैं।"[४]

कांट भी संवेदना को देश और काल से जोड़कर देखते हैं। यहाँ निरपेक्षता का अर्थ देश और काल से विलग होना नहीं है। इसीलिये वह संवेदना को ज्ञान के अन्दर वह तत्व मानते हैं जो अनुभवगत प्रत्यक्ष की कोटि में आता है। पाश्चानुभव से तात्पर्य यही है कि व्यक्ति भौतिक जगत के संपर्क में आने के पाश्चात् जो भी अनुभव करता है वे अन्ततः संवेदनाओं में पर्यवसित हो जाते हैं।

---

१. Those that have physical causes and mental effects we should define as 'Sensations', Russel, B., The Analysis of Mind, Page no. 138.
२. "We can define a sensation as the non-memoric elements in a perception", Russel, B. The Analysis Of Mind, Page no. 139.
३. "Sensation are what is common to the mental and physical worlds; they may be defined as the intersections of mind and matter", Russel, B., The Analysis of Mind, Page no. 144.
४. भोलानाथ शर्मा, शुद्ध बुद्धि मीमांसा, पृ०सं० ७५

संवेदना को गजानन माधव मुक्तिबोध ने एक और प्रसंग में इस तरह व्यक्त किया है – "बहुतेरे ऐसे कलाकार होते हैं जो अपने आभ्यन्तरीकृत (संवेदना–रूप–स्थित) जगत का त्याग करके उन भावचिन्तकों की पंक्ति में खड़े हो जाते हैं जिन्होंने साहित्यिक वातावरण बनाया।"[1]

इस कथन में मुक्तिबोध ने बाह्य जगत के आभ्यन्तरीकृत स्वरूप को संवेदना कहने की ओर हल्का मगर स्पष्ट संकेत किया है। यह आभ्यन्तरीकरण भी यथार्थ अनुभवों का अनुभूतियों में रूपान्तरित होना है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं वे सारे मनोविकार जो देश और काल की सापेक्षता में उत्पन्न होते हैं और जिनमें भौतिक जगत का प्रत्यक्ष बोध अनिवार्यतः समाया होता है, संवेदना पर ही आधृत होते हैं। वस्तुतः यथार्थ परिवेश से सम्यक् ज्ञान का सूक्ष्म मानसिक अनुभूतियों में पर्यवसान ही संवेदना है। संवेदना हमारे ज्ञान तत्व का परमाणु है।

संवेदना के आयाम :

मनुष्य इस समाज में रहता हुआ अपने दुख और सुख भोगता है और विभिन्न सामाजिक घटनाओं से प्रतिक्रियायित होकर अपने दुखों एवं सुखों को विभिन्न रूपों में व्यक्त करता है। हमारी समस्त दुख–सुखात्मक भावनाओं के प्रत्यक्षीकरण से सम्बन्धित जितने भी आयाम हो सकते हैं, वस्तुतः वे सभी संवेदना के ही आयाम कहे जायेंगे। सभी मानसिक घटनाओं के मूल में चूँकि संवेदना का तत्व अनिवार्यतया निहित होता है इसलिये समस्त भावनाओं एवं अनुभवों में भी संवेदना की उपस्थिति अनिवार्य है। बर्ट्रेण्ड रसेल ने भी 'सेन्सेशन' को दो रूपों–सुखात्मक एंव दुखात्मक रूप में वर्गीकृत किया है। संवेदना के आयामों को वर्गीकृत करते हुए रसेल के विचारों से सहमत हुआ जा सकता है।

---

१. नेमिचन्द्र जैन, संपादक – मुक्तिबोध रचनावली खण्ड – ५, पृ०सं० २२६

रागात्मक संवेदना :

राग तत्व इस सम्पूर्ण सृष्टि का मूल तत्व है। सम्पूर्ण सृष्टि की नियामक शक्ति राग शक्ति है। मनुष्य अपने राग बोध के कारण ही अपने को हर पल शेष सृष्टि के साथ जुड़ा हुआ पाता है। वह संसार को हर क्षण देखता है, उसकी ध्वनियों को सुनता है तथा उनसे प्रभावित होता रहता है। संसार की समस्त चेतन एवं अचेतन सत्तायें उसके राग बोध से जुड़ी रहती हैं। सारे प्राणी पशु पक्षी और मनुष्य उसके अन्दर के राग बोध के कारण ही अच्छे लगते हैं। राग तत्व मनुष्य को उसके अन्दर से निकालकर बाह्य संसार में अवस्थित कर देता है। भावुकता, प्रेम, आत्मीयता, स्मृतियाँ और आकर्षण की स्थितियाँ, राग सम्बन्धों की भूमिका निर्मित करती हैं। यह राग तत्व मनुष्य को मनुष्य के प्रति भी प्रेरित कर सकता है तथा मनुष्य के अतिरिक्त सृष्टि के किसी इतर उपादानों के प्रति भी। यह मनुष्य की मूल प्रवृत्ति ही होती है कि वह सृष्टि के सारे उपादानों, उसकी ऋतुओं एवं रंगों के प्रति एक विशेष रागात्मक लालसा रखता है और अनिवार्य जुड़ाव स्थापित किये रहता है।

सौन्दर्य बोधात्मक संवेदना :

मनुष्य के अन्दर उत्कृष्ट सौन्दर्य बोध होता है। यह सौन्दर्य बोध मनुष्यों के बीच भी हो सकता है तथा शेष सृष्टि के किसी भी उपादान के प्रति। पुरूष नारी के सौन्दर्य से अनादि काल से प्रभावित होता आया है। और ठीक उसी तरह अनादि काल से नारी पुरूष के सौन्दर्य बोध से प्रभावित होती आयी है। मनुष्य का सौन्दर्य बोध मात्र यहीं तक ही सीमित नहीं है उसे पक्षी, पशु, बन्दर, चीता आदि भी अच्छे लगते हैं तथा पेड़, फूल एवं पत्तियाँ और घास आदि भी। इतना ही नहीं, वह अचेतन सत्ताओं जैसे रेत का अनन्त विस्तार, निरभ्र आकाश, पठार एवं हिमाच्छादित उत्तुंग पाषाण शिखरों के सौन्दर्य पर भी अनादि काल से आकृष्ट होता रहा है। यह सौन्दर्य बोधात्मक संवेदना उसके व्यक्तित्व का एक अनिवार्य पहलू है। बिना इस तत्व के वह निरा पाषाण ही हो जायेगा। मनुष्य का सौन्दर्य बोध उसे पाषाण हो जाने से रोकता है। वर्तमान सन्दर्भों में जबकि मनुष्य मनुष्योचित चारित्रिक विशेषताओं से शून्य हो रहा है, वह पदार्थीकृत हो रहा है, ऐसे में उसका सौन्दर्य बोध उसके मनुष्य होने और बने रहने में एक सशक्त प्रहरी की भूमिका

का निर्वाह करता है।

वैचारिक संवेदना :

मनुष्य एक विचारवान प्राणी है। वह अपने आस–पास के परिवेश के प्रति जो सम्बन्ध रखता है उससे प्रतिक्रियायित भी होता है। वह संसार में घट रहे हर कुछ के प्रति सारी जानकारी रखता है और इन सांसारिक घटनाओं तथा उनसे प्राप्त अनुभवों के आधार पर ही अपनी विचारधारा का निर्माण करता है। वह किसी भी घटना के बारे में समग्र रूप से विचार कर सकता है। वह देश और काल तथा इसमें अवस्थित मनुष्य अथवा किसी भी प्राणी के अस्तित्व और अस्मिता के बारे में विचार करता है। यह कार्य वह युगों से स्वभावतः करता आ रहा है। मनुष्य के इस विचार तत्व ने उसे दार्शनिक, मनीषी, कलाकार तथा वैज्ञानिक बनाया है, जिनके आधार पर वह आज अपने को अन्य प्राणियों की अपेक्षा सर्वोत्कृष्ट जाति मानता है। उसकी अब तक की सारी उन्नति पुरापाषाण काल से लेकर वर्तमान औद्योगिक युग तक उसकी विचार सम्पदा पर ही आधृत है। इसी के आधार पर वह पर्वतों, समुद्रों एवं धरती के गर्भ में झाँक सका तथा ग्रहों, नक्षत्रों एवं अनन्त ब्रह्माण्ड तक अपनी चेतना का प्रसार कर पाया है। मनुष्य चूँकि एक सतत प्रगतिशील प्राणी है इसलिये उसकी वैचारिक संवेदना के क्षितिज दिनों दिन व्यापकतर होते जाते हैं।

मूल्य बोध :

हर युग के समाज में उसकी सामाजिकता का निर्धारण करने वाले कुछ मूल्य होते हैं, जो युगान्तर के साथ ही परिवर्तित होते रहते हैं, मानव समाज वस्तुतः इन मानव मूल्यों की बैसाखी पर ही अवलम्बित होता है। मानव विचारवान प्राणी होने के नाते इन मूल्यों के सृजन और विनाश में एक अनिवार्य भूमिका निभाता है। इन्हीं मूल्यों के आधार पर वह अपनी तथा सामाजिक आचार संहिता को निर्मित एवं स्थापित करता है। नैतिकता, श्लीलता, पावनता आदि की मान्यतायें इन्हीं मूल्यों से ही निःसृत होती हैं। ये मानव मूल्य मानव को सदैव सुख ही नहीं पहुँचाते। कभी–कभी उसके सुकोमल मन को आघात भी देते हैं। इन्हीं क्षणों में वह अपने अन्य मनोविकारों जैसे ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध,

विद्रोह, आक्रोश आदि भावों को अभिव्यक्त करता है। ये सारे मनोभाव व्यक्ति एवं समाज के उत्थान के लिये अत्यन्त आवश्यक भी होते हैं क्योंकि ये मनोभाव के मूल्यों के उद्भव एवं उनके पोषण तथा परिवर्तन में आवश्यक भूमिका का निर्वाह करते हैं।

मानवीय करुणा :

करुणा मनुष्यता का प्राणतत्व है। काव्यशास्त्र में भी भवभूति जैसे महान आचार्यों ने 'एकोरसः करुण एव' कहकर इसकी प्रधानता सिद्ध की है। वस्तुतः करुणा ऐसा मनोविकार है जिसमें दूसरे के दुख को देखकर दुखी होने का भाव निहित है। यह सामाजिक जीवन का आधारभूत तत्व है। अगर दूसरों के दुख को देखकर हम जरा भी संवेदित नहीं होते तो मनुष्य होने की अपेक्षा प्रस्तर होने के कहीं अधिक निकट हैं। करुणा जिसके प्रति उत्पन्न होती है उसके प्रति हमारे अन्तस में कल्याणकारी चिन्ता का भाव रहता है। समाज में अनेकानेक दृश्य हमें दिखाई देते हैं। जिनको देखकर हम दुख से विगलित हो जाते हैं, भले ही उनका कोई सीधा प्रभाव हमारे ऊपर न पड़ता हो। यही हमारे मन की विशेषता है। यही हमारी मनुष्यता की आधारभूत शर्त एवं अनिवार्य पहचान है। व्यवहार जगत में मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध जोड़ने वाला यही तत्व होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने करुणा के बारे में कहा है – "करुणा की प्राप्ति के लिये पात्र में दुख के अतिरिक्त और किसी विशेषता की अपेक्षा नहीं। ....दूसरों के दुख से दुखी होने का नियम बहुत व्यापक है और दूसरों के सुख से सुखी होने का नियम उसकी अपेक्षा परिमित है।"[१]

कहने का अर्थ यही है कि करुणा विश्व व्यापक भाव है। जाति, धर्म, राज्य आदि की दीवारें मूल में ही कृत्रिम और अशक्त होती हैं। वे करुणा के अगाध और दिगन्तव्यापी जलधि को बांट नहीं पाती। इसके अनगिनत उदाहरण पुरातन काल से लेकर अधुनातन काल तक सतत उपस्थित हैं और मनुष्यता का जय घोष कर रहे हैं।

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, भाग – १, पृ०सं० ४५

संत्रास :

संत्रास भय की संवेदनात्मक स्थिति है। व्यक्ति के कुपित अंश अब गोपनीय नहीं रह गये हैं। इस नाते व्यक्ति अपने को सामाजिक दुर्घटनापूर्ण परिस्थितियों से घिरा हुआ अनुभव करता है। विशेष रूप से युद्ध या जीवन संघर्ष के कारण जहाँ जीवन या मरण का प्रश्न है या देश में आपात काल की घोषणा हो जाय, या किसी कारण युद्ध की सम्भावना बढ़ जाय तो देश के नागरिक अपने को सन्त्रस्त अनुभव करते हैं। युद्ध और संघर्ष के रूप इस शताब्दी में इतने बदल गये हैं कि सम्भावना मात्र से ही हम सन्त्रस्त हो जाते हैं। भय के कारक तत्व से साक्षात्कार होने से पूर्व ही भयभीत रहने की मानसिक स्थिति सम्भावना मात्र से कहा जाय – हमें सन्त्रस्त कर देती है। यदि हम अपने को सताया हुआ अनुभव करते हैं और जानते नहीं या फिर जानते हैं तो साधनों का अकाल है और उस परिस्थिति का सामना करने में साहस की कमी है तो हम सदैव सन्त्रस्त रहते हैं जिसके कारण जीवन शक्ति का निरन्तर ह्रास होता रहता है। वर्तमान युग में हर कोई अपने को सताया हुआ और सदैव अरक्षित अनुभव करता है। उसके अवचेतन में जीवन के सम्भावित नकारात्मक पक्ष सदैव अपनी जड़ें जमाये रहते हैं इसलिये इस युग में हमारी संवेदना में एक महत्वपूर्ण भूमिका सन्त्रास की होती है।

अलगाव :

परिचय से भय कम होता है किन्तु अजनबियों के बीच रहने से भय बढ़ता है। कौन है? क्या है? क्यों है? ....आदि अनेक प्रश्न दिमाग को घेरते हैं। सबको सबका समाधान मिल ही जायेगा, ऐसा तो नहीं है। अलगाव एक प्रकार से न जुड़ पाने की स्थिति है। व्यक्ति यदि दूसरे व्यक्ति में रुचि न ले, समूह यदि दूसरे समूह में और इसी तरह एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र में रूचि न ले तो उनकी अनुभूतियों में अलगाव की वृत्ति उभर आयेगी। अलगाव की स्थिति में हरेक व्यक्ति टूटा–टूटा रहता है। समाज में कटकर जीने के परिणाम व्यक्ति को अकेले में भुगतने पड़ते हैं। यहाँ पर भी इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि अलगाव से समाज में रहते हुए भी समाज से कटकर रहने का अनुभव हृदय को निरन्तर सालता रहता है। इस सम्बन्ध में डॉ0 शिवदान सिंह चौहान ने कहा है कि – "आमतौर पर संवेदनशील व्यक्ति आज अपने को समाज में

बेगाना और अजनबी महसूस करता है, इस अजनबीपन और अलगाव का भावबोध भीड़ में होकर भी उससे तटस्थ, भिन्न और उससे विरक्त महसूस करना उसके मन में एक टीस एक कचोट—एक दर्द भर देता है। जिससे छुटकारा पाने का उपाय नजर नहीं आता।"

वर्तमान समय में अलगाव का दायरा बढ़ता जा रहा है, संवेदना को सतत् मार रहा है और संवेदनशील व्यक्ति के लिये उसकी जिजीविषा के समक्ष गम्भीर चुनौती के रूप में खड़ा है।

संवेदना और काव्य संवेदन :

कवि भी मूलतः एक सामान्य व्यक्ति के रूप में सामान्य सामाजिक प्राणी होता है। वह इस समाज के सुखों—दुखों, रागो विरागों को झेलता है, अनुभव करता है और सांसारिक घटनाओं से प्रतिक्रियायित होता है। व्यक्ति समाज में रहता हुआ सामाजिक ज्ञान का बोध करता है। वह अपने आस—पास के परिवेश का सतत ज्ञान प्राप्त करता है। इस प्रकार सारे बोधात्मक—ज्ञानात्मक अनुभव संवेदना के रूप में मानस और अन्तस में इकट्ठे होते रहते हैं। इस संवेदना को काव्य संवेदना में बदलने का कार्य रचनाकार करता है। रचनाकार का कार्य बोध किये गये संवेदना रूप को अभिव्यक्ति देना होता है। इस प्रकार काव्य संवेदना का अकेला उत्तरदायी पक्ष रचनाकार का पक्ष होता है।

वस्तुतः संवेदना से काव्य संवेदना की यात्रा रचनाशीलता के क्षेत्र में "पुनः सृजन" के नाम से जानी जाती है। बिना इस सार्थक पुनर्सृजन के संवेदना एक सफल काव्य संवेदन नहीं बन सकती है। इस पुनर्सृजन पर समय—समय पर रचनाकारों द्वारा बल दिया जाता रहा है उसे यथासम्भव रचनात्मक प्रक्रिया के रूप में थोड़ा या बहुत विश्लेषित किया जाता रहा है। वस्तुतः अरस्तू का अनुकरण सिद्धान्त इसी पुनर्सृजन पर आधृत है। अरस्तू का मानना है कि – "चित्रकार अथवा किसी भी अन्य कलाकार की तरह कवि अनुकर्ता होता है।"[१] वस्तुतः इस अनुकरण से तात्पर्य यथावत् प्रतिकृति या नकल से

---

१. डॉ० नगेन्द्र, अरस्तू का कव्यशास्त्र, पृ०सं० ६६

नहीं है। वस्तुतः उसका अर्थ जीवन के पुनर्सृजन से होता है जैसा कि स्काट जेम्स ने लिखा है – "अरस्तू के काव्यशास्त्र में, अनुकरण से अभिप्राय साहित्य में जीवन का वस्तुपरक अंकन, जिसे हम अपनी भाषा में जीवन का कल्पनात्मक पुनर्निर्माण कह सकते हैं।"[१]

अरस्तू एक दृश्य काव्य अर्थात् नाटक को छह अंशों में बाँटता है –

१. कथानक

२. चरित्र

३. पद रचना

४. विचार तत्व

५. दृश्य विधान

६. गीत

इनमें से प्रारम्भ के दो अंग अनुकरण के माध्यम हैं, एक अनुकरण की विधि और शेष तीन अनुकरण के विषय। बाह्य संसार का जो संवेदीकृत रूप रचनाकार के अन्दर होता है, वह इन्हीं माध्यमों का सहारा लेकर, काव्य संवेदन में परिणत करता है। वह बाह्य यथार्थ जीवन को अपने अन्दर समेटता है। और उसे अपने अन्दर पुनर्सृजित करके उसकी अभिव्यक्ति कर देता है। संस्कृत काव्य शास्त्र में भी अनुकरण शब्द का प्रयोग मिलता है, जिसका अर्थ पुनर्सृजन अर्थात् संवेदना को काव्य संवेदन में बदलने से ही है। धनंजय के अपने दशरूपक में नाटक को अवस्था की अनुकृति बताने से पूर्व (अवस्थानुकार्यानाट्यम्) भरत के नाटक को लोक स्वभाव का अनुकरण (लोक स्वभावानुकरणाच्च नाट्यस्य सत्वमीप्सितम्)[२] या लोकवृत्त का अनुकरण (लोक वृत्तानुकरण शास्त्रामेतन्मया कृतम)[३] माना है।

हिन्दी में प्रसिद्ध कवि मुक्तिबोध ने संवेदना को कवि कर्म के लिये अत्यन्त

---

१. James, R.A.Scott, The Making of Literature, Page 130.
२. नाट्य शास्त्र (काव्यमाला) भरत रचित 'नाट्य शास्त्र', पृ०सं० १३०
३. तदैव

आवश्यक माना है। उसके अनुसार प्रत्येक रचना में कोई न कोई संवेदनात्मक उद्देश्य अवश्य पाया जाता है। यह संवेदनात्मक उद्देश्य भी किसी काव्य रचना को सही अर्थों और सन्दर्भों में काव्य रचना बनाता है। संवेदनात्मक उद्देश्यों के बारे में मुक्तिबोध के विचार दृष्टव्य हैं और उसी से उद्‌गत होते हैं। लेखक के पूरे व्यक्तित्व से समुद्‌गत ये संवेदनात्मक उद्देश्य उसके अनुभवों का विशेष रूप से संकलन करते हुए उन्हें अपनी पूर्ति की दिशा में प्रवाहित कर देते हैं। यह पूर्ति (लेखक–कलाकार के लिये) अभिव्यक्ति में होती है।"[1]

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य रचना के अन्दर जो संवेदनात्मक उद्देश्य कार्य करते हैं, वे उन्हीं भावों की उपज होते हैं जो मनुष्य या कलाकार को बाह्य परिवेश के साक्षात्कार से प्राप्त होते हैं। 'लेखक के व्यक्तित्व से समुद्‌गत' कर अर्थ बड़ा व्यापक हो जाता है। लेखक के व्यक्तित्व में सचमुच बाह्य संसार का सारा आभ्यन्तरीकृत स्वरूप ही निहित होता है। बाह्य संसार से प्राप्त सारे अनुभव या भाव संसार तथा अभिव्यक्ति के मध्य रचनाकार के अन्दर सन्निहित सारे संवेदनात्मक उद्देश्य ही किसी रचना के स्वरूप का निर्धारण करते हैं। रचना का स्वरूप यह द्योतन करता है कि विभिन्न सांसारिक भावों को ग्रहण करने के बाद कवि के अन्दर कैसे संवेदनात्मक उद्देश्य उत्पन्न हुए जिनसे कि रचना यह आकार प्राप्त कर सकी। इसी को आनन्दवर्धन ने अपनी तरह से कहा था –

"अपारे काव्य संसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तिते।"[2]

भारतीय काव्य चिन्तन में संवेदना :

अपने नाट्य शास्त्र में जब भरत ने कहा कि "तत्र विभावानुभाव संचारी संयोगाद्रसः निष्पत्तिः।"[3] तो वह इस रस सिद्धान्त के मूल में संवेदना के तत्व को ही स्वीकार कर

---

१. नेमिचन्द्र जैन – संपादक, मुक्तिबोध रचनावली – ५, पृ०सं० २२६
२. आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, पृ०सं० ४८२
३. डॉ० बच्चन सिंह भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन, पृ०सं० ७३

रहे थे। तत्र जिसका अर्थ स्वयं भरत ने रंगमंच से लिया है, उसमें कोई लोक व्यवहार ही अभिनीत किया जाता है। लोक की कोई भी गतिविधि जिसे दर्शक अपने भाव एवं ज्ञान के क्षेत्र में रखता है, फिर भी उस अभिनय प्रस्तुति विशेष को देखकर वह विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग से रस दशा को प्राप्त होता है।

अलंकार सम्प्रदाय में दण्डी ने अलंकारों को काव्य का शोभाकारक धर्म माना है। ("काव्य शोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते") जब वामन ने सौन्दर्य को ही अलंकार माना है – 'सौन्दर्यमलंकारः'[1] अपने व्यापक अर्थ में अलंकार रस भाव को ही अलंकृत करते हैं। रसभाव आदि अलंकार्य हैं। इसी प्रकार वक्रोक्तिवाद जो कि अलंकार ही माना जाता है, इसी तथ्य पर जोर देता है कि साधारण वर्णन में रसभाव अथवा संवेदना अपनी पूरी प्रभाव क्षमता में अभिव्यक्त नहीं हो पाती। इसीलिये इस अभिव्यक्ति विशेष में चारुता पैदा करने के लिये वक्रता अपनानी पड़ती है। कुन्तक ने काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है –

"शब्दार्थौ सहितौ वक्र कवि व्यापार शालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाल्हाद कारिणि।"[2]

इसी प्रकार ध्वनिवादी काव्य की आत्मा ध्वनि मानते हैं परन्तु इसे आत्मा मानने का यह अर्थ नहीं है कि शब्द और अर्थ की उपेक्षा की जाय। बस ध्यान इस बात पर देना है कि अभिधार्थ तक सीमित रहने वाला काव्य बहुत उच्च श्रेणी का काव्य नहीं होता। उच्च श्रेणी का काव्य होने के लिये अर्थ प्रतीति को व्यंग्यार्थ या ध्वनि या प्रतीपमान अर्थ की अभिव्यक्ति करनी पड़ेगी। आनन्दवर्धन ने लिखा है –

"यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुप सर्जनी कृत स्वार्थो।
व्यक्तः काव्य विशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।"[3]

---

१. डॉ बच्चन सिंह, भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन, पृ०सं० ६३
२. तदैव
३. आनन्द वर्धन, ध्वन्यालोक १, १३

अर्थात् – जहाँ अर्थ अपने को अथवा शब्द अपने को गुणीभूत करके उस (प्रतीपमान) अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं उस काव्य को विद्वान लोग ध्वनि (काव्य) कहते हैं। यह प्रतीपमान अर्थ श्रोता या पाठक का भावबोध या संवेदना को उच्चतर कक्षा में अवस्थित कर देता है।

भारतीय काव्य चिन्तन में लोक से जुड़ाव और लोकानुभवगत अथवा संवेदना को स्थान अवश्य ही मिला है। काव्यप्रकाश में मम्मट काव्य के हेतु बताते हुए शक्ति प्रतिभा, निपुणता, काव्य विषयों के ज्ञान के साथ साथ लोकशास्त्र के अनुशीलन पर भी जोर देते हैं।[१] यहाँ लोकशास्त्र के अनुशीलन से अर्थ लोक के सम्यक बोध और उसके मनोगत प्रभाव से है। भिखारीदास ने भी इसी बात पर जोर दिया है –

"सूक्ति कवित्त बनाइबे की जेहि
जन्म नक्षत्र में दीन्हि बिधाते
काव्य की रीति सिखी सुकवीन्ह सो
देखी सुनी बहुलोक की बातें।"[२]

इस पद की अन्तिम पंक्ति "देखी सुनी बहुलोक की बातें" वस्तुतः कवि से इस बात की मांग करती है कि उसे लोक अर्थात् परिवेश की बहुत सारी बातें पता हों तभी वह श्रेष्ठ कवि हो सकता है। बिना इस बहुआयामी लोक या परिवेश को जाने सफल काव्य रचना असम्भव है। कवि की प्रतिभा सचमुच में भगवान शंकर का ज्ञान चक्षु है, जिसके माध्यम से वह सम्पूर्ण संसार को अपनी बोध परिधि के अन्दर समेट लेता है जैसा कि महिम भट्ट का कहना है –

"सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात् करोत्येव भावांस्त्रैलोक्य वर्तिनः।"[३]

---

१. आचार्य मम्मट, काव्यप्रकाश, पृ०सं० १.३
२. भिखारी दास, काव्य निर्णय, पृ०सं० ५
३. डॉ० नगेन्द्र, अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ०सं० ३३

अर्थात् – "रसानुकूल शब्द और अर्थ की चिन्ता में लीन एकाग्रचित्त कवि की प्रज्ञा जब क्षण भर के लिये पदार्थ के सच्चे स्वरूप का स्पर्श करती हुयी उद्बुद्ध होती है तब वह प्रतिभा नाम को धारण करती है। वही भगवान शंकर का तृतीय नेत्र उसी के द्वारा कवि त्रैलोक्यवर्ती भावों का साक्षात्कार करता है।"

भारतीय काव्य में 'करुणा' नाम के मनोविकार को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। करुण रस सभी रसों का मूल स्वीकार किया गया है। भवभूति तो 'करुणेव एकोरसः' कहते हुए काव्य में उसके एकाधिकार की घोषणा ही कर देते हैं। करुणा की प्रथम अभिव्यक्ति भी सृष्टि के प्रथम श्लोक में स्वीकार की जाती है। वाल्मीकि के अन्तस् में निःसन्देह करुणा का अगाध सागर रहा होगा, तभी उन्होंने लिखा –

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः सभाः।
यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधीः काम मोहितम्।"[1]

करुण रस को समझाते हुए भवभूति अपने ग्रन्थ 'उत्तर रामचरितम्' में लिखते हैं–

"अनिर्भिन्नों गंभीरत्वादन्तगूढाघन व्यथः।
पुटपाक प्रतीकाशो रामस्य करुणोरसः।।"[2]

अर्थात् – मर्यादा पुरुषोत्तम राम का करुण रस अत्यन्त गंभीर गूढ़ और पुटपाक की तरह अन्दर ही अन्दर घनी व्यथा को देने वाला है।

हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने करुणा को सारे मनोभावों में प्रमुख माना है और उसे काव्य के लिये आवश्यक माना है। वस्तुतः शुक्ल जी की इससे बड़ी देन रस की व्याख्या है। यह व्याख्या संवेदना का ही उद्घाटन करती है। रस दशा को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'हृदय की मुक्तावस्था' मानते हैं। इस पर गम्भीरता से विचार करना आवश्यक है। यह 'मुक्तावस्था' अपने परिवेश से मुक्ति नहीं है जैसा कि बहुत से मनीषी

---

१. वाल्मीकि रामायण
२. भवभूति, उत्तर रामचरितं, पृ०सं० ३११

समझते हैं। यह मुक्ति आत्म से मुक्ति है। बिना आत्म से मुक्ति लिये कोई भी अपने परिवेश से कैसे जुड़ सकता है? स्वयं शुक्ल जी ने कहा है "कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ सम्बन्धों के संकुचित मंडल से उठाकर लोक सामान्य भाव भूमि पर ले जाती है। ....इस भाव भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिये अपना पता नहीं रहता है। ....इस अनुभूति योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।"[१]

वस्तुतः लोक सामान्य भाव भूमि संवेदना भूमि है और लोक सत्ता संवेदन सत्ता ही है, जहाँ पहुँचना कवि का उद्देश्य होता है।

मुक्तिबोध ने संवेदना के दो रूप, संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना बताते हुए उसका काव्य में उपस्थित होना अनिवार्य माना है – "जगत जीवन की संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना के भीतर समाई मार्मिक आलोचना दृष्टि के बिना कवि कर्म अधूरा रह जाता है।"[२]

कविता की इसी संवेदनात्मक क्षमता को प्रसिद्ध कवि समीक्षक अशोक बाजपेयी इन शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं – "कविता मनुष्य का अपना आविष्कार है : मनुष्यता का अक्षय मार्मिक पर्याय। वह हमें सहज ही दूसरों के साथ लाती है : चीजों, नक्षत्रों सम्बन्धों, प्रकृति, लोगों और कर्म के पास पड़ोस में अनायास ही शामिल कर देती है।. ....आज संसार की कविता हमारे समय का सबसे विश्वसनीय आदमीनामा है। एक ऐसा सम्बोधन जो हम सबके लिये है, अगर हमारे पास थोड़ा सा समय अपनी हालत समझने, अपने मनुष्य होने के संकट को पहचानने और अपने आत्म विस्तार के लिये थोड़ी देर ठिठकने का हो।"[३]

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि (भाग–१), पृ०सं० १६२
२. मुक्तिबोध रचनावली खण्ड – ५, पृ०सं० १६१
३. अशोक बाजपेयी, पुनर्वसु, पृ०सं० २२७

विरहिणी की काव्य भाषा :

आधुनिक हिन्दी कवियों में आचार्य मुंशीराम शर्मा का अप्रतिम स्थान है। प्रसाद रचित कामायनी की भांति आचार्य शर्मा की काव्य साधना की चरम परिणति विरहिणी है। वास्तव में 'विरहिणी' सम्पूर्ण हिन्दी वाङ्‌मय का एक अनूठा महाकाव्य है जिसमें आत्मा और परमात्मा के सम्बन्धों की इतनी विशद्, व्यापक और गम्भीर प्रस्तुति आज तक किसी कवि ने नहीं की है। प्रस्तुत महाकाव्य में द्वादश सर्ग हैं जिसमें कवि ने जीवात्मा और परमात्मा के विरह का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है।

आधुनिक युग में भाषा के बहुआयामी प्रकार्य प्रकट हुए हैं। साहित्य और आलोचना के क्षेत्र में भाषा कवि के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की प्रतिनिधि, उसके अनुभव और ज्ञान का साधन एवं अभिव्यक्तिकरण तथा साहित्य का विश्लेषण करके इसके अनुभव एवं जीवनगत यथार्थ की शक्ति और सीमा का प्रकाशन कर देने में समर्थ है।[१] कविता के सन्दर्भ में अब यह भी प्रमाणित हो गया है कि भाषा अभिव्यक्ति का निर्जीव माध्यम मात्र न होकर स्वतः सम्पूर्ण सर्जनात्मक प्रतीक प्रणाली है जिसके माध्यम से कवि नित्य नवीन अनुभवखंडों तथा जीवनगत यथार्थ रूपों को पकड़ता है तथा लगभग उसी भंगिमा में उसे अभिव्यक्त कर देता है। अतः नई भाषा नये वस्तुविधान को स्वयमेव खोजकर उसे परिस्थिति के अनुरूप ठोस एवं पूर्ण द्वन्द्वात्मकता के साथ अभिव्यक्त कर देती है। प्रसिद्ध समीक्षक डॉ० नामवर सिंह ने इसी संदर्भ में विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि "काव्यभाषा के स्तर पर सृजनशीलता बहुत कुछ अन्वेषण का पर्याय है। किसी नये शब्द को खोजने का अर्थ ही है किसी नये अनुभवखण्ड अथवा वास्तविकता के किसी नये पहलू की खोज।"[२] यही नये पहलू की खोज प्रत्येक युग की काव्यभाषा के संधान का विषय रहा है। पुरानी भाषा जैसे ही परिवर्तित समाज एवं परिस्थितियों के लिये दुर्बल पड़ जाती है शीघ्र ही, नई भाषा नये संदर्भों के साथ जन्म लेने लगती है।

'विरहिणी' की अभिव्यक्ति शैली को पौराणिक शैली के नाम से अभिहित किया जा

---

१. डॉ० हरिमोहन शर्मा, उत्तर छायावादी काव्यभाषा, पृ०सं० ४६
२. डॉ० नामवर सिंह, कविता के नये प्रतिमान, पृ०सं० ११३

सकता है। इसमें कवि ने किसी आख्यायिका की सहायता से वर्णन नहीं किया है। इसमें सीधे जीवात्मा की पुकार व्यक्त की गयी है। यह शुद्ध रूप से वैदिक शैली है। इसीलिये 'विरहिणी' की काव्य भाषा कुछ विशिष्टताओं से युक्त है जिसका उल्लेख निम्नांकित शीर्षकों में किया जा सकता है –

तत्सम शब्दों की क्लिष्टता :

कवि सोम के समग्र काव्य साहित्य में तत्सम शब्दों की बहुलता है। कारण स्पष्ट है कि वे वैदिक साहित्य के विद्वान हैं। यदि हम उनके मुक्तक काव्यों पर दृष्टिपात करें तो यह प्रवृत्ति उन रचनाओं में भी दिखाई देगी। 'विरहिणी' महाकाव्य में भी कवि ने तत्सम शब्दावली को मूल रूप से आत्मसात किया है –

"सौमनस, सुमति, मधुमती, ज्योति,
आकूति हूति से भरिता।
यह वह, सब मधु–परिषिच्यमान,
प्रेस्रवित सामने मधु सरिता।
मधु कुण्ड–कलश मधु यजन द्वीप,
मधु घृत आहुति समिधा समिद्ध।
मधु होता मधु मंत्रोच्चारण,
मधु से परिप्लावित स्वर्ग सिद्ध।।"[१]

इसी प्रकार 'विरहिणी' महाकाव्य में एक अन्य स्थल पर इसी तत्सम शब्दावली का प्रयोग किया गया है जो हिन्दी में सामान्य रूप से प्रचलित नहीं होती है –

"यहाँ तपी, त्यागी, यजत्र, प्रभु प्रेमी प्राणी,
भोग रहे निज सुकृति–सुफल शुभगति कल्याणी।
यहाँ सोमपा, यहाँ सुगोपा, यहाँ अमानी,
समरसता के धनी, भक्त ध्रुव, ध्यानी ज्ञानी।"[२]

---

१. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', विरहिणी, पृ०सं० १६८
२. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', विरहिणी, पृ०सं० १४६

'विरहिणी' के प्रारम्भ में इसी प्रकार की शब्दावली का प्रयोग कवि ने किया है –

> 'भ्राजमाना यश से परिवृत्ता ज्योतिषावृत्ता प्रेम से प्लुता।
> अवतरण क्षीण, विरहिणी दीन प्राणप्रिय से होगी संयुता।।'[१]

'विरहिणी' महाकाव्य में कवि ने ऐसे तत्सम शब्द को भी अपनी रचना में प्रयुक्त किया है जिनका प्रयोग हिन्दी में विरल होता है। भाषा का विधान भावानुसार सरल और ऋजु होता चला गया है। इसका कारण यह है कि कवि ने अपनी कविता में प्रकृति अथवा प्रेम के उदात्त पक्षों का चयन किया है जिसके द्वारा भाषा अभिजात प्रवृत्तियों से युक्त हो जाती है।

'विरहिणी' महाकाव्य में ऐसे अप्रचलित तत्सम शब्द बहुलता से हैं – जव भिषक, पाठीन, हरिधायस, वर्पस, अहिवात, रोदसी, अयमयी, शर्वरी, न्योक, स्तोक, विदथ, त्रिविष्टप, प्राशन, अपनोदी, प्रतोदी, सोमया, सुगोपा, आपोमय, ध्यान, धीतियाँ, वत्सतरी, संभृत, मंहिष्ठ, अभीद्ध, जातवेद, सारध, परिषिच्यमान, वाजिनीवती आदि ऐसे ही शब्द हैं जिनका प्रयोग हिन्दी कवियों ने अपनी काव्य रचनाओं में कम ही किया है।

तत्सम-तद्भव शब्दों का सामंजस्य :

कविवर सोम के काव्य 'विरहिणी' में जहाँ एक ओर तत्सम शब्दावली की प्रमुखता दृष्टिगोचर होती है वहीं दूसरी ओर शब्दों की कठोरता को कोमलता में परिवर्तित करने के लिये शब्दों का तद्भवीकरण किया गया है। इसके अतिरिक्त शब्दों के तद्भव रूप के आ जाने के कारण वाक्य रचना में प्रवहमानता भी आद्यन्त परिलक्षित है –

> प्रहरों पर दिन, दिन पर पखवारे बीते,
> पक्षों पर बीते मास, गये ऋतु रीते।
> हायन पर हायन, हाय न मैंने जीते,
> जीवन बीता है, घूंट रक्त का पीते।

---

१. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', विरहिणी, पृ०सं० ७२

दिन रात न जाने कितने दुख में डूबे।
सब नष्ट हो गये बांधे जो मनसूबे।
कितने जीवन बीते हैं ऊबे–ऊबे,
निःशेष, क्लेश, कब होंगे, नस–नस खूबे।[1]

इन पंक्तियों में 'पखवारे' 'बीते' 'हायन' 'दिनरात' बाँधे' 'मनसूबे' 'ऊबे ऊबे' आदि तद्भव और उर्दू शब्दों को कवि ने प्रयुक्त किया है वहीं 'प्रहर', 'ऋतु', 'निःशेष', 'क्लेश' आदि तत्सम शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रकार 'विरहिणी' के एक अन्य स्थल पर 'विरह' सर्ग में कवि ने विरहिणी की व्यथा को व्यक्त करते हुए लिखा है –

"चुप रहूँ किसी से कथा कहूँ क्यों मन की ?
सुनता है कोई कहीं व्यथा पर–तन की ?
जब अपना प्रिय ही अपने से रुठा है
तब कहना–सुनना, सभी यहाँ झूठा है।"[2]

इन शब्दों में 'रूठा', 'झूठा', 'कहना–सुनना' आदि सभी तद्भव शब्द भावों की तीव्रता एवं प्रवहमानता के परिप्रेक्ष्य में ही व्यक्त हुए हैं।

लोकभाषा के शब्दों से गीतों में माधुर्य की सृष्टि :

'विरहिणी' महाकाव्य में आत्मा एवं परमात्मा के आत्मीय सम्बन्धों की प्रगाढ़ता को दर्शाने का प्रयास कवि ने किया है। इसी आधार पर 'विरहिणी' आत्मा प्रिय की प्रतीक्षा करती है। कवि के इस विवेचन में कहीं–कहीं वे शब्द अनायास ही आ गये हैं जो अंचल से सम्पृक्त हैं। कहीं–कहीं वे शब्द हमें सहज प्राप्त हो जाते हैं जिनमें लोक चेतना की अनुगूंज है –

---

१. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', विरहिणी, पृ०सं० ६५
२. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', विरहिणी, पृ०सं० ७७

मेरी अमराई में–री सखि ! मेरी अमराई में
कूज रही क्यों आज कोकिला स्वर की शहनाई में?
अरे, न यह क्या मंगल बेला? विरह–बाण कोकिल ने झेला?
पंचम स्वर में वही अकेला, बोल रहा हा हा की हेला !
आ, समभागिनि, मिलकर भर दे अश्रुविरह खाई में।
क्या न यहाँ बासन्ती वैभव? प्राण–पिकी का यह सकरुण रव?
उखड़ी साँस समीरण का जब। फूल–फूल व्रण–अरुण रक्त–स्रव
यहाँ कहाँ प्रिय, सब कुछ अप्रिय, प्रिय की पुरवाई में।
दिन पलटे पतझड़ के बीते, पर मैं मृत अपने ही जीते,
किसलय उधर इधर रंगरीते, आवें यदि आवें मनचीते।
डाल रही है, मुझे प्रतीक्षा, पीड़ा–परुषाई में।।[1]

'अमराई', 'समभागिनि', 'पुरवाई', 'कूज', 'रंगरीते' आदि शब्दों में माधुर्य भावों की व्यंजना हुई है। भाषा में माधुर्य की सृष्टि के लिये कवि ने ब्रज भाषा की शब्दावली का कहीं–कहीं प्रयोग किया है –

प्रकृति कपोलों पर गुलाब की आब बिराजै,
गेंदा की लालिमा अधर द्युति देखत लाजै।
राशि राशि खिल रहे पुष्प, उपवन छवि छाजै।
नियति नहीं जिनसे स्वरूप की सज्जा साजै।।[2]

'बिराजै', 'लाजै', 'छाजै', 'साजै' आदि भाषा की श्री–वृद्धि में सहायक हुए हैं।

छायावादी भाषा की अनुगूंज :

'विरहिणी' महाकाव्य में भाव और भाषा दोनों ही का निर्माण कवि ने अपने आधार पर ही किया है। किन्तु कहीं कहीं प्रसाद रचित 'आँसू' की वेदना भी झलकती

---

१. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', विरहिणी, पृ०सं० ७५
२. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', विरहिणी, पृ०सं० ८०

चलती है –

जलाती है प्रतिपल चाँदनी, दिखाते आँखे निशि के याम।
चण्डकर के प्रचंडकर मार, रुलाते हैं मुझको दिन याम।
क्रूर से क्रूर रूप के साथ, सुखाती सूखे तन की घाम।
मारते तक–तक तीखे बाण, शरद सार्थक है तेरा नाम।[1]

संस्कृत के तद्धित प्रत्यय के प्रयोग से कवि सोम ने नवीन शब्दों का निर्माण किया है। गुण वाचक 'इल्' प्रत्यय लगाकर पंकिल, श्यामल, इमा प्रत्यय लगाकर मधुरिमा, अरुणिमा, महिमा, लालिमा, वरिमा, प्रियतमा, रसमोपमा, आदि शब्द मिलते हैं। इसी प्रकार मान और वत प्रत्यय लगाकर 'विराजमान', 'भासमान', 'नाशवान', 'प्रवहमान', 'द्योतमान' आदि शब्द सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं। छायावादी शब्दावली की प्रतिच्छाया कवि सोम की 'विरहिणी' में पूर्ण रूप से प्रतिभासित है –

है दिव्य रमण, रमणीय चरण कृति कान्त शान्त।
समिधा समृद्ध सुख स्वतः सिद्ध सब देव दान्त।
परिपूर्ण प्रभा, भरणीय विभा विध्वस्त ध्वान्त।
शोभित विमान की विद्युत से द्यौ के दिशान्त।।[2]

कवि के कुछ गीतों में महादेवी जी के गीतों से साम्य कहीं–कहीं झलकता है –

'सुमन वन–प्रिय दूत आये,
प्राणधन के पास रहकर परम प्रिय संदेश लाये।
तुम प्रसन्न, प्रसन्न है प्रिय, जानकर प्रिय प्राण पाये।
आज तुम में ज्योति फूटी अरुणिमा आशा सजाये।'[3]

---

१. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', विरहिणी, पृ०सं० ६७
२. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', विरहिणी, पृ०सं० १५४
३. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', विरहिणी, पृ०सं० ७२

तत्समेतर शब्दावली :

कवि सोम ने तत्सम और तद्भव शब्दों के अतिरिक्त कुछ देशज, उर्दू और प्रचलित आंग्ल भाषा के शब्द भी एक दो स्थल पर प्रयोग किये हैं। इसके सन्दर्भ में विजय देव नारायण साही का यह कथन कितना समीचीन है "रीतिबद्धता भाषा में चमक, लालित्य, स्थिरता, प्रसन्नता, वर्गाश्रयीपन पैदा करती है। लेकिन वह उसकी प्राण शक्ति नहीं होती, प्राण शक्ति तो वहाँ होती है जहाँ रीतियाँ तोड़ी जाती हैं और शब्दों का प्रयोग इस प्रकार होता है कि वे सिलवटों के भीतर नहीं, भाषा के पूरे प्रसार में अपने अर्थ को अभिव्यंजित करते हैं। वही भाषा की एकतानता है, उसकी आन्तरिक सार्वभौमिकता है।"[1] तत्सम शब्दावली का प्रयोग कवि ने किया ही है परन्तु इतर शब्द भी कहीं–कहीं मिल जाते हैं –

'दीप तुम जगर–मगर कर रहे, दिखा दो मुझको प्रिय का पंथ'

x x x x

मिसिल मसल डालेगी सबको व्हिसिल बज रही ऊर्जा की
होली तेरी एक लपट ही, भभक बनेगी भूर्जा की।
बन पल्लव–राकट पर डटकर, अणुबम–पुष्प प्रलयकारी
लक्ष्य बनाते इस शरीर को होंगे संसृति–संहारी।

'विरह' सर्ग में 'निराशा' शीर्षक के अन्तर्गत कवि सोम ने 'विरहिणी' आत्मा की पुकार को विभिन्न क्रियाओं द्वारा व्यक्त किया है –

कब तक इनका करुँ सामना, कैसे उनसे निबट सकूँ?
तिरछे, टेढ़े–मेढ़े, उलझे, इनमें उलझी, खड़ी झकूँ
मुख सूखा रूखा तन, अटकी, भटकी, मैं झख झेल रही ।
हिंस्र ऋक्ष, वृक शूकर सबसे बचकर रेला ठेल रही ।

इसमें कवि ने देशज शब्दों का प्रयोग बड़ी सहजता से किया है।

---

१. विजयदेव नारायण साही, 'कल्पना' जून १९६४, पृ०सं० ३६

इस प्रकार समग्र विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'विरहिणी' महाकाव्य में सर्वत्र तत्सम शब्दावली की प्रवहमानता विद्यमान है। भावों के अनुकूल कवि ने भाषा को संवारने के लिये और भी देशज एवं तद्भव शब्दों का आश्रय लिया है। उसके सन्निवेश में कवि को सफलता मिली है। कहीं–कहीं छायावादी गीतों की झलक मिल जाती है जो कवि की समुन्नत भावप्रवणता की परिचायक है।

परिनिष्ठित भाषा का स्वरूप :

आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम' ने 'विरहिणी' महाकाव्य में भावानुरूप तत्सम शब्दावली को ही अपनी लेखनी का आधार बनाया है। परिनिष्ठित भाषा का यह स्वरूप उनकी मुक्तक काव्य रचनाओं में भी देखा जा सकता है। 'श्रुतिसंगीतिका', 'जीवन गीत', 'भक्ति तरंगिणी', 'सोमसुधा', 'भागवती आभा' आदि मुक्तक काव्य रचनायें भाषा की विविध विशिष्टताओं और सम्भावनाओं को समाविष्ट किये हुए हैं। अन्य शब्दों में कविवर सोम के काव्य प्रयास हिन्दी कविता के आधुनिक युग की अनेक प्रवृत्तियों के ऐतिहासिक स्मारकों के रूप में मूल्यवान हैं। उनकी काव्य कृतियों में भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग और छायावाद युग की अन्तर्ध्वनियाँ विद्यमान हैं। भक्तों की भावप्रवणता, द्विवेदी युगीन नैतिकता, आदर्श एवं सद्विचार और छायावाद युग की सांकेतिक शैली उनकी इन मुक्तक रचनाओं में दृष्टिगोचर होती है।

तत्सम शब्दावली की समानुपातता :

आचार्य 'सोम' यह स्वीकार करते हैं कि कविता में भाषा और भाव अभिन्न होते हैं इसलिये जहाँ भी प्रेम की मार्मिक व्यंजना, अथवा कवि का आत्मनिवेदन मिलता है वहाँ उनकी भाषा भी उसी के अनुसार अभिजात प्रवृत्तियों से युक्त हो जाती है। उनकी अधिकांश कविताओं में संस्कृत शब्दावली की बहुलता है तथा पदावली का बन्धान भी वैसा ही संश्लिष्ट एवं क्लिष्ट है। यथा –

'निखिल बल अधिपति वैभव धाम, मिले तव स्नेह सख्य सुख स्रोत,
बना दे हमको जो धनवान अंग हो बल से ओत–प्रोत,
प्रबल से प्रबल शत्रु हो खड़ा, न हों हम किन्तु कभी भयभीत,
प्रणत हो तव पद में सविशेष, सदा से जो जयशील अजीत।'[1]

इसी प्रकार कवि 'सोम' ने 'सोमसुधा' काव्य संग्रह में तत्सम शब्दावली का कितना प्रभावशाली संश्लिष्ट रूप प्रस्तुत किया है। वीर रस से आपूरित इस कविता में कवि उस समय का चित्र प्रस्तुत करता है जब सन् १६४१ में जर्मनी ने रूस पर आकस्मिक आक्रमण किया था। कवि की सहानुभूति इस शोषित देश रूस के साथ है–

'वह संधि–भंग था, कलंक वीरता का घोर,
जिससे प्रकटी रक्तस्राव की विभीषिका,
सिद्धहस्त सैनिकों से युद्ध नव सैनिकों का,
दारु क्षेत्र कर्षकों की बल विजिगीषिका,
समझा सहज जीत लेना श्रम जीवियों का,
वह बनी शर्मणों के मन की मरीचिका।
मलय लहर मान बैठे थे जिसे वे
वह सिद्ध हुई प्रलय–समुद्र–विष–वीचिका।।'[2]

एक अन्य स्थल पर कवि सोम ने इस जगत की विविधता की ओर संकेतित करते हुए कहा है –

'इस वृहत विश्व का बीज काम, फल रही भोग वृत्तियाँ विपुल।
यह जन्म–मरण, उत्थान–पतन, उदयास्त वीथियों से संकुल।।
द्यावा–पृथिवी युग–कोटि मध्य चंचला उर्मियाँ नृत्य–निरत।
जड़–जंगम – विभ्रम–मुग्ध देख अपनेपन से हो रहा विरत।।'[3]

---

१. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', भक्ति तरंगिणी, पृ०सं० ३३
२. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', सोम सुधा, पृ०सं० ४६
३. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', भागवती आभा, पृ०सं० २३

इस प्रकार आचार्य सोम की प्रायः सभी काव्य रचनाओं में तत्सम शब्दों की बहुलता देखने को मिलती है। इस का एकमात्र कारण है कवि की वैदिक दृष्टि जिसके कारण भाषा में गाम्भीर्य एवं सामाजिकता की प्रवृत्ति आद्यन्त परिलक्षित है।

तत्सम तद्भव मिश्रित शब्दावली :

कवि 'सोम' की मुक्तक रचनाओं में भाषा के उपर्युक्त रूप को आद्यन्त देखा जा सकता है। 'सोमसुधा' काव्य संकलन में ऐसी ही कविता की पंक्तियाँ हैं जिसमें तत्सम तद्भव मिश्रित शब्दावली द्वारा भावों की व्यंजना कवि ने की है –

'विप्लव! जीवन के संरक्षक, पाप–शाप कहलाए हो।
भूखी–प्यासी मानवता को वरद–हस्त बन आए हो।
युग–युग के उठते उबाल से आज जलद बन छाए हो।
हाहाकार भरे हृदयों में सुखद सांत्वना लाए हो।
स्वागत ! स्वागत ! तात तुम्हारा मंगल अभिनन्दन है।
पावन दर्शन, जन–मन–रंजन शिरसा अभिवन्दन है।'[1]

'पाप–शाप', 'भूखी–प्यासी', 'उबाल', 'हाहाकार' आदि जहाँ शब्दों का प्रयोग कवि ने किया है, वहीं दूसरी ओर 'विप्लव', 'संरक्षक', 'वरद–हस्त', 'सांत्वना', 'अभिनन्दन', 'अभिवन्दन' आदि तत्सम शब्द भी उपर्युक्त कविता में प्रयुक्त हुए हैं।

ब्रज भाषा का माधुर्य :

आचार्य सोम ने अपनी काव्य रचनाओं में मूलतः खड़ी बोली का प्रयोग किया है किन्तु ब्रजभाषा से सम्बद्ध कविताओं में कवि ने भावना और माधुर्य की सृष्टि की है। इसी के संदर्भ में इनकी एक कविता का उल्लेख किया जा सकता है जहाँ कवि ने मातृभूमि भारत की कल्पना दुर्गा के रूप में की है। कवि को अपनी जन्मभूमि के समान वसुन्धरा में कोई स्थान सुन्दर और सुखकर नहीं दिखाई देता। स्वदेश की भौगोलिक सुन्दरता,

---

१. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', सोमसुधा, पृ०सं० ४२

सांस्कृतिक समृद्धता एवं ज्ञान सम्पन्नता पर कवि मुग्ध है –

'बसहु मेरे मन भारत–मूरति।

शीश धवल हिम दुति नित राजति, शुभ्रछटा सों नभ की पूरति।

चतुर्भुजी दुर्गा, दुख–हरणी, शस्त्र धरणी, जय! माँ धरणी।

तैंतिस कोटि–सुवन–सुख भरणी ! सन्तत परसत चरन सरित–पति।।

खंग–धारि अरि–दल–दहला वनि, भीम–गरजरिपु–हियो कै पावनि।

प्रबल–बाहु–बल रन दरसावनि, पावनि सरनागत जन की गति।

सुखदायिनि, वरदायिनि जननी ! विकसित वदन दुरित दुख दलनी।

त्रिविध ताप–शमनी रिपुदमनी ! सोहत चारु विमल मंगल मति।।

बहु–बल–धारिणी, भव भय हारिणि, विश्व विहारिणि, खल–दल वारिणि।

जय ! त्रिलोक तारिणि, सुख सारिणि ! सतत रहै तव चरननु में रति।'[१]

एक अन्य स्थल पर कवि सोम ने ब्रज भाषा में माधुर्य, सरसता एवं रसात्मकता आदि गुणों की त्रिवेणी बड़ी सहजता के साथ प्रवाहित की है –

'भाल पै धौल हिमाकृति चंदन, जासु छटा नभ माहिं लसी रहै,

अंक में खेलति ब्रह्मजा, जह्नजा, भानुजा, सिंधु सदा हुलसी रहै,

बिंध्य बनावत मेखला मंजु, सदा अरि–ही झनकार धसी रहै,

पूजत जा पद सिंधु सदा, सोई भारत भू मन माहिं बसी रहै।'

x x x x

श्रान्ति प्रहारिणि, भ्रान्ति निवारिणि जो जन–तारिणि पुष्प ग्रसी रहै,

शान्ति प्रदायिनि, जो वरदायिनि, देवी स्वरूप दसा सरसी रहै,

विश्व–विहारिणि, सौख्य–प्रसारिणि, शक्ति–प्रताप–मयी विलसी रहै,

पावन ज्ञानमयी भूवि भावन, भारत–भू मन माहिं बसी रहै।[२]

---

१. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', सोमसुधा, पृ०सं० ५३
२. तदैव

व्याकरणिक विन्यास :

आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम' के काव्य में द्विवेदी एवं छायावाद युग की अन्तर्ध्वनियाँ आंशिक रूप से मिलती हैं। इनकी कविताओं में भावपरक संज्ञापदों द्वारा जिस संसार का निर्माण हुआ है उसमें कवि की भावप्रवणता आद्यन्त दिखाई देती है। इनकी कविता में अनुभूति की विविधता और अनुभव विस्तार को द्योतित करने वाले संज्ञापदों की वृद्धि देखने को मिलती है –

'मंगलमयी, माँ भगवती ! तू शक्ति–रूप तारिका।
जन–रन्जनी, भय–भन्जनी, अघ–गन्जनी, दुखदारिका।
हे शिवप्रिये, कल्याण कर याचना तुझसे है यही,
मातेश्वरी! बल दे बने यह बलवती भारत यही।'[1]

भावप्रवणता की दृष्टि से कवि की सरस्वती वन्दना उदात्त प्रभाव की सृष्टि करती है जिसमें संज्ञापदों के साथ विशेषणों का भी सहारा लिया गया है।

कहीं–कहीं सोम जी ने अपनी राष्ट्रीय कविताओं में सहज अनुभूति युक्त संज्ञाओं का प्रयोग किया है। वे संज्ञायें जहाँ एक ओर कवि की राष्ट्रीय भावनाओं को व्यक्त करती हैं वहीं उसमें ऐतिहासिक संदर्भो का ऐसा ताना–बाना कवि ने गुम्फित किया है कि इसका अमिट प्रभाव मन पर रह जाता है –

'दासता की तोड़े श्रृंखला करें अत्याचारों का नाश,
ध्वस्त कर विघ्न–व्यूह–प्रत्यूह, काट दें पाश–शाप के पाश,
खोजता हूँ मै ऐसे युवक, चतुर्दिक चक्षु प्रसार–प्रसार।
दिखाई दे प्रतिबिम्बित जहाँ, चन्द्र, विक्रम, पृथु भरत कुमार।
शिवा की लगन, गुरु की आन जहाँ पर हो प्रताप की टेक।
भगत, शेखर का सा तप–त्याग, तिलक–नाना सा बुद्धि विवेक।।'[2]

---

१. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', भागवती आभा, पृ०सं० १०
२. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', सोम सुधा, पृ०सं० ४३

यहाँ कवि ने व्यक्तिवाचक संज्ञाओं द्वारा एक संश्लिष्ट चित्र उपस्थित किया है जिसमें आवेग एवं वीर रस का संचरण भी हुआ है।

संज्ञापद प्रयोग यदि कवि की अनुभूतिगत समृद्धि के प्रतीक हैं तो विशेषण प्रयोग कवि की कल्पना समृद्धि और व्यापकता के परिचायक हैं। आशय यह है कि जो कवि अपनी भावनाओं की उड़ान को जितना अधिक ऊँचा ले जाएगा कविता में उतने ही विशेषणों की वृद्धि होती चली जाएगी। इस दृष्टि से कवि सोम के काव्य में विशेषण प्रयोग का आधिक्य है। उदाहरण के लिये जब कवि सोम पूर्ण भक्ति भावना के साथ उस प्रभु की वन्दना करते हैं तो विशेषणों की वृद्धि होती चली जाती है। जैसे –

'हे अतिथि देव! तुम दर्शनीय।
अतिशय अद्‌भुत अतिशय विचित्र, आकर्षक रूप अवर्णनीय,
श्री, शोभा, कान्ति, दीप्ति, आभा किसके समान ? है अकथनीय।
कथनीय यही तुम निज समान, उपमान तुम्हीं के बल स्वकीय।
तुम स्रोत सृष्टि की सुषमा के, तुमसे निकले सौन्दर्य सुमन।
गिरि–निर्झर–निर्मल–जल–धारा, श्रुति सुखद कर रही कल–कल स्वन।।'[१]

इसी प्रकार 'सोमसुधा' काव्य संकलन मे कवि सोम ने भारत की प्रशस्ति करते हुए विशेषणों की झड़ी लगा दी है –

'मेरे देश।
वसुन्धरा के शिरोरत्न ! अपराजित, अभिनाभ, अशेष।
उन्नत मस्तक शुभ्रहिमांकर, अगम गहन पदतल रत्नाकर।
हरा भरा उज्ज्वल उर पाकर,, बना देव ! तू दिव्य गुणाकर।।'[२]

कविता के व्याकरणिक विन्यास में सर्वनाम का भी विशिष्ट महत्व रहता है क्योंकि सर्वनाम आत्म तत्व की काव्यात्मक अभिव्यक्ति और उसके सन्दर्भ के बीच अभिप्राय की

---

१. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', भागवती आभा, पृ०सं० ३१
२. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', सोम सुधा, पृ०सं० ४२

निजता एवं स्वीयता के सहारे कविता में प्रयुक्त होते है। आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम' ने अपनी विनय सम्बन्धी रचनाओं में उत्तम पुरुष एवं मध्यन पुरुषवाची सर्वनामों का प्रयोग अधिक किया है क्योंकि इसमें कवि को आत्माभिव्यक्ति के प्रकाशन का अवसर अधिक मिलता है। उदाहरण के लिये –

"हे दिव्य देव! तुम पूजनीय महनीय तेज से दीप्तिमान।
मैं दीनहीन, तन क्षीण, अबल मानस मलीन निष्प्रभ निदान।
मैं दैन्य–प्रताड़ित भटक रहा इस भवाटवी में निस्सहाय।
चलता–चलता गिर पड़ता हूँ, चल पाता मेरा कब उपाय?"

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि सोम ने 'तुम', 'मैं', 'तेरा' आदि पुरुषवाचक सर्वनामों का प्रयोग कर इस परमतत्व की महानता व्यक्त करते हुए अपनी दीन मनोवृत्ति का परिचय दिया है। इस प्रकार जहाँ कवि उस अज्ञात स्वरूप के प्रति रहस्यमयी भावना की अभिव्यक्ति करता है वहाँ कवि सोम ने प्रश्नवाचक सर्वनाम द्वारा उस भाव की व्यंजना की है। यथा –

"यह कौन अग्नि में दहक रहा, रवि में छिप जीवन बांट रहा।
शशि मिस दे औषधियों को रस, बिजली बन सबको डांट रहा।
यह कौन ग्रीष्म बन तपा रहा जल को हिम कौन बनाता है।
बासन्ती कुसुमों में खिल–खिल यह हंसता कौन हंसाता है?"[१]

भावना के समर्पण में कवि की वाणी में जो आवेग दिखाई देता है वह पुरुष वाचक सर्वनाम के प्रयोग के कारण ही ऐसा हुआ है –

'मैं इस शरीर में देव तुम्हारा पद–रज सेवी बन जाऊँ
तुम जहाँ कहो मैं वहीं चलूँ, सर्वत्र सदन सम सुख पाऊँ।
अनुगमन गतियाँ मेरी अनुचरितमयी कृतियाँ मेरी।
मेरा न यहाँ सब कुछ तेरा, मैं भी तेरा ही कहलाऊँ।।'[२]

---

१. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', भागवती आभा, पृ०सं० १८
२. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', भागवती आभा, पृ०सं० २०

'विरहिणी' महाकाव्य में भी कवि सोम ने निम्नलिखित पंक्तियों के माध्यम से आत्मा रूपी विरहिणी की प्रार्थना को कितने स्वाभाविक ढंग से कहा है –

'तुम्हारा विरुद याद है मुझे, याद है मुझे तुम्हारी टेक,
तुम्हारी मैं तुम मेरे सदा, देह दो किन्तु प्राण है एक।'[१]

'तुम्हारा', 'मुझे', 'तुम', 'मेरे' आदि सर्वनामों का सार्थक प्रयोग उर्पयुक्त पंक्तियों में हुआ है। ये सभी सर्वनाम गहन भाव के द्योतक हैं।

कवि सोम की काव्यानुभूति में उस परम तत्व के प्रति सहज भावों की अभिव्यक्ति हुई है और इन्हीं भावों को व्यक्त करने के लिये जीवन वैविध्य द्योतक क्रियाओं का प्रयोग कवि ने अपनी कविता में किया है, यथा –

"उषा अरुणिमा, ब्राह्मी बेला तरु–खग राजि जगी
चह–चह कू–कू मधुर मनोहर ध्वनियाँ, प्रेम–पगी।
साधक–संत–भक्त, उठ–उठ कर प्रभु में लीन हुए
पावन प्रांजल प्रेम पयोनिधि के मन मीन हुए।।"[२]

इन पंक्तियों में 'जगी', 'चह–चह', 'कू–कू', 'पगी', 'लीन', 'मन मीन हुए' आदि क्रियाएं पाठक के समक्ष प्रत्यूष बेला का जीवन्त चित्र प्रस्तुत कर देती हैं।

कहीं कवि सोम ने विभिन्न क्रियाओं के माध्यम से दैनिक जीवन की क्रमागत पद्धति की ओर संकेत किया है –

'खाया, सोये फिर उठे, ब्राह्म बेला चमकी।
पौ फटी, नेत्र खुल गये, जगी पद्धति श्रम की।
गौ इधर रम्हाने लगी दुग्ध वर्षा करने।
वाणी के पट भी खुले व्योम में स्वर भरने।'[३]

---

१. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', विरहिणी, पृ०सं० ८१
२. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', भागवती आभा, पृ०सं० ५३
३. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', भागवती आभा, पृ०सं० १११

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि ने 'खाया', 'सोये', 'उठे', 'चमकी', 'फटी', 'खुले', 'रम्हाने' आदि जीवन वैविध्य द्योतक क्रियाओं के प्रयोग द्वारा जीवन की निरन्तरता को व्यक्त किया है।

कहीं–कहीं क्रियापदों के प्रयोग के द्वारा कवि सोम ने देश–प्रेम एवं राष्ट्रीय भावनाओं को अभिव्यक्ति दी है। इनमें आवेग की भावना भी व्यक्त हुई है, यथा –

'आ, अशान्ति ! तू अन्तस्तल में उथल–पुथल पैदा कर दे।
इस निर्जीव कलेवर में तू प्राणमयी विद्युत भर दे।
हो गतिशील, चले पथ पर जो किंकर्तव्यविमूढ़ बना।
सम्मुख युद्धस्थल में डट जावें, बन जावें क्रान्तिमना।'[१]

'आ', 'पैदा कर दे,' 'भर दे', 'हो', 'चलें', 'डट जावें', 'बन जावे' आदि क्रियाओं के द्वारा कवि ने भारत की स्वतंत्रता का संकल्प लिया है।

कवि सोम अपने क्रियापद प्रयोग के माध्यम से अपनी कविता में कहीं–कहीं चित्रात्मकता की सृष्टि करते हैं जिससे कवि की भाषागत सहजता तो ज्ञात होती ही है, शिल्प नैपुण्य भी प्रकट हो जाता है, यथा –

'यह भद्र योषिता सी अपनी साड़ी का अंचल फहराती।
कमनीय कान्ति का जाल बिछा, नियमित गति से प्रतिदिन आती।
नर्तकी तुल्य नर्तन करती, आकर्षण से अग–जग भरती।
उन्मुक्त वक्ष में ले सबको मधु पिला धेनु सम दुख हरती।।'[२]

इस प्रकार उपर्युक्त पंक्तियों में कवि ने 'फहराती', 'बिछा', 'आती', 'नर्तन करती', 'भरती', 'हरती' क्रियाओं के द्वारा उषा का मानवीकरण किया है।

---

१. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', सोम सुधा, पृ०सं० ६३
२. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', भागवती आभा, पृ०सं० ५५

इस प्रकार व्याकरणिक विन्यास के आधार पर कवि सोम की काव्य रचनायें निःसन्देह उत्कृष्ट हैं। भाव एवं कलात्मक सौन्दर्य का आद्यन्त निर्वाह उनकी रचनाओं में सर्वत्र परिलक्षित है।

लोकोक्तियाँ और मुहावरे :

किसी भाषा की समृद्धि और प्रभाव क्षमता के प्रतीक लोकोक्तियाँ एवं मुहावरे भी हैं। भाषा की समुन्नति में जहाँ अर्थ गौरव एवं अलंकृति अपना अप्रतिम योग प्रदान करती हैं इसी प्रकार लोकोक्तियाँ एवं मुहावरे भी भाषा को जीवन्त एवं सरस बनाकर जनमानस को प्रभावित करते हैं। मुहावरे और लोकोक्तियाँ लोक प्रतिभा की उपज होने के कारण लोक जीवन के अनुभव विन्यास को अधिक दक्षता से धारण करने तथा काव्य सौष्ठव को जीवन्त प्रभाव कम्पन युक्त कर देते हैं।[1]

हिन्दी साहित्य कोश में लोकोक्ति के सम्बन्ध में उसकी सारवत्ता पर प्रकाश डालते हुए यह कहा गया है "मौखिक लोक साहित्य में लोकोक्ति साहित्य का बड़ा महत्व है। लोकोक्ति अन्य लोक साहित्य से स्वभाव और प्रयोग में भिन्न होती है। लोकोक्ति में गागर में सागर भरने की प्रवृत्ति काम करती है। इसमें जीवन के सत्य बड़ी खूबी से प्रकट होते हैं। यह ग्रामीण जनता का नीतिशास्त्र है, लोकोक्तियाँ मानवीय ज्ञान के धनीभूत रत्न हैं, जिनमें बुद्धि और अनुभव की किरणें फूटने वाली ज्योति प्राप्त होती है।"[2]

पिछले दो तीन दशकों से काव्य भाषा को कविता के आन्तरिक संघटन का सच्चा माध्यम माना जाने लगा है। अन्य शब्दों में किसी भी रचना की भाषिक प्रासंगिकता या समकालीनता इस बात पर निर्भर करती है कि रचनाकार ने अर्थ की कितनी परतों एवं कितने आयामों को उद्घाटित करने के लिये शब्दों का सर्जनात्मक उपयोग किया है। भाषा अपने युग की सम्भावनाओं को नयी शब्द योजना एवं शब्दावली के साथ प्रस्तुत करती है। इसीलिये हर युग में काव्य भाषा के नये आयाम कवियों द्वारा

---

१. उत्तर छायावादी काव्यभाषा, डॉ० हरिमोहन शर्मा, पृ०सं० १५५ (१९८६ संस्करण)
२. हिन्दी साहित्य कोश (प्रथम भाग), प्रधान सम्पादक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ०सं० ७५४

निर्धारित किये जाते हैं। परन्तु एक स्थिति ऐसी भी आती है जब काव्य भाषा स्थिर होकर अपनी युगीन सम्भावनाओं को अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं हो पाती। कारण, वह लोक भाषा से दूर पड़ जाती है। इसी तथ्य को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रस्तुत करते हुए कहा है – 'जब पंडितों की काव्यभाषा स्थिर होकर उत्तरोत्तर आगे बढ़ती हुई लोकभाषा से दूर पड़ जाती है और जनता के हृदय पर प्रभाव डालने की उसकी शक्ति क्षीण होने लगती है तब शिष्ट समुदाय लोकभाषा का सहारा लेकर, अपनी काव्य परम्परा में नया जीवन डालता है।'[१]

लोकोक्तियाँ मौखिक लोक साहित्य का जीवन्त रूप हैं। इन्हीं से भाषा में नई अर्थवत्ता और अभिव्यक्ति का कौशल भी जन्म लेता है। अन्य शब्दों में लोकोक्ति–साहित्य संसार के नीति साहित्य का प्रमुख अंग है। सांसारिक व्यवहार–पटुता और सामान्य बुद्धि का जैसा निदर्शन इन ग्रामीण उक्तियों में मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। लोकोक्ति के दो आधार माने गये हैं – प्रथम प्रहेलिका द्वितीय कहावतें। प्रहेलिका भी लोकोक्ति है। लोक मानस इसके द्वारा अर्थ–गौरव की रक्षा करता है और मानसिक तुष्टि का अनुभव करता है। यह बुद्धि परीक्षा का भी साधन है। प्रहेलिका कहावतों की प्रवृत्ति से विपरीत प्रणाली पर रची जाती है और इनका सीधा सम्बन्ध भावों से नहीं होता, प्रकट को गोप्य करने की चेष्टा की जाती है। प्रहेलिका बुद्धि कौशल की प्रतीक हैं जबकि लोकोक्ति में सूत्र प्रणाली होती है, भाव की मार्मिकता धनीभूत होती है, और लघु प्रयत्न से विस्तृत अर्थ की विशिष्टता रहा करती है।[२]

गद्य एवं पद्य दोनों ही विधाओं में लोकोक्तियों का प्रयोग किया जाता है। लोकोक्तियों का एक ओर निकटतम शब्द है मुहावरा। 'मुहावरा' शब्द वस्तुतः अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है 'अभ्यास'। परन्तु आज 'मुहावरा' जिस अर्थ में गद्य एवं पद्य दोनों ही विधाओं में प्रयुक्त होता है उसका यह अर्थ नहीं है। मुहावरा वह वाक्यांश है जो सामान्य शाब्दिक अर्थ के स्थान पर असामान्य अर्थ प्रकट करे। यथा – 'आकाश

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ०सं० ५७४
२. हिन्दी साहित्य कोश (प्रथम भाग), प्रधान सम्पादक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ०सं० ७५४

से गिरा खजूर में अटका' इसके सामान्य अर्थ को न लेकर इसका विशिष्ट अर्थ होगा बड़ी कठिनाई से किसी कार्य की पूर्णता के निकट पहुँचते ही आकस्मिक व्यवधान का उपस्थित हो जाना। मुहावरा और लोकोक्ति में एक स्पष्ट अन्तर भी है। मुहावरा वाक्यांश होने के कारण स्वतंत्र सत्ता नहीं रखता, वहीं लोकोक्ति की पूर्ण वाक्य होने के कारण स्वतंत्र सत्ता होती है। मुहावरे को अपना अर्थ स्पष्ट करने के लिये जहाँ किसी वाक्य का आश्रय लेना पड़ता है वहीं लोकोक्ति में उसका पूर्ण अर्थ स्वयं ध्वनित होता है।

इस प्रकार भाषा की अभिवृद्धि और अभिव्यक्ति क्षमता के विकास में लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग उपयोगी होता है। गद्य की भाषा में सजीवता, प्रवहमानता लाने के लिये मुहावरों का प्रयोग साहित्यकार करता है। भारतेन्दु युग के साहित्यकारों ने अपनी व्यंग्यपरक रचनाओं में मुहावरों और लोकोक्तियों का सार्थक प्रयोग किया है। भारतेन्दु युग में जो व्यंग्यात्मक निबन्धों की सृष्टि हुई उसमें निबंधकारों ने मुहावरों और लोकोक्ति के प्रयोग की झड़ी लगा दी है। पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित प्रताप नारायण मिश्र एवं स्वयं भारतेन्दु के निबन्ध साहित्य में इनकी सुन्दर एवं सजीव अभिव्यक्ति को देखा जा सकता है। यदि यह कहा जाय कि व्यंग्यपरक साहित्य में लोकोक्तियों और मुहावरों का सार्थक प्रयोग उस युग की अनिवार्यता थी, तो यह कथन असमीचीन न होगा क्योंकि उनका समग्र निबंध साहित्य पत्रकारिता की क्रोड़ में पनपा है। द्विवेदी युग में आदर्श एवं नीति प्रधान साहित्य में भी लोकोक्तियों एवं मुहावरों का प्रयोग किया गया है। छायावादी कवियों की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का प्रभाव उनके अभिव्यक्ति विधान पर यह पड़ा कि वह लोकमानस से दूर कल्पना कानन में व्यस्त अभिजात मानसिकता में निवास करने लगी।[१] कविता में मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग प्रायः विरल हो गया। भाषा जीवन के व्यवहार पक्ष से अलग होकर एक काल्पनिक जगत के आलोक में विलीन हो गयी। उत्तर छायावादी कवियों ने अपने अभिव्यक्ति विधान में पुनः लोकोक्ति एवं मुहावरों का प्रयोग किया है। दिनकर, बच्चन, अंचल एवं नरेन्द्र शर्मा ने अपनी कविताओं में लोकोक्तियों एवं मुहावरों का जीवन्त प्रयोग किया है। काव्य सौष्ठव के लिये अपनी

---

१. उत्तर छायावादी काव्यभाषा, डॉ० हरिमोहन शर्मा, पृ०सं० १५५

अभिव्यक्ति पद्धति में बोलचाल का प्रभाव छोड़ने वाले मुहावरे – लोकोक्तियों का अत्यन्त सहजता से प्रयोग किया है। भाषा में इतनी प्रवहमानता एवं सुस्पष्टता से लगता है कि वह कविता की पंक्तियाँ नहीं लिख रहा है वरन् संवाद के संवाद लिखता जा रहा है। यथा –

'विद्युत की इस चकाचौंध में देख, दीप की लौ रोती है।
अरी, हृदय को थाम, महल के लिये झोपड़ी बलि होती है।'[१]

दिनकर की कविताओं में ओजस्विता अधिक दिखाई देती है इसलिये प्रेम, मानवीय करुणा विषयक मुहावरों का ग्रन्थन इसी मनोयोग से मिलता है –

'आँसू भरे दृगों में चिनगारियाँ सजा दे,
मेरे श्मशान में आ श्रृंगी ज़रा बजा दे,
फिर एक तीर सीनों के आर पार कर दे,
हिमशीत प्राण में फिर अंगार स्वच्छ भर दे।'[२]

इस प्रकार बच्चन ने भी भाषा को जीवन्त बनाने में लोकोक्ति एंव मुहावरों का प्रयोग किया है। उन्होंने अपनी काव्यानुभूति में उर्दू फारसी काव्य परम्परा को आत्मसात किया है। कहीं–कहीं मुहावरों की बहुलता दिखाई देती है –

"इसमें करुणा स्मृतियाँ सोईं,
इसमें मेरी निधियाँ सोईं,
इसका नाम निशान मिटाऊँ या मैं उस पर दीप जलाऊँ
क्या कंकड़–पत्थर चुन लाऊँ।"[३]

'नाम निशान मिटाऊँ', 'दीप जलाऊँ' आदि मुहावरे सहज रूप से आये हैं। अंचल की कविता में कहीं–कहीं मुहावरों जैसी लाक्षणिकता का प्रयोग मिलता है –

---

१. रश्मिलोक, श्री रामधारी सिंह दिनकर, पृ०सं० १७
२. रश्मिलोक, श्री रामधारी सिंह दिनकर, पृ०सं० १२८
३. अभिनव सोपान, बच्चन, पृ०सं० १२३

'है उमंगों के प्रलय में मिट रही पगली जवानी।

जल रहा प्यासा हिया, मेरे पिया की यह निशानी।'[1]

आदि मुहावरों का प्रयोग लाक्षणिकता के लिये किया गया है।

अंचल की कविताओं में मुहावरे और लोकोक्तियाँ अपने स्वाभाविक रूप के साथ प्रयुक्त हुई हैं। कहीं–कहीं स्वाभाविकता के प्रवाह में कवि लोक शैली के शब्दों का प्रचुर प्रयोग करता है।

'जा रही किसी के घर झूठे बरतन मलकर

बदचलन कहारी, थकी हुई,

चौका–बासन, सैना–बैनी में बिता चुकी यौवन के दिन।'[2]

यहाँ लोक शैली के यथार्थ की कड़ुआहट भी मिलती है।

प्रगतिवादी काव्य में ओजमयी वाणी में कवियों ने परम्परा का तिरस्कार किया। शिवमंगल सिंह सुमन ने परम्परित व्यवस्था पर प्रहार करते हुए मुहावरों और लोकोक्ति द्वारा भाषा को जीवन्त बनाने का प्रयास किया है –

'ईश्वर–ईश्वर में आज पड़ गया अन्तर

टुकड़ों–टुकड़ों में बँटा मनुजता का घर,

ली ओढ़ धर्म की खोल, पर हृदय सूना

पूजन–अर्चन सब व्यर्थ देवता पत्थर।'[3]

'टुकड़े–टुकड़े', 'ओढ़ धर्म की खोल', 'हृदय सूना' आदि मुहावरे भाषा को जीवन्त बनाने में सहायक हुए हैं।

---

१. प्राथमिका, अंचल, पृ०सं० १३
२. पलाशवन, नरेन्द्र शर्मा, पृ०सं० ३५
३. विश्वास बढ़ता ही गया, शिवमंगल सिंह 'सुमन', पृ०सं० ५५

प्रगतिवादी कवियों ने जातिविहीन समाज की परिकल्पना करते हुए सामाजिक विषमता से मुक्ति की कल्पना को साकार करने का प्रयत्न किया है। १६ अगस्त १६४६ के कलकत्ता, नोआखाली, बिहार, पंजाब आदि स्थानों में भीषण नरसंहार के कारण ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपना प्रखर रोष व्यक्त करते हुए प्रगतिवादी कवि डॉ० राम विलास शर्मा ने लिखा –

नयी फसल देगी फिर लपटों से झुलसाई
खार बनेंगे लूट और हत्या के व्यवसायी
पाँच नदियाँ एक साथ सींचेंगी यह हरियाली।
लपटों के बदले होगी उगते सूरज की लाली।[1]

'खार बनेंगे', 'नयी फसल' 'उगते सूरज की लाली' आदि मुहावरों द्वारा कवि ने भाषा की प्रवहमानता के साथ नव जागरण की अपेक्षा व्यक्त की है।

अज्ञेय की एक कविता है 'माहीबाल से' जिसमें जीवन की समग्र कटुता और विषाद सिमटकर रह गया है। ये पंक्तियाँ तो हमारे रोमांसप्रिय ह्रदय पर एक निमर्म चोट सी लगाकर रह जाती हैं –

'क्रौंच बैठा हो कभी वाल्मीकि पर
तो मत समझ
वह अनुष्टुप बाँचता है संगिनी के स्मरण के
जान ले वह दीमकों की टोह में है।'[2]

अज्ञेय के अभिव्यक्ति विधान में लाक्षणिकता का पुट अधिक है और संस्कृत निष्ठता के कारण उनमें लोकोक्ति और मुहावरों की अपेक्षा बिम्ब और प्रतीकों का प्रयोग अधिक हुआ है।

---

१. रूप तरंग, डॉ० राम विलास शर्मा, पृ०सं० ४३
२. अज्ञेय की काव्य चेतना, डॉ० कृष्ण भावुक, पृ०सं० ३२८

कवि नागार्जुन की कविताओं में लोकोक्तियों एवं मुहावरों का प्रयोग हुआ है। व्यंग्यात्मक कविताओं में इसका जीवन्त रूप और भी प्रखरता और ओज से व्यक्त हुआ है। यथा –

'आज़ादी की कलियाँ फूटीं, पाँच साल में होंगे फूल
पाँच साल में फल निकलेंगे, रहे पन्त जी झूला झूल
पाँच साल कम खाओ भैया, गम खाओ दस–पन्द्रह साल,
अपने ही हाथों से झोके, यों अपनी आँखों में धूल।'[१]

'कलियाँ फूटी', 'झूला झूल', 'गम खाओ', 'आखों में धूल' आदि मुहावरों से भाषा की ताजगी का पता चलता है। मुहावरों को वाक्य में यथावत रख देने से भाषा बँधी सी रहती है। यही विचार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी व्यक्त किये हैं –

"मुहावरे को अधिक प्राधान्य देने से रूढ़ पद–समूह में भाषा बँधी सी रहती है। उसकी शक्तियों का नवीन विकास नहीं होने पाता। कवि अपने विचारों को ढालने के लिये नए–नए साँचे न तैयार करके बने–बनाये साँचों में ढलने वाले विचारों को ही बाहर करता है।"[२]

जहाँ तक आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम' के काव्य का प्रश्न है उन्होंने भी अपनी रचनाओं में मुहावरों और लोकोक्तियों का सन्निवेश किया है। आचार्य सोम की कवि दृष्टि अमूर्तता और अप्रत्यक्षता की ओर अधिक है इसलिये उनकी कविताओं में प्रतीकों और बिम्बों की अपेक्षा मुहावरों और लोकोक्तियों की विरलता है। लोकोक्ति का प्रयोग कवि सोम ने कम ही किया है परन्तु फिर भी उन्होंने इनका प्रयोग स्थिति सन्दर्भ के आधार पर किया है। जिस प्रकार दिनकर ने हिन्दी काव्यजगत पर कुहासे काटने हेतु प्रवाहमयी एवं ओजस्विनी कविताओं की सृष्टि की है और उसी से सम्बद्ध प्रेम और मानवीय करुणा विषयक मुहावरों का प्रयोग भी किया है –

---

१. युगधारा, नागार्जुन
२. जायसी ग्रन्थावली, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, (भूमिका भाग), पृ०सं० २०१

'मरे भस्म भी गावे प्रतिदिन प्यारा हिन्दुस्तान
कण–कण से स्वतंत्र भारत की निकले मीठी तान [१]

x x x

देवि शीघ्र दो, आओ, पाश दासता के काटो [२]

x x x

अवयव सब विशाल भारत के, एक रहे फिर एक बनेंगे
हम अखंड अविभाज्य एक हैं कौन हमें दो तीन गिनेंगे [३]

x x x

पहन लो विकट त्याग का वर्म
हथेली पर प्राणों की कर्म [४]

x x x

कवि फूँकों स्वर हृदय–हृदय में लगे अचल वीरों का मेला,
सदियों से शोषित जन–जन के तनमन बन्धन खोलो [५]

'मरे भस्म भी गावें', 'पाश दासता के काटो', 'कौन हमें दो तीन गिनेंगे', 'हथेली पर प्राणों की कर्म', 'अचल वीरों का मेला' आदि वाक्यांश मुहावरे के रूप में प्रयुक्त हैं। इसी प्रकार एक अन्य राष्ट्रीय कविता में मुहावरों का बहुलता से कवि ने प्रयोग किया है–

'भग्न होंगे सब, क्रूर! विलोक कहाँ तक सहूं कुकृत्य?
बहुत लख चुका घात–प्रतिघात, अनाचारों का कुत्सित नृत्य।
क्रूरता की बस हद हो चुकी, पाप का घट पूरा भर गया
असहनीया पीड़ा हो गयी, घाव पर घाव हो रहा नया।

आदि रेखांकित मुहावरों के द्वारा आलोच्य कवि ने भाषा में सजीवता एवं सामर्थ्य

---

१. सोम सुधा, आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ४३
२. सोम सुधा, आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ५१
३. सोम सुधा, आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ४४
४. सोम सुधा, आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ४७
५. सोम सुधा, आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ५३

बनाये रखी है।

इसी प्रकार 'विरहिणी' महाकाव्य में कवि सोम ने विरह की तीव्रता का भावानुकूल प्रयोग करने के लिये मुहावरों का सुन्दर प्रयोग किया है –

'देव तुम्हारे पद–अर्चन हित
कब से बाट निहार रही।
रोम–रोम से प्राण प्राण से
केवल तुम्हें पुकार रही
हृत्तन्त्री के तार–तार से
निकल रही है तान यही
मेरी शून्य कुटी में होगी
कब तक मूर्ति विराज रही
आज आरती–थाल सजाये
बैठी हूँ प्रभु आ जाओ
मेरे भग्न हृदय मन्दिर में
शुभ्र छटा निज छिटकाओ
बिना तुम्हारे यह दुख–दुर्गति
दूर न होगी प्यारे।
आओ आओ मुझ व्यथिता की
अंधी आँखों के तारे।'

उपर्युक्त रेखांकित मुहावरों का प्रयोग कवि ने अनायास ही किया है उसके प्रयत्न की आवश्यकता नहीं हुई है। मुख्य रूप से 'विरहिणी' एवं 'भागवती आभा' काव्य संकलनों में इनका प्रयोग अधिक हुआ है।

विरहिणी – तिल तिल जलकर तात, भाग्य खुले हैं भाग्य दो, दर दर की बनी भिखारी, ठोकर खाना, घूँट का रक्त पीते, बांधे जो मनसूबे, जले भुने, बेड़ा डूबा, शतवार,

बाट निहार रही, शून्य कुटी, आँखों के तारे, भग्न हृदय, बंधी प्रेम की डोर आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

इसी प्रकार भागवती आभा में कवि ने मुहावरों का प्रयोग किया है जो अधिकांश विनय एवं भक्ति के गीतों के संदर्भ में जीव की असहायता प्रदर्शित करने हेतु प्रस्तुत किये गये हैं। फूला फला परिवार (पृ०सं० १०), आँख का तारा (पृ०सं० १८), आँख मिचौनी (पृ०सं० १८), जैसी करनी वैसी भरनी (पृ०सं० २८), कपट के पट (पृ०सं० २८), भानमती का यह पिंडारा, रोड़ा ईंटा, इधर–उधर (पृ०सं० ३२), तात, यह तोता रटन्ती बात है (पृ०सं० ६६), सब उजड़ रहा (पृ०सं० १०५), क्या हृदय कूक उठती न कभी (पृ०सं० १२६), हो प्राण हथेली पर जिसके (पृ०सं० १३७), अपना सा मुख (पृ०सं० १३८), कोई कान नहीं करता क्यारी क्यारी हरी भरी (पृ०सं० १४१), छा जाती काली घटा (पृ०सं० १४२), सैकत कण में जल की छाया (पृ०सं० १५०), हृदय का हरा घाव (पृ०सं० १६०), पलकों का पर्यंक बिछा है (पृ०सं० १६४), छट गया कुहासा (पृ०सं० १७२), मिले आखों के तारे (पृ०सं० १७६)।

इस प्रकार कवि सोम ने मुहावरों का प्रयोग मूलतः भाषा को जीवन्त और प्रभावी बनाने के लिये ही किया है। उनका उद्‌गम कवि की निश्छल अनुभूति से हुआ है और ऐसा प्रतीत होता है कि कवि वर्ण्य वस्तु की अभिव्यक्ति को और अधिक अनुकूल एवं समर्थ बनाने के लिये ही बोलचाल के मुहावरों का प्रयोग कर रहा है।

इस प्रकार समग्र विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सोम की काव्य भाषा अनेक विशिष्टताओं से युक्त है। जहाँ तक उनकी राष्ट्रीय कविताओं का प्रश्न है उसका मूल स्वर सांस्कृतिक है, अपने भाव विचार की उच्चता एवं शैली शिल्प की उत्तमता के कारण स्वतंत्र भारत में आज भी राष्ट्रीयता को उद्‌बुद्ध करने की उसमें शक्ति है। उनकी भक्ति सम्बन्धी कवितायें भाषा एवं अभिव्यंजना कौशल के कारण भक्तियुगीन कवियों के सदृश हैं। भाषा, व्याकरणिक विन्यास, लोकोक्तियों एवं मुहावरों की दृष्टि से उनकी कविता श्रेष्ठ है। उनकी भाषा में आवेग, प्रवहमानता एवं भावों की

निश्छल अभिव्यक्ति सर्वत्र परिलक्षित होती है।

*****

अध्याय ६

आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम'
के
काव्य का शिल्पविधान

६

डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम' के काव्य का शिल्प-विधान

आचार्य सोम के काव्य का शिल्प-विधान :

स्पृहणीय उदात्त भाव तत्व की ही तरह शिल्प विधान काव्य का अनिवार्य तत्व है। यदि भाव तत्व काव्य का आत्म तत्व है, तो शिल्प उसका शरीर धर्म है। दिनकर भी काव्य में शिल्प या शैली तत्व को ही महत्व देते हैं। दिनकर के शब्दों में "कविताओं में अनुभूतियों की बारीकियों या ऊँचे-ऊँचे भाव मुझे तभी जँचते हैं जब वे अनुरूप शैली में

स्वच्छता से अभिव्यक्त किये गये हों।"[1] जिस प्रकार भावाभिव्यक्ति मानव की सहज प्रवृत्ति है उसी प्रकार साहित्यकार या कवि अपनी अभिव्यक्ति को चमत्कारपूर्ण प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करने के लिये शिल्प विधान की रचना करता है। इसी से उसके काव्य में कलात्मकता का समावेश होता है। आचार्य सोम के काव्य के शिल्प विधान को विवेचित करना इस अध्याय का प्रतिपाद्य है। अलंकार, प्रतीक एवं बिम्ब विधान छन्द योजना, राग, मुक्तक रचना विधान तथा प्रबन्ध योजना के माध्यम से उनके अभिव्यक्ति पक्ष को भलीभाँति समझा जा सकता है।

अलंकार योजना :

अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति है – १. अलंक्रियतेऽनेन इति अलंकारः (जिसके द्वारा अलंकृत किया जाता है।) अथवा २. अलंकरोति इति अलंकारः (जो अलंकृत करता है) यों तो, इन दोनों व्युत्पत्तियों में कोई विशेष अन्तर नहीं है, दोनों का तात्पर्य यही है कि जिस तत्व से काव्य की शोभा होती है उसे अलंकार कहते हैं। अलंकारवादी आचार्य दण्डी ने अलंकार का लक्षण स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया है। इनके अनुसार–"जो धर्म काव्य की शोभा बढ़ाते हैं वे अलंकार कहलाते हैं।"[2] काव्य शोभाकरान् धर्मान् अलंकरान् प्रचक्षते। उनकी इस धारणा के आधार पर अनुप्रास, उपमा आदि तो अलंकार हैं ही, गुण, रस, ध्वनि आदि अन्य काव्य तत्व भी अलंकार ही कहलाते हैं। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि अलंकारवादी आचार्यों की दृष्टि में अलंकार काव्य की आत्मा होगा। रीतिवादी वामन ने (जो कि रीति और गुण में परस्पर सम्बन्ध स्वीकार करते हैं) दण्डी प्रस्तुत अलंकार के उक्त लक्षण को गुण का लक्षण बताया और अलंकार उन्हें माना जो गुण द्वारा उत्पन्न शोभा के वर्द्धक हैं।[3] वामन के उपरान्त आनन्दवर्धन आदि ने अलंकार को काव्य के अंग (शब्दार्थ) के आश्रित मानते हुए इन्हें लौकिक आभूषणों, कटक–कुण्डल आदि के समान (शब्दार्थ रूप शरीर का शोभाजनक धर्म) कहा।[4]

---

१. चक्रवाल, (भूमिका) रामधारी सिंह दिनकर, पृ0सं0 २७
२. काव्यादर्श, २.१
३. काव्यशोमायाः कर्तारो धर्माः गुणाः। तदतिशय हेतवस्त्वलंकाराः।। का0सू0 ३. ११. २१
४. अंगाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः करकादिवत् – ध्वन्यालोक २.६१

आगे चलकर आनन्दवर्धन की ही धारणा को आगे बढ़ाते हुए मम्मट और फिर विश्वनाथ ने अलंकार के लक्षण प्रस्तुत किये, जिनका समन्वित रूप इस प्रकार है – "अलंकार उन्हें कहते हैं जो शब्दार्थ रूप काव्य शरीर के अस्थिर धर्म के रूप में उसकी अतिशय शोभा बढ़ाते हुए रसादि का कभी उपकार करते हैं।"[१] इनके बाद जगन्नाथ के अनुसार – "अलंकार उन्हें कहते हैं जो काव्य की आत्मा व्यंग्य की रमणीयता के प्रयोजक हैं।"[२]

पंत जी इस सम्बन्ध में कहते हैं कि – "और इनकी भाषालंकारिकता जिसकी रंगीन डोरियों में वह कविता का हैगिंग गार्डन–वह विश्व वैचित्र्य झलकता है, जिसके हृदय पर वह चित्रित है ....इन साहित्य के मालियों में से जिसकी विशाल वाटिका में भी आप प्रवेश करें, सबसे अधिकतर वहीं कदली के स्तम्भ, कमलनाल, दाड़िम के बीज, शुक, पिक, खंजन, शंख, सर्प, सिंह, मृग, चन्द्र, कटाक्ष करना, आह छोड़ना, दूत भेजना, कराहना, मूर्च्छित होना, स्वप्न देखना, अभिसार करना, बस इसके सिवा और कुछ नहीं। भाव और भाषा का ऐसा शुक प्रयोग, राग और छन्दों की ऐसी एक स्वर रिमझिम, उपमा और उत्प्रेक्षाओं की ऐसी दादुरावृत्ति, अनुप्रास एवं तुकों की ऐसी अश्रान्त उपलवृष्टि क्या संसार के और किसी साहित्य में मिल सकती है।"[३]

अलंकारों के सम्बन्ध में राम दहिन मिश्र अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं कि – "अलंकार योजना बाहर से लाई जाने वाली सारी वस्तुओं को ग्रहण करती है, चाहे अलंकारों का कैसा ही रूप क्यों न हो। अलंकार विशेष्य हो, विशेषण हो, क्रिया हो, मुहावरा हो चाहे और कुछ हो। इसके भीतर सब समा जाते हैं।"[४] पंतजी कहते हैं कि – "अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिये नहीं वे भाव की अभिव्यक्ति विशेष के द्वार हैं, भाषा की पुष्टि के लिये, राग की परिपूर्णता के लिये आवश्यक उपादान हैं। वे वाणी

---

१. (क) उपकुवर्त्ति तं सन्तं येऽङगद्वारणे जातुचित। हारादिवलंकार रसतेऽनुप्रासोपमादयः।। (का० प्र० ८ . ६७)
(ख) शब्दार्थ योरस्थिराः ये धर्माः शोमातिशायिनः। रसादिनुपकुर्वन्तोऽलंकारस्तेऽङ.गदादिवत्।। (सा० द० १० . १)
२. काव्यात्मनो व्यंगयस्य रमणीयता – प्रयोजका अलंकाराः
३. पल्लव (भूमिका), सुमित्रा नन्दन पंत, पृ०सं० ६ – १०
४. काव्य में अप्रस्तुत योजना, रामदीहन मिश्र, पृ०सं० ४

के आचार, व्यवहार, रीति नीति हैं। पृथक स्थितियों में पृथक स्वरूप भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं ....वे वाणी के हास, अश्रु, स्नान, पुलक, हाव भाव हैं।"[१]

महादेवी वर्मा ने काव्य में अलंकार आदि के प्रयोग के विषय में प्रायः स्पष्ट चर्चा नहीं की है, हाँ उनके कविता तथा कला विषयक विचारों से अलंकारों के विषय में उनकी धारणाओं का अनुमान लगाया जा सकता है। महादेवी काव्य के मूल तत्वों को जीवन की भाँति चिरन्तन एवं शाश्वत मानती हैं। अलंकार आदि काव्य की बाह्य रूप रेखा का निर्माण करने वाले तत्व हैं, तथापि उन्होंने अलंकार का स्पष्ट नाम नहीं लिया है किन्तु उनका आशय यही है – "धुँधले अतीत से लेकर वर्तमान तक और 'वाक्यं रसात्मकं काव्य' से लेकर आज के शुष्क बुद्धिपाद तक जो कुछ काव्य के रूप और उपयोगिता के सम्बन्ध में कहा जा चुका है वह परिणाम में कम नहीं परन्तु अब तक न मनुष्यों के हृदय का पूर्ण परितोष हो सका और न उसकी बुद्धि का समाधान। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि प्रत्येक युग अपनी विशेष समस्याएं लेकर आता है जिनके समाधान के लिये नई दिशाएं खोजती हुई मनोवृत्तियाँ उस युग के काव्य और कलाओं की एक विशिष्ट रूपरेखा देती रहती हैं। मूल तत्व न जीवन के कभी बदलते हैं और न काव्य के।"[२]

निराला तो अलंकार से रहित भाषा की मुक्त कण्ठ से प्रशन्सा करते हैं। हिन्दी में कला विषयक आलोचना के प्रति असन्तोष व्यक्त करते हुए वह लिखते हैं – "हिन्दी में कला के विवेचन में प्रायः यही हाल है। अधिकांश तो उत्प्रेक्षा और रूपक को ही कला समझते हैं। निराला के अनुसार काव्य कला, रस, ध्वनि आदि की सीमाओं में आबद्ध न होकर समस्त उपादानों के समन्वय में ही पूर्ण है।"[३]

अलंकार योजना का वैशिष्ट्य :

प्रत्यक्ष जगत की मोहकता अथवा मानव की रागात्मक प्रवृत्तियों से संवेदित होकर

---

१. पल्लव (भूमिका), सुमित्रा नन्दन पंत, पृ०सं० ३२
२. महादेवी वर्मा, महादेवी का विवेचनात्मक गद्य – सम्पादक – गंगा प्रसाद पाण्डेय, पृ०सं० ४८ – ४६
३. प्रबन्ध – प्रतिमा, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, पृ०सं० २७३

कवि हृदय भावोन्दोलित हो जाता है। उसकी प्रतिभा उसका अनन्त विस्तारण करती है और तदनुकूल कल्पनाओं का सम्भार करती हुई उन्हें वैषयिक प्रकृति की अनुरूपता के योग्य बनाती है। तत्पश्चात् कवि उत्तमोत्तम प्रभावशाली एवं मनोरम शब्दों का तदनुरूप संग्रथन करता हुआ उनकी अभिव्यक्ति करता है। मनोभावों की अभिव्यक्ति की तीव्रता में व्यंजना व्यापार सामान्य न होकर कौशलपूर्ण हो जाता है। अतएव काव्य भाषा की कलात्मक साज सज्जा के उद्गम का सूत्र सामने आ जाता है। दूसरे शब्दों में काव्य में भाव एवं सौन्दर्य के प्रतिष्ठापनार्थ अलंकारों की योजना होती है। कारण, कि सौंदर्य की अपेक्षा कवि और पाठक दोनों की होती है। अलंकार काव्य के बाह्य एवं अन्तर पक्षों को अतिरिक्त रमणीयता एवं चमत्कार प्रदान करते हुए पाठकों अथवा श्रोताओं के निमित्त रूप में उन्हें अत्यन्त ही बोधगम्य एवं प्रभावाशाली बना देते हैं।

भारतीय काव्य–शास्त्र में अलंकारवादियों ने अलंकारों पर गंभीर विचार प्रस्तुत किये हैं और उनकी व्यापकता में काव्य के अन्य सभी उपादानों (गुण, रीति, वृत्ति) को भी समेट लिया है। वामन ने 'सौन्दर्यमलंकार' कहकर काव्य सौन्दर्य को समग्रतः उन्हीं में समाहित कर दिया है। उन्होंने अलंकारों को 'सौन्दर्य एवं सौन्दर्याधायक' दो पक्षों में लिया। पुनः सौन्दर्याधायक पक्ष के व्यापक और संकुचित दो अर्थ लिये। व्यापक अर्थ में दोषाभाव गुण, अलंकार सभी निहित किये किन्तु संकुचित अर्थ में शब्दार्थ के अलंकारों को ही मान्यता दी और आगे चलकर यही रूढ़ मंतव्य हो गया। भाव और भाषा का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अलंकार की पहुँच दोनों क्षेत्रों में है। प्रायः भाव के चमत्कार के लिये अर्थालंकार की जो योजना की जाती है, वह अधिकतर भाषा के वैभव की सहायता से ही। जिस भाषा में जितनी लाक्षणिक चपलता होती है उसमें उतनी ही क्षमता भी रहती है।

अलंकारों की संख्या अभिव्यंजना के प्रकारों की अपरिमितता के अनुसार असंख्य मानी गयी है। दण्डी के अनुसार अलंकारों की आज भी सृष्टि हो रही है। अतः उनकी गणना कौन कर सकता है। आनन्दवर्धन के अनुसार अलंकार अनन्त हैं। संस्कृताचार्यों ने पुनः इन अपरिमित अलंकारों को परिमित करने के लिये उनके वर्गीकरण का भी प्रयत्न

किया और उनके भिन्न भिन्न आधार माने किन्तु मतैक्य नहीं रहा। भामह ने वक्रोक्ति को दण्डी ने अतिशयोक्ति को एवं वामन ने उपमा को सभी का मूलाधार माना। रूद्रट ने ४ भेद–वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष तथा रूय्यक ने सादृश्य गर्भ, विरोध गर्भ, श्रृंखलाबद्ध, तर्क न्यायमूलक, वाक्य न्यायमूलक, लोकन्याय मूलक और गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक आदि सात भेद किये। आधुनिक युग में भी मनोवैज्ञानिक आधार पर वर्गीकरण किया गया है, जो इस प्रकार है – १. सादृश्य मूलक, २. विरोध मूलक, ३. साहचर्य मूलक। इनके अतिरिक्त अतिशय मूलक एवं तर्क तथा गूढ़ार्थ प्रतीति मूलक दो अन्य भेद भी किये जाते हैं।

सादृश्य मुख्यतः तीन प्रकार (रूप, धर्म, और प्रभाव सादृश्य) के माने जाते हैं। कहीं इन्हें पृथक एवं कहीं समन्वित रूप में मान्यता दी जाती है। रूप बाह्याकार है तो धर्म और प्रभाव अन्तःकरण की विशेषताएं हैं। विरोधमूलक अलंकारों के अन्तर्गत विरोधाभास में विरोध का आभास मात्र होता है अर्थात् यहाँ कारण के वर्तमान होने पर भी कार्य नहीं हो पाता। असंगति कार्य–कारण–विरोध मूलक अलंकार है इसमें कारण कहीं होता है और कार्य कहीं। अतिशयोक्ति भी मूलतः विरोध मूलक अलंकार ही है। उसी प्रकार साहचर्य मूलक अलंकार कारण माला, एकावली, यथासंख्य सार आदि माने जा सकते हैं। तर्क तथा गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक–काव्यलिंग पर्याय व्याज स्तुति – अप्रस्तुत प्रशंसा आदि माने जाते हैं।

वस्तुतः कवि पाठकों के प्रति अपने भावों एवं विचारों को तद्वत सफलतापूर्वक प्रेषित करने के निमित्त अपनी वाणी को वक्रतापूर्ण–अतएव असामान्य बना देता है। अलंकार इस क्रिया में सहायक सिद्ध होते हैं। वे वस्तु और भाव को स्पष्ट, तीव्र और रागबोधात्मक बनाते हैं। "रस समाहित चेता" कवि जब अपने मन को रस केन्द्रित करता है तो अलंकारों का औचित्यपूर्ण विन्यास अपने आप हो जाता है। आनन्दवर्धन ने कहा है – तत् (रस) प्रकाशिनों बाह्य विशेष एवं रूपकादयोऽलंकाराः। रूपकादि अलंकार रस के प्रकाशक हैं। यह तभी सम्भव है जब वे अभिभूत रूप में प्रयुक्त हों। सम्भवतः तथ्य को लक्ष्य करते हुए आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त ने उन्हें 'रसाक्षिप्त' और 'अपृथग्यत्न

निर्वर्त्य' कहा है। अस्तु उनकी अप्रधानता ही अपेक्षित होती है, उनकी प्रधानता काव्य के अन्तरंग एवं बहिरंग दोनों की रागबोधात्मकता समाप्त कर देती है और वे भाव एवं भाषा के उपकारी न होकर अपकारी बन जाते हैं तथा वे काव्य के लिये अनिवार्य भी नहीं माने जा सकते। अतएव साहित्य दर्पणकार ने उन्हें काव्य के 'अस्थिर धर्म' माना है। पाश्चात्य देशों में भी अभिव्यंजनावादियों ने अलंकार और अलंकार्य का भेद स्वीकार नहीं किया। समान, सुन्दर एवं गम्भीर होने से ही भाषा एवं भाव सहज सौन्दर्य सम्पन्न हो सकते हैं नगण्य भावों की व्यंजक अलंकृत भाषा शब्दाडम्बर मात्र ही प्रतीत होगी।

अलंकारों की सहायता से काव्य के भाव–रूपगुण–क्रिया आदि में सौन्दर्य–समृद्धि होती है। भाव अर्थात्मक एवं रूप, गुण–क्रिया शब्द के धर्म हैं। ऐसी स्थिति में भाषा के दो रूप स्पष्ट हो जाते हैं – ध्वन्यात्मकता (नादात्मकता) एवं बिम्बात्मकता। प्रथम शब्द से एवं द्वितीय अर्थ से सम्बन्धित है। ऐसी स्थिति में अलंकारों के परम्परानुगत यही दो प्रकार काव्य भाषा की दृष्टि से विचारणीय होंगे – १. ध्वनि (नाद) पर आश्रित शब्दालंकार २. बिम्ब पर आश्रित अर्थालंकार। नादाश्रित शब्दों का काव्यान्तर्गत कौशलपूर्ण चयन होता है जिससे उसमें संगीत (उच्चारण–ध्वनि) एवं चमत्कार उत्पन्न होता है किन्तु अर्थालंकार तद्वत–बिम्ब का सम्मूर्तन करते हुए भावों की रमणीयता तथा चमत्कार संयोजित करते हैं और इस प्रकार काव्य का चित्र धर्म उपस्थित करते हैं।

शब्दालंकार :

शब्दालंकार काव्य में शब्दाश्रित चमत्कार होता है, अर्थाश्रित नहीं। इनमें जिस शब्द का जिन शब्दों द्वारा चमत्कार पैदा होता है – तदर्थ–वाचक भिन्न भिन्न शब्दों द्वारा वह चमत्कार रहने नहीं पाता। कुछ शब्दालंकार वर्णगत कुछ शब्दगत एवं लाटानुप्रासादि वाक्यगत होते हैं। छेकानुप्रास आदि शब्दगत एवं लाटानुप्रासादि वाक्यगत होते हैं। प्रमुख शब्दालंकार अनुप्रास, यमक, श्लेष, पुनरुक्ति, पुनरुक्तवदाभास, वक्रोक्ति माने जाते हैं।

अर्थालंकार :

जिन शब्दों द्वारा जिस अलंकार की सृष्टि होती है उन शब्दों के बदलने पर भी वह अलंकार बना रहे तो अर्थालंकार होता है। अर्थालंकारों में सादृश्यमूलक अलंकार प्रधान है और उनका प्राणोपम उपमा अलंकार है। उसी से रूपकादि अलंकार सम्बन्धित हैं। डॉ0 देवराज ने इस सम्बन्ध में अच्छी मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है – "शब्दों का सर्जन और भाषा का निर्माण सामूहिक प्रयत्नों के लिये होता है। इसीलिये प्रायः प्रकृत वस्तुओं के ही संकेतात्मक शब्द होते हैं। भाववाचक शब्द जाति के विचारों के समृद्धिकाल में जबकि व्याख्या के द्वारा भाषा के बालों की खाल निकाली जाने लगती है प्रत्ययादि के परिवर्धन द्वारा बनाये जाते हैं। वे भी संख्या में कम होते हैं और भावों की एक सामान्य दशा के परिचायक होते हैं। उदाहरण के लिये वेदना शब्द तो एक है पर व्यक्तिगत रूप से वेदना के अनन्त भेद होते हैं। इन बारीकियों, व्यक्तिगत अनुभूतियों के लिये शब्दों की सदा से कमी रही है। जिस अनुपात में नूतन भावों की उत्पत्ति होती गयी उसी अनुपात से उनके प्रत्ययात्मक शब्दों की सृष्टि न हो सकी और उन्हीं पुराने शब्दों की संगति बैठाकर रूपक के रूप में उनका व्यवहार कर उनसे नये अर्थ के उद्देश्य की सिद्धि की गई। अलंकार भावों का उत्कर्ष करते हैं तथा वस्तुओं के भाव, रूप, गुण और क्रिया के अनुभव की तीव्रता बढ़ाते हैं।" तदनुसार काव्य में प्रभावोत्पादकता और प्रेषणीयता भी अधिक आ जाती है। उपमा, रूपक, अप्रस्तुत योजना, व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा आदि प्रमुख अर्थालंकार हैं।

हिन्दी काव्य में आंग्ल भाषा के अलंकार :

हिन्दी काव्य ने आधुनिक युग में आंग्ल भाषा से भी विशेष प्रभाव ग्रहण किया है। अतएव जहाँ उसने अन्य कलात्मक प्रवृत्तियों का आदान किया है वहीं उसने अलंकृत भाषा शैली भी अपनाई है। पाश्चात्य आंग्ल साहित्य के अनेक अलंकार संस्कृत अलंकारों के अवयव हैं। फिर भी उपमानों के विशिष्ट एवं विचित्र चयन की दृष्टि से विशेष रूप से मानवीकरण, विशेषण–विपर्यय, सिनकडके (Syncadeche) आदि को अपनाया गया है। यद्यपि इनके उदाहरण प्राचीन भारतीय साहित्य में भी प्रचुर हैं – (निधरक बैठि कहइ कटुबानी, सुनत कठिनता अति अकुलानी – रामायण)।

(१) मानवीकरण (Personification) :

इसमें भावनाओं अथवा प्रस्तुत अमूर्त विषयों को मूर्त मानकर उन पर मानवीय गुणों का आरोप किया है। मूर्तिमत्त की इस प्रणाली से कथन में वक्रता एवं चमत्कार उत्पन्न होता है। आधुनिक काव्य में यह विशेष रूप से ग्रहीत है –

"हंस देता है जब प्रात सुनहरे अंचल में बिखरा रोली।
लहरों की बिछलन पर जब मचली पड़ती किरणें भोली।
तब कलियाँ चुपचाप उठाकर पल्लव के घूँघट सुकुमार।
ढलकी पलकों से कहती हैं कितना मादक है संसार।।"

(महादेवी वर्मा)

"प्रातःकाल का हंसना, रोली बिखेरना, लहरों का मचलना, कलियों का कहना आदि मानवीकरण है।"

(२) सिनकडके (Syncadeche) :

इसमें किसी वस्तु को ऐसी संज्ञा देने का व्यापार है जो इष्ट अर्थ से कुछ अधिक अथवा कुछ कम व्यक्त करे। यह दो प्रकार से होता है –

१. पूर्ण वस्तु के लिये उसके किसी अंश का कथन –

'अर्धशती हहराती निकल गई है तब से कितने ही मधु पतझर बीत गये अनजाने।'

(पंत)

२. वस्तु अंश के लिये पूर्ण वस्तु का कथन जैसे अभिमन्यु की मृत्यु पर यह कहना है कि पांडव सेना मारी गयी।

(३) विशेषण विपर्यय :

इसमें किसी कथन को अर्थ गर्भित एवं गम्भीर बनाने के लिये उपमेय का विशेषण उपमान से जोड़ दिया जाता है –

"जब विमूर्च्छित नींद से मैं था जगा,
कौन जाने किस तरह पीयूष सा,
एक कोमल समव्यथित निःश्वास,
था पुनर्जीवन सा मुझे तब दे रहा।"

यहाँ मूर्च्छित नींद से नहीं जागने वाला व्यक्ति मूर्च्छित है। इसके तृतीय चरण नें मूर्त नायिका के लिये 'समव्यथित निःश्वास' से अमृत का मूर्त–विधान भी किया गया है।

समग्र रूप से यह स्पष्ट है कि अलंकार भी काव्य भाषा का उपस्कारक तत्व ही हैं। अतः अलंकारों का प्रयोग भी काव्य भाषा के संदर्भ में ही उल्लेखनीय होता है।

सोम के काव्य में अलंकार योजना :

आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम' आधुनिक युग के एक सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। उन्होंने मूलतः वैदिक साहित्य को अपने चिंतन, मनन एवं लेखन का प्रतिपाद्य बनाया है। इस आधार पर वे जहाँ एक ओर हिन्दी काव्य की भक्तियुगीन परम्परा को अपने अन्तर्गत समाहित किये हुए हैं, वहीं उन्होंने आधुनिक युग से भी अपना सम्बन्ध रखा है। 'सोमसुधा', 'जीवन–गीत', 'श्री गणेश गीतांजलि', 'श्रुतिसंगीतिका', 'भागवती आभा' आदि काव्य ग्रन्थों में कवि ने आधुनिक जीवन एवं सामयिक परिवेश को अभिव्यक्त किया है। जहाँ तक सोम जी के काव्य में अलंकार योजना का प्रश्न है उन्होंने परम्परित अलंकारों का ही प्रयोग किया है। काव्य में अलंकारों का प्रयोग उनका साध्य नहीं है स्वाभाविक साधन मात्र है। सोम के काव्य में उपमा एवं रूपक अलंकारों की ही प्रधानता है। ये दोनों ही अलंकार साम्यमूलक हैं किन्तु दोनों मे भेद इतना है कि रूपक में साम्य की प्रतीति व्यंजना से होती है, उपमा में साम्य की प्रतीति अभिधा से होती है। आचार्य सोन की काव्यकला की चरम परिणति उनका 'विरहिणी' महाकाव्य है। इस रचना में भी कवि ने अलंकारों का प्रयोग प्रयत्नपूर्वक नहीं किया है। अलंकार भावों के संवर्द्धन हेतु ही कविता में प्रयुक्त हुए हैं। अलंकार के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल ने कविता में अलंकारों की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है – "कविता में भाषा की सब शक्तियों से

काम लेना पड़ता है। वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिये कभी कभी किसी वस्तु या आकार या गुण को बहुत बढ़ाकर दिखाना पड़ता है, कभी उसके रूप–रंग या गुण की भावना को उसी प्रकार के और रूप रंग मिलाकर तीव्र करने के लिये समान रूप और धर्मशाली और–और वस्तुओं को सामने लाकर रखना पड़ता है। कभी कभी बात को भी घुमा–फिरा कर कहना पड़ता है। इस तरह के भिन्न–भिन्न विधान और कथन के ढंग अलंकार कहलाते हैं।"[१] आचार्य सोम ने भी अपने काव्य संकलनों में इसी भावना को दृष्टिगत रखते हुए अलंकारों का प्रयोग किया है क्योंकि वे मूलतः रसवादी कवि एवं आलोचक भी हैं और रसवाद पर पूर्ण आस्था रखते हैं। आचार्य 'सोम' के काव्य में निम्नलिखित अलंकार प्रयुक्त हुए हैं –

उपमा :

मेरा भी उर–अंगार–भरा, है धधक रहा तुष–पावक सा,
चुगता है मेरा स्नेह–भाव जिनको चकोर के शावक सा।[२]

x x x

कौले सी कालिमा, श्वेतिमा हिम–गिरिवर सी,
स्वर्ण सदृश्य पीतिमा, नीलिमा नभ–जलधर सी।[३]

x x x

रूपासन के आस्वादन सी यह विमल विभा की व्यंजकता,
मैं ओत–प्रोत हुई इसमें मुझमें इस छवि की रंजकता।[४]

x x x

शिवा की लगन, गुरु की आन, जहाँ पर हो प्रताप की टेक,
भगत, शेखर का–सा तप–त्याग, तिलक–नाना सा बुद्धि–विवेक।।[५]

---

१. चिन्तामणि (भाग – १), आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ०सं० १२४
२. विरहिणी, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ७१
३. वही, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ७६
४. वही, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम' पृ०सं० १६६
५. सोम सुधा – आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ५१

यहाँ पर कवि ने अपने युग की तरुणाई को भारतीय वीरों के जाज्वल्यमान इतिहास को स्मरण करने का संकल्प लिया है।

रूपक :

"मन–मीन विकल अति दीन,
स्नेह के मेघ कहो, कब बरसेंगे ?
द्वेष, दावाग्नि–दग्ध उर–अन्तर
विरहातप–तापित तन जर्जर
काम–कलुष–कर्दभ–हत विस्वर
अपरूप रूप प्राचीन, कहो कब बरसेंगे ?"[१]

यहाँ पर विरहिणी आत्मा विरह में उस प्रियतम की प्रतीक्षा कर रही है। यह मन रूपी मीन स्नेह के मेघों की प्यासी है।

'कैसा घातक रंग चढ़ा है, विस्मृति का विष–वृक्ष बढ़ा है,
उर–नभ घन–मद–मन्त बढ़ा है जीवन बन कर वक्र कढ़ा है।'[२]

x x x x

बस एक निरंतर जागृत, जप करता हुआ,
नैराश्य–निशा में आश्वासन भरता हुआ।
सीता के दुख त्रिजटा सम हरता हुआ,
चिन्ता–कणिकाओं को खग समचरता हुआ।।'[३]

x x x x

---

१. विरहिणी, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ७६
२. विरहिणी आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ८६
३. वही, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ८७

आज आरती थाल सजाये,

बैठी हूँ, प्रभु, आ जाओ।

मेरे भग्न–हृदय–मन्दिर में,

शुभ्र छटा निज छिटकाओ।'[1]

x x x x

आज मिला तट घाट री, डूब–उछल संसृति–सरिता में,

इस मादक चंचल लहरों ने, डाल रूप के जाल सलोने,

खींच लिया मुझको उर–अंतर, बन्द विवेक–कपाट री।[2]

x x x x

'भोगास्वादन करे पलायन, ज्ञान–अग्नि में कर्म जले।

ज्ञान भाव में अवसिति पावे, आत्मा फूले और फले।।'[3]

x x x x

'मलय लहर मान बैठे थे जिसे वे,

वह सिद्ध हुई प्रलय–समुद्र–विष–वीचिका।'[4]

अनुप्रास :

आचार्य सोम की कविताओं में अनुप्रास की छटा अधिक दिखाई देती है। वृत्यनुप्रास अलंकार के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं –

'यह शुभ्र तार कित ओढ़नी,

छवि छहर छहर रही फैल गिरि तरू,सरि सर, शोभनी।'[5]

x x x x

'तन–मन विकल्प–विक्षोभ–विरोधी छाया,

वैरस्य–विषमता की न जहाँ पर माया।'[6]

---

१. वही, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ८८
२. विरहिणी, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १६१
३. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ६१
४. सोम सुधा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ४२
५. विरहिणी, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ६६
६. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ६०

x x x x

कंटक–कलुष–क्रन्दन–कदन, भर दो हर्ष से उर–भवन'[1]

मानवीकरण :

शिशिर का मानवीकरण करते हुए आचार्य 'सोम' 'विरहिणी' महाकाव्य में लिखते हैं–

'यह शिशिर अरे भय खाता, झोंके झेलता,
जा रहा मन्द–कपित गति से किस ओर है ?
यह अंग सिकोड़े, चादर ओढ़े, मुख ढके,
क्या सेंध लगा कर आया कोई चोर है ?'[2]

x x x

उषा का मानवीकरण करते हुए कवि सोम का कथन है –

'यह भद्र योषिता सी अपनी साड़ी का अंचल फहराती।
कमनीय कान्ति का जाल बिछा, नियमित गति से प्रतिदिन आती।
नर्तकी तुल्य नर्तन करती, आकर्षण से अग–जग भरती।
उन्मुक्त वक्ष में ले सबको मधु पिला धेनु सम दुख हरती।।'[3]

उदाहरण :

उदाहरण अलंकार का प्रयोग कवि ने कम ही किया है। 'भागवती आभा' काव्य में एक दो स्थलों पर इसका प्रयोग कवि ने किया है। यथा –

'उठ रहा ज्वार है, क्षुब्ध सिन्धु लहरों पर लहरें मतवाली।
टकराती, धू–धू कर बढ़ती फन फैलाय ज्यों बन–व्याली।।'[4]

x x x x

---

१. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १०७
२. विरहिणी, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ७५
३. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ५५
४. वही, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १११

'दिप रहा दीप्तिमय पर अदृश्य, ज्यों शशि अदर्शना चतुर्दशी,
वह इस हिरण्यमय भजन से,
मोहक माया वी छादन से।'[1]

x x x

"कर दो प्रभुवर ! निर्मल निर्भय।
पावन प्रभु, कर दो पाप मुक्त, धुल जाय काय, धुल जाय हृदय।
जल से ज्यों थल–मल धुल जाते, धुल जाय भक्ति – जल से मानस।"[2]

प्रतीप :

'विरहिणी' महाकाव्य में विरहिणी शरद ऋतु के आने पर भी चाँदनी की प्रतिपल शीतलता से भी जलन का अनुभव कर रही है –

'जलाती है प्रतिपल चाँदनी,
दिखाते आँखें निशि के याम।
चंडकर के प्रचंड कर मार,
रुलाते हैं मुझको दिन वाम।'[3]

श्लेष :

संध्या के समय प्रकृति में एक नीरवता सी छा जाती है। उसी का वर्णन करते हुए विरहिणी वेदना का अनुभव करती है –

'रस का प्लावन, उन्नयन, द्रवण सब बन्द अगति की कारा में
हो रही विभीषण, उथल–पुथल लहरों में, अन्तस धारा में'[4]

x x x x

अब आता हूँ,, अब आता हूँ, कहते हायन बीते,
हाय न जाने कब तक ऐसे मेरे बासर रीते।'[5]

---

१. विरहिणी, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ४५
२. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १०५
३. विरहिणी, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ६०
४. वही, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ६५
५. वही, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ६०

यहाँ 'हाय न' शब्द का अर्थ दिन से है और दूसरे में 'हाय न' कहकर कवि ने चमत्कार की सृष्टि की है और 'हायन' में विवशता की ओर इंगित किया है।

उल्लेख अलंकार :

जब प्रस्तुत (उपमेय) का वर्णन अनेक रूपों में किया जाता है तो उल्लेख अलंकार होता है। कवि सोम ने अपनी कविताओं में इस अलंकार का प्रयोग किया है। यथा –

"सलिल से रंग है गीला, नहीं तो ढंग है ढीला।
सलिल से भाव नरमीला, नहीं तो भाव भड़कीला।
सलिल बन आँख का पानी, चढ़ाता भाल में लाली।
सलिल से शून्य है पत्थर, सलिल से युक्त मुक्ताली।।
सलिल था सिन्धु में खारा, तपा रवि रश्मि पर चढ़कर।
पवन के साथ शीतल हो बना घन में मधुर बढ़कर।
द्रवित हो पाप तप्तों पर बरसने फिर लगा भू पर।
चराचर तृप्त हो गुणगान में तत्पर हुए सत्वर।।"[1]

इस प्रकार कवि सोम ने शब्दालंकार एवं अर्थालंकार दोनों ही प्रकार के अलंकारों का प्रयोग किया है। ये सभी अलंकार भावों के संवर्द्धन हेतु प्रयुक्त हुए हैं। इसके साथ ही कवि का अभिप्रेत भाषा को प्रभावी एवं रसयुक्त बनाने का रहा है। भाषा को जीवन्त एवं आवेगमयी बनाने के लिये कवि सोम ने वीप्सा अलंकार का भी प्रयोग किया है। निष्कर्षतः कवि सोम की अलंकार योजना भावोत्कर्ष के लिये ही निर्मित हुई है।

प्रतीक विधान :

प्रतीक की अवधारणा

मनुष्य और मनुष्येतर प्राणियों में यही प्रमुख अन्तर है कि मनुष्य अपने विचारों को भाषा के द्वारा व्यक्त कर लेता है, जबकि अन्य प्राणी अपने विचारों का आदान प्रदान

---

१. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ0सं0 ८७

केवल संकेतों के द्वारा करते हैं उनकी यदि अव्यक्त सी भाषा है भी तो वह सामान्यतया अबूझ ही मानी जाती है। मनुष्य की यही विशेषता उसे अन्य प्राणियों से पृथक ही नहीं करती बल्कि मनुष्य का आसन श्रेष्ठ एवं ऊँचा भी बनाती है। आदि काल से मनुष्य अपनी अभिव्यक्ति को सबल और प्रभावशाली बनाने के लिये उन साधनों की खोज करता रहा है जो उसे उस दिशा में सहयोग प्रदान कर सकें। प्रतीक भी उन साधनों में से एक है।

प्रतीक शब्द का सामान्य अर्थ है अवयव, अंग, पता, चिन्ह, निशान और कभी कभी संकेत भी। किन्तु साहित्य में अथवा काव्य में इसका प्रयोग कुछ विशिष्ट अर्थ में ही होता है। इस विशिष्ट अर्थ को ही आधार मानकर हिन्दी के अनेक विद्वानों ने इस शब्द की परिभाषाएँ की हैं जिनमें से निम्नलिखित हैं – "किसी देवता का प्रतीक सामने आने पर जिस प्रकार उसके स्वरूप और उसकी विभूति की भावना चट मन में आ जाती है, उसी प्रकार काव्य में आई हुई कुछ वस्तुएँ विशेष मनोविकारों या भावनाओं को जाग्रत कर देती हैं। जैसे 'कमल' माधुर्यपूर्ण कोमल सौन्दर्य की भावना जाग्रत करता है। कुमुदिनी शुभ्र हास की, चन्द्र मृदुल आभा की, समुद्र प्राचुर्य, विस्तार और गम्भीरता की, आकाश सूक्ष्मता और अनन्तता की, इसी प्रकार 'सर्प' से क्रूरता और कुटिलता का, अग्नि से तेज और क्रोध का, वाणी से वाणी या विद्या का, 'चातक' से निःस्वार्थ प्रेम का संकेत मिलता है।"[१] आचार्य शुक्ल के इस वक्तव्य से प्रतीक का भावगत स्वरूप तो स्पष्ट हो जाता है पर इसकी कोई परिभाषा नहीं बनती।

'प्रतीक' का शाब्दिक अर्थ है 'चिन्ह'। प्रकृति के विभिन्न उपादानों, स्वरूपों के साथ नैत्यिक परिचय के कारण हमारा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, यह सम्बन्ध जब तक हृदयस्थ रहता है, तब तक इसकी अमूर्तावस्था रहती है, किन्तु जब हम प्रकृति के पदार्थों का प्रयोग अपनी स्वाभाविक भावाभिव्यक्ति के साथ करतें हैं तब उस रागात्मक सम्बन्ध का मानों मूर्तीकरण कर देते हैं। यथा सुमनों का सौरभदान देखकर

---

१. चिन्तामणी भाग – २, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ०सं० १२१

हमारे हृदय में एक प्रकार का विशिष्ट आनन्दोल्लास उत्पन्न होता है। संस्कारवशात् इस क्रिया के प्रति हमारा हृदयस्थ राग तन्मयत्व प्राप्त कर लेता है। यह तन्मयता उस समय विशेष सजग हो उठती है जब हम किसी उदार वृत्ति का चित्रण करते हैं और उदारता, त्याग आदि सद्वृत्तियों का प्रभावोत्पादक चित्रण करने के लिये सुरभिदान में लीन सुमनों को प्रतीक रूप मे उपस्थित करते हैं। शब्दों के इसी प्रकार के प्रयोग का नाम प्रतीक–स्थापन है।"[१]

"भाषा भावों की अभिव्यक्ति के लिये एक अशक्त माध्यम है। भावों में गहराई आने पर भावों को अनेक प्रकार के साधन अपनाकर अपने स्वरूप को सशक्त करना पड़ता है। अतः सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति के लिये प्रतीकों का सहारा लेना पड़ता है। मिथक साहित्य बहुविध प्रतीकों का अनुपम कोष है। प्रतीक के सम्बन्ध में प्रचलित धारणा यह रही है कि वह विशिष्ट संकेत या चिन्ह है। इस विषय में दो मत नहीं हो सकते कि संकेतशीलता प्रतीक का अनिवार्य धर्म है, किन्तु यहाँ तादात्म्य का महत्व नहीं भूलना चाहिए। यह तादात्म्य या अभेद सम्बन्ध प्रस्तुत और अप्रस्तुत के बीच स्थापित होता है; और अप्रस्तुत विधान में इस सम्बन्ध को ही आधार बनाया जाता है और इसी की व्यापकता, गहनता, सूक्ष्मता आदि को लक्ष्य करके रूपक, प्रतीक, बिम्ब, साम्यमूलक अलंकृति आदि अभिधान दिये जाते हैं। प्रतीक में तादात्म्य की गहनता प्रमुख होती है। अपनी इस निजी प्रकृति के कारण ही प्रतीक व्यंग्यरूपक, अध्यवसित रूपक, रूपकातिशयोक्ति और अप्रस्तुत प्रशंसा, जिसका कि इसे पर्याय या समान धर्म प्रायः ही कह दिया जाता है जो भिन्न और विशिष्ट हो जाता है।"[२]

'भवन्ती' में अज्ञेय जी के शब्द हैं कि – "प्रतीक के मूल में मिथक है पर प्रतीक में जान डालने के लिये मिथक हम गढ़ नहीं सकते, इसलिये प्रतीक को मरना ही होगा। अगर हम उसे फिर एक विचार में डाल लेते ऐसे विचार में जो आज के लिये यथेष्ट जान

---

१. हिन्दी साहित्य में विविध वाद, डॉ० प्रेम नारायण शुक्ल, पृ०सं० ४१४
२. हिन्दी काव्य में अन्योक्ति, संसार चन्द्र, पृ०सं० ६६

पड़ता है। उस विचार से हम भले ही फिर एक नया प्रतीक पा लें।"[१]

ह्वैले के कथनानुसार – "प्रत्येक भाव स्फूर्ति अथवा तीव्र व्यंजनावाला बिम्ब तात्विक रूप से प्रतीक होता है और वह पूर्ण प्रतीकत्व का दर्जा पाने के लिये प्रयत्नशील रहता है।"[२]

"प्रयोगाधिक्य से कालान्तर में प्रतीक रूढ़ होकर चिन्ह के दर्जे तक उतर आते हैं और इसी प्रकार चिन्हों में काव्यात्मक अनुभूति का अभिनिवेश हो जाने से वे प्रतीक का पद प्राप्त कर लेते हैं। राक्षस, चण्डी आदि शब्द प्रतीकापकर्ष के उदाहरण हैं और चक्र, त्रिपुर, आदि चिन्होत्कर्ष के। बहुलता की स्थिति में प्रतीकों को भाव चित्रों में संक्रमित होना चाहिए। वैसा न होने पर वे मात्र कथा रूढ़ि या अभिप्राय बनकर रह जाते हैं।"[३]

"आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रतीकों की शक्तिमत्ता के तीन आधार माने हैं – वस्तुगत, रूढ़िगत और जातीय संस्कारगत। उनका विचार है कि प्रतीक के रूप में ग्रहीत वस्तुओं में भावोद्बोधन की शक्ति तीन कारणों से आती है – कुछ तो उन वस्तुओं के स्वरूपगत आकर्षण से, कुछ चिरपरिचित आरोप के बल से और कुछ वंशानुगत दीर्घ परम्परा के प्रभाव से।"[४]

डॉ० उषा पुरी के मतानुसार – "मिथक साहित्य में प्रतीक योजना अनन्त है – कहने की अपेक्षा यह कहना अधिक उपयुक्त है कि वह स्वयं प्रतीक है, अतः गहन भावों को व्यक्त करने के लिये मिथक का सहारा लेना पड़ता है। दूसरी ओर मिथकों के आंचल की ओट पाकर गहनतम भाव चिरकाल तक सुरक्षित रह पाते हैं।"[५]

---

१. भवन्ती, अज्ञेय
२. Poetic Process, George Whalley, Page no. 166
३. भाषा और संवेदना, रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ०सं० २५
४. चिन्तामणि भाग – २, रामचन्द्र शुक्ल, सं० २००२, पृ०सं० १२२
५. मिथक, उद्भव और विकास तथा हिन्दी साहित्य, डॉ० उषापुरी, पृ०सं० ४३

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतीक किसी विशेष अर्थ को व्यक्त करने वाला होता है। यह अर्थ परम्परागत होता है; अर्थात् प्रतीक में जो अर्थ होता है, वह देश के वातावरणीय सांस्कृतिक प्रभाव के कारण होता है। 'प्रतीक' की परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है कि इसमें संकेतात्मकता का अर्थ निहित है।

हिन्दी साहित्य कोश में प्रतीक की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए यह बताया गया है कि साहित्य में प्रतीक का प्रयोग कई प्रकार से होता है।

(१) सर्वजीववाद –

"ऐ नभ की दीपावलियों,
तुम क्षणभर को बुझ जाना।
मेरे प्रियतम को भाता है तम के पर्दे में आना।"

इस पंक्ति में नक्षत्रों को जीवन्त मानकर अनुरोध किया गया है।

(२) रूपक –

"सखी नीरवता के कन्धे रखे हाथ,
उतर रही सन्ध्या सुन्दरी .... ।"

(३) उपमा –

"बिखरी अलकें ज्यों तर्कजाल।"

(४) चरित्रों को किसी भाव या विचार विशेष का प्रतिनिधि बनाकर उनके माध्यम से भाव या विचार व्यक्त करना,जैसे 'कामायनी', 'कुरुक्षेत्र', 'डिवाइन कॉमेडी'।

(५) जो साधारण भाषा में अव्यक्त और अनिर्वचनीय हो, उसे प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त करना।[1]

"प्रतीक को और व्याख्यायित करते हुए हिन्दी साहित्य कोश में उसके कार्यों पर प्रकाश डाला गया है। प्रतीक कई कार्य कर सकते हैं।

---

१. हिन्दी साहित्य कोष भाग – १, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान सम्पादक), पृ०सं० ५१६

१. किसी विषय की व्याख्या करना।

२. उसको स्वीकृत करना।

३. पलायन का पथ प्रस्तुत करना।

४. सुप्त या दमित अनुभूति को जाग्रत करना।

५. अलंकरण या प्रदर्शन का साधन होना।[1]

प्रतीक की काव्ययात्रा :

अनादिकाल से यह प्रवृत्ति चली आ रही है। इस सम्बन्ध में वेदों के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। उपनिषदों में अनेक गाथाएँ पूर्णतः प्रतीकवाद ही हैं। योग वशिष्ठ के समस्त उपाख्यान प्रतीकात्मक हैं। लोगों का तो कहना है कि महाभारत का सम्पूर्ण काव्य प्रतीक–स्थापन का ही यत्न है। कौरव और पाण्डवों को वे ऐतिहासिक व्यक्ति ही नहीं मानते हैं। श्रीमद्भागवत् का भक्ति–सम्बन्धी आख्यान विशुद्ध प्रतीकात्मक ही है। सूफी कवियों ने अपनी भित्ति प्रतीकों के ही आधार पर खड़ी की है।

"प्रतीक ही सूफी साहित्य के राजा हैं। उनकी अनुमति के बिना सूफियों के क्षेत्र में पदार्पण करना एक सामान्य अपराध है। प्रतीकों के महत्व को समझ लेने पर तसव्वुफ एक सरल चीज हो जाती है।"[2]

"पाश्चात्य साहित्य में भी प्रतीक का महत्वपूर्ण स्थान है। फ्रांस और बेल्जियम में तो उन्नीसवीं शताब्दी में यथार्थवाद के प्रति विद्रोहात्मक भावनाओं का प्रचार हुआ और प्रतीक–विधान को साहित्य एवं संगीत में विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ।"[3]

"सन् १८८६ में 'फिगारों' नामक पत्र में प्रतीकवाद एक सम्प्रदाय विशेष के रूप में स्वीकृत हुआ। इस सम्प्रदाय के लेखक प्रतीकों द्वारा अपनी विभिन्न मानसिक स्थितियों

---

१. हिन्दी साहित्य कोश भाग – १, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान सम्पादक), पृ०सं० ५१६

२. तसव्वुफ अथवा सूफीमत, चन्द्रबली पाण्डेय, पृ०सं० १९७

३. A dictionary of english literature by Watt, Page no. 326

को व्यक्त किया करते थे। उस समय प्रतीकवाद का आन्दोलन चित्रकला और संगीत में प्रभाववाद के साथ–साथ और उपचेतन के दर्शन के साथ–साथ उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग के आदर्शवाद से मिलकर उस स्वैरवाद (romanticism) की एक शाखा बन गया जिसके साथ वह निर्बाध रूप से सम्बद्ध है।"[1]

आगे चलकर प्रतीकवादी दो दलों में विभक्त हो गए। एक ने बर्ले का अनुगमन किया और दूसरे में मलार्मे का। बर्ले के अनुयायियों में प्रतीक विधान में दूसरे दल की अपेक्षा सरलता एवं स्पष्टता का विचार अधिक किया गया है।

भारतीय सन्त कवियों ने भी प्रतीक–स्थापन की प्रवृत्ति दिखलाई है। कबीर के साहित्य में अनेक स्थलों पर प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति हुई है। तुलसी भी अपनी भावना को व्यक्त करने के लिये जहाँ–तहाँ प्रतीकों का सहारा लेते हैं। चातक की प्रेम–साधना पर लिखे गये उनके समस्त दोहे प्रतीक पद्धति पर हैं। इनमें घन के प्रति चातक के प्रेम की अनन्यता प्रभु के प्रति भक्त हृदय की तल्लीनता का प्रतीक होकर उपस्थित हुई है।

रीतिकालीन कवियों ने भी जहाँ–तहाँ प्रतीक–विधान के द्वारा काव्य–सौन्दर्य–वृद्धि में सफलता पाई है। आगे चलकर मानसिक दासता के द्वारा इस क्षेत्र में भी क्लिष्ट कल्पना का सहारा लेकर प्रतीकों की इतनी बाढ़ आ गई कि बुद्धि ग्राह्यता बहकर अज्ञेयता के सागर में डूब गई। ऐसे कवि भी दिखाई दिये जो अपनी रचना को आप ही नहीं समझ पाते। फिर दूसरों की क्या कही जाय। कुशल यही हुई यह नदी यौवन की भाँति जल्दी ही उतर गई।

प्रतीकों के वर्गीकरण :

प्रतीकों का वर्गीकरण अनेक आधारों पर किया जाता रहा है। अर्बन ने प्रतीकों के तीन व्यापक वर्ग निर्धारित किये हैं –

---

१. समीक्षाशास्त्र, पं० सीता राम चतुर्वेदी, पृ०सं० १२७३

१. बाह्यात्मक या सिद्ध (सक्स्ट्रिन्जिक ऑर आबिट्रेरी),

२. आन्तरिक या वर्णनात्मक (इन्ट्रिन्जिक और डेस्क्रिप्टिव), तथा

३. अन्तर्वृष्टि मूलक अथवा अन्तः प्रज्ञामूलक प्रतीक (इन्साइट सिम्बल)।[1]

आचार्य शुक्ल के विचार से – "प्रतीक का आधार सादृश्य या साधर्म्य नहीं, बल्कि भावना जाग्रत करने की निहित शक्ति है। पर अलंकार में उपमान का आधार सादृश्य या साधर्म्य ही माना जाता है। अतः सब उपमान प्रतीक नहीं होते, पर जो प्रतीक होते हैं, वे काव्य की बहुत अच्छी सिद्धि करते हैं।"[2]

रामचन्द्र शुक्ल ने भी प्रतीकों के दो वर्ग बनाये हैं – "प्रतीक दो प्रकार के होते हैं। कुछ तो मनोविकारों या भावों को जगाते हैं, और कुछ भावनाओं या विचारों को। भावना या कल्पना जगाने वाले प्रतीकों के साथ–भाव या मनोविकार भी प्रायः लगे रहते हैं।"[3]

सी० एम० बावरा ने आकृति की दृष्टि से प्रतीकों के तीन वर्ग बनाये हैं –

१. शब्द प्रतीक,

२. वाक्य प्रतीक, तथा

३. प्रबन्ध प्रतीक।"[4]

प्रतीक और अलंकार :

अलंकर योजना को अप्रस्तुत विधान भी कहा जाता है, क्योंकि इनके द्वारा अप्रस्तुत अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, जिससे प्रस्तुत अर्थ बहुत ही चमत्कार पूर्ण एवं प्रभावशाली बन जाता है। यथा –

"सिय मुख ससि भए नयन चकोर।"

---

१. Language and Reality, W.M.Urban, Page no. 414
२. चिन्तामणि, भाग – २, रामचन्द्र, पृ०सं० १२१
३. चिन्तामणि, भाग – २, रामचन्द्र शुक्ल, पृ०सं० ११६
४. Heritage of Symolism, C.M. Bowra, Page no. 98

यहाँ पर सीता जी के मुख और नेत्रों का सौन्दर्य व्यक्त करने के लिये 'शशि' और 'चकोर' अप्रस्तुतों का प्रयोग किया गया है। इस अप्रस्तुत योजना के कारण यहाँ भावाभिव्यक्ति बहुत सूक्ष्म बन गयी है, इसी प्रकार –

"सोहत ओढ़े पीत पट, स्याम सलोने गात।
मनो नीलमणि सैल पर आतप पर्यौ प्रभात।।"

इस दोहे में कृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। वे नील वर्ण के हैं और पीला वस्त्र ओढ़े हुए हैं। इस दशा में लगते हैं मानों नीलमणि पर्वत पर प्रातः कालीन सूर्य की पीली किरणें पड़ रही हैं। यहाँ उत्प्रेक्षालंकार के द्वारा प्रस्तुत अर्थ अत्यधिक भावपूर्ण बन गया है। कहने का अर्थ यह है कि अप्रस्तुत उपमानों के द्वारा प्रस्तुत अर्थ को अधिक महत्वपूर्ण बनाने के लिये काव्य में अलंकारों का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार 'प्रतीक' का प्रयोग भी अप्रस्तुत को अधिक भाव–व्यंजक एवं स्पष्ट करने के लिये किया जाता है। हम जिस वातावरण एवं परिवेश में रहते हैं, उसकी वस्तुओं के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यह रागात्मक सम्बन्ध इतना प्रबल बन जाता है कि उसकी वस्तुओं के प्रति हमारे मन में जो संस्कार बन जाते हैं, वे संस्कार उन वस्तुओं का प्रतीक रूप में प्रयोग होने पर तुरन्त जग जाते हैं। इस प्रकार प्रतीकों के द्वारा अर्थ की प्रतीति हो जाती है जो संस्कार रूप से हनारे मन में विद्यमान रहता है। पर प्रतीकों और उपमानों में अन्तर होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनका अन्तर इन शब्दों व्यक्त किया है – "प्रतीक का आधार सादृश्य या साधर्म्य नहीं, बल्कि भावना जाग्रत करने की निहित शक्ति है। पर अलंकार से उपमान का आधार सादृश्य या साधर्म्य माना जाता है। अतः सब उपमान प्रतीक नहीं होते पर, जो प्रतीक होते हैं वे काव्य की बहुत अच्छी सिद्धि करते हैं। हंस, चातक, दीपक, पतंग, मेघ, सागर, शशि, चकोर, कली, शूल, भ्रमर आदि इसी प्रकार के प्रतीक हैं।"

उपमा में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों किसी न किसी रूप में रहते हैं, यहाँ तक कि लुप्तोपमा में भी वे लुप्त से विद्यमान होते हैं। इनमें सादृश्य या साधर्म्य भाव भी रहता है, किन्तु प्रतीक से इनका अन्तर यह है कि प्रतीक प्रस्तुत रूप में ही अप्रस्तुत का

बोध करता है। निम्नलिखित उदाहरणों में उपमा और प्रतीक दोनों का अन्तर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है –

"लिपटे सोते थे मन में सुख दुख दोनों ऐसे।
चन्द्रिका–अंधेरी मिलती मालती कुंज में जैसे।।"

इन पंक्तियों में सुख की चन्द्रिका से और दुःख की अंधेरी में समता वर्णित की गयी है। ये उपमान सुख और दुःख की भावनाओं को सुस्पष्ट तथा अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये प्रयुक्त किये गये हैं। अतः यहाँ पर उपमान ही है, प्रतीक नहीं –

"बीत रहे पल–पल जीवन के, कभी अंधेरी कभी उजाली।
प्रात और संध्या की लाली, रेंगते सूने पल जीवन के।।"

इन पंक्तियो में अँधेरी और उजाली का प्रयोग प्रतीक के रूप में ही हुआ है, क्योंकि इनके साधर्म्य या सादृश्य धर्म से सम्बन्धित किसी उपमेय का यहाँ उल्लेख नहीं हुआ है।

इस प्रकार स्पष्ट विवेचन से यह ज्ञात होता है कि प्रतीक और अलंकार दोनों में अन्तर है, पर कहीं–कहीं इनमें इतना साम्य हो जाता है कि इनके भेदीकरण में भ्रान्ति हो जाती है और भेदीकरण की यह भ्राँति अलंकार का महत्व तो निश्चय ही बढ़ाती है, काव्य–सौन्दर्य एवं सम्प्रेषण को भी सबलता प्रदान करती है।

प्रतीक की महत्ता :

प्रतीक के विशाल एवं व्यापक क्षेत्र को देखकर यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं होता कि इसकी महत्ता भी उतनी ही व्यापक है। यदि ध्यान पूर्वक देखा जाए तो यह सहज ही विदित हो जाता है कि प्रतीकों का प्रसार भाषा, साहित्य, कला, धर्म, दर्शन और जहाँ तक कि मानव के नित्य प्रति के जीवन की गतिविधियाँ पहुँच सकती हैं, वहाँ तक है। यदि भाषा की उत्पत्ति का इतिहास देखा जाए तो बोध होता है कि भाषा का आदि रूप प्रतीकमय था। उस समय मनुष्य प्रतीकों के माध्यम से ही अपने भावों को

व्यक्त किया करते थे। आध्यात्मिक एवं साहित्य क्षेत्रों में तो प्रतीकों का महत्व स्पष्ट ही है। आध्यात्मिकता के विवेचकों ने अव्यक्त एवं परम रहस्यमय अगोचर ब्रह्म को तथा उसके साथ तदाकार के चरम आनन्दातिरेक को प्रतीकों के द्वारा ही व्यक्त किया है। रहस्यमयी भावनाओं का आधिक्य होने के कारण ही छायावादी काव्यों में प्रतीकों की प्रधानता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में – "जब साधक के हृदय–देश में ईश्वर की भेजी हुई ज्योति की किरण झलक की तरह अथवा उसके द्वारा प्रकाशित ज्ञान को दूसरों तक पहुँचाने के योग्य बनाने के लिये, उस प्रेषित ज्ञान या तथ्य को व्यंजित करने के उपयुक्त पार्थिव का कुछ अनूठा रूप विधान रूपक सामने आ जाता है। सूफियों में इसी परम्परा का निर्वाह शराब, प्याले आदि के रूपकों में मिलता है जो एक प्रकार के प्रतीक से हो गये है। निर्गुण पंथ की ध्वनियों में विशेषतः कबीरदास की बानी में जो वेदान्त आदि बातों को लेकर पहेली के ढंग के रूपक बाँधने की प्रवृत्ति पायी जाती है वह भी इसी रूढ़ि का निर्वाह है।"

काव्य में प्रतीकों का प्रयोग केवल दो कारणों से किया जाता है। भावाभिव्यक्ति को सबल बनाने के लिये और सौन्दर्य विधान के लिये। काव्य की भाषा साधारण भाषा से भिन्न होती है। काव्य में साधारण बात को भी कवि को इस प्रकार कहना पड़ता है कि वह हृदय संवेद्य हो सके और पाठक या श्रोता के मन को गुदगुदा सके। कवि की भाषा को यह शक्ति प्रतीकों से प्राप्त होती है।

"बाल रजनी सी अलक थी डोलती,
भ्रमित हो शशि के वदन के बीच में।"

यहाँ पर बाला के मुख के लिये – 'शशि' प्रतीक का प्रयोग हुआ है। शशि का सौन्दर्य तो अपूर्व होता ही है, साथ ही उसमें शीतलत्व, आह्लादकत्व आदि के गुण भी होते हैं। कवि ने इस प्रतीक के द्वारा उस बाला के इतने गुणों को व्यक्त किया है जिसके कारण भावों में बहुत अधिक प्रभावशीलता आ गयी है।

चाहे अपने प्रसंग के अनुसार प्रतीकों में पार्थक्य हो परन्तु उसके अर्थ सदैव स्पष्ट

रहते हैं। प्रतीकों के प्रयोग से किसी भाव को स्पष्ट करने के लिये अधिक शब्दों की आवश्यकता नहीं होती। प्रतीक विचारों को मूर्त रूप प्रदान करते हैं, अन्यथा ये विचार व्यक्त हुए बिना रह जाते हैं। आदि से ही प्रतीक साहित्य का महत्वपूर्ण अंग रहा है। भाषा वैज्ञानिकों का यह मत है कि भाषा की उत्पत्ति के प्रारम्भिक युग से लोग अपने भावों को व्यक्त करते रहे हैं।

प्रतीक – रचना, प्रेरणा और प्रक्रिया :

प्रतीक एक कठिन मानसिक प्रक्रिया है इसलिये इसकी निर्माण की क्रिया को स्पष्ट करना सरल नहीं प्रतीत होता है। दूसरी तरफ प्रतीक निर्माण की जीवन परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है, इसलिये 'प्रतीक क्यों और कैसे' का उत्तर भी प्रामाणिक रूप में देना असंभव है। यद्यपि इस विषय पर मनोवैज्ञानिक, भाषिक, साहित्यिक, दार्शनिक इत्यादि दृष्टिकोणों से विचार हुआ है।

प्रतीक के बारे में 'क्यों और कैसे' पर सबसे अधिक विचार मनोवैज्ञानिक पहलू से किया गया है। मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में प्रतीक सृजन एक प्रत्यावर्तन परम्परा है। जुंग के कथन के अनुसार – "मानसिक शक्ति सदैव एक से दूसरे मार्ग की ओर प्रवाहित होती रहती है। जिस दिशा में अधिक प्रवाह होता है वह आचरण का निर्धारक है। इसी पर प्रतीक का अर्थ भी निर्भर है जिसका (प्रतीक का) प्रयोग मानव सदैव अचेतन रूप में अपने अभ्यान्तरिक जीवन के नाटक को व्यक्त करने में करता है।"[१]

यह तो प्रतीक क्रिया का व्यक्तिगत पक्ष है। द्वितीय पक्ष है समष्टिगत जिसे जुंग महोदय ने 'सामूहिक अज्ञात मन' की संज्ञा प्रदान की है। "इस अज्ञात मन में नाना प्रकार की भाव–प्रतिभाएं समाहित हैं जिनकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति होती रहती है। विविध प्रतीक मनुष्य के विचारों, मनोभावों तथा आदिम संस्कारों के अनुकूल होते हैं।"[२]

---

१. Contributions to Analytical Psychology, C.G.Jung (Published by London, Routledge & Kegan Paul Ltd.), Page no. 112

२. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, डॉ० सावित्री सिन्हा, पृ०सं० ३४८

जोन्स महोदय ने प्रतीक–निर्माण–प्रक्रिया के तीन उपादान स्वीकार किये हैं – अज्ञात भाव–ग्रन्थि, अवरोधक शक्ति एवं अवरोध से वृत्तियों का उदात्तीकरण। इनके कथनानुसार "मनुष्य की जो इच्छायें सामाजिक प्रतिबन्धों या अभावों के कारण नहीं पूर्ण हो पाती हैं, उनको हृदय रूप में उदात्त बनाकर प्रस्तुत करने का प्रयत्न मानव करता है और इसके लिये उसके पास सबसे सशक्त साधन प्रतीक ही है। अतः प्रतीक निर्माण की क्रिया में इच्छाओं के दमन का बहुत बड़ा हाथ होता है।"[१]

मनोविज्ञान प्रतीक सृजन की प्रक्रिया के एक और पक्ष को उद्घाटित करता है। मनुष्य का सहज स्वभाव होता है कि वह (१) सुख की इच्छा तथा दुःख से छुटकारा पाने की भावना से परिचालित रहता है, तो (२) अपनी आकांक्षाओं के साथ वास्तविक जीवन का तादात्म्य स्थापित करने का प्रयास करता रहता है। इस प्रयास में उसके अन्तःकरण में दो परस्पर विरोधी प्रक्रियाओं में हमेशा संघर्ष हुआ करता है। इसके फलस्वरूप वह स्व मन की भावनाओं एवं विचारणाओं को प्रतीक के माध्यम से प्रकट करने का प्रयास करता है। अतः प्रतीक रचना की प्रकिया में इस दमन संघर्ष तथा संतुलन स्थापना का महत्वपूर्ण योग है।

लैंजर और व्हाइट हेड ने प्रतीक सृजन पर दार्शनिक दृष्टि से विचार–विमर्श किया है। व्हाइट हेड ने प्रतीक संदर्भ को प्रतीक–निर्माण प्रक्रिया में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। इनके कथनानुसार प्रतीक निर्माणकर्ता की मनोदशा, अनुभूति तथा परिस्थिति का महत्वपूर्ण स्थान है।[२]

लैंजर ने प्रतीक सृष्टि के चार पक्ष माने हैं, (१) आश्रय, (२) आलम्बन, (३) वस्तु तथा (४) धारणा। इनमें वस्तु तथा धारणा प्रतीक के तात्विक उपादान हैं तथा धारणा का महत्व सबसे अधिक है।[३]

---

१. साहित्य चिन्तन की नई दिशायें, डॉ0 लक्ष्मीकान्त पाण्डेय, पृ0सं0 ६४
२. साहित्य चिन्तन की नई दिशायें, डॉ0 लक्ष्मीकान्त पाण्डेय, पृ0सं0 ६५
३. साहित्य चिन्तन की नई दिशायें, डॉ0 लक्ष्मीकान्त पाण्डेय, पृ0सं0 ६५

प्रतीक सृजन की साहित्यिक धारणा का एक किनारा संस्कार से तथा दूसरा रहस्यवादी दर्शनवादी दर्शन से जकड़ा हुआ है। प्रतीक रूप ग्रहीत वस्तुओं अथवा शब्दों में अर्थ व्यंजना की यह अमित शक्ति कैसे आती है इस पर विचार प्रकट करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं – प्रतीक के रूप में गृहीत वस्तुओं में भावों के उद्‌बोधन की शक्ति कैसे इकट्‌ठी हुई इसका वैज्ञानिक उत्तर यही होगा कि कुछ तो इन वस्तुओं के स्वरूपगत आकर्षण से कुछ चिर परिचित आरोप के बल से और कुछ वंशानुगत वासना की दीर्घ परम्परा के अभाव से। डॉ० लक्ष्मी नारायण सुधांशु ने "दीर्घ सांस्कृतिक वासना" के प्रभाव से प्रतीकों की रचना मानी है। यह धारणा मनोविज्ञान से भी सम्बन्धित है। जुंग महोदय ने भी सामूहिक अज्ञात मन पर ऐसी ही दीर्घ सांस्कृतिक वासना के प्रभाव से प्रतीकों की रचना मानी है।[१] रहस्यवादी दार्शनिक दृष्टिकोण वाले चिन्तकों की अवधारणा है कि प्रतीक–सृजन के लिये रहस्य की अनुभूति से अनुप्राणित आत्मविस्मृति की दशा आवश्यक है। ऐसी विशिष्ट मनः दशा में सचेत प्रतीक स्वाभाविक और जीवन्त हुआ करते हैं। कालरिज की कविता कुबला खाँ तथा पीट्स की स्वतः लेखन वाली कविताओं में प्रतीकों की अवतारणा ऐसी ही अवस्था में मानी गयी है।

प्रतीक सृजन की क्रिया का विश्लेषण बिम्ब पर विचार करने वालों ने भी किया है। इनके अनुसार बिम्ब तीन प्रकार से हुआ करते हैं –

१. प्राथमिक – जो वस्तुजगत के आधार पर निर्मित हुआ करते हैं।

२. माध्यमिक – जिनमें वस्तुजगत तथा कल्पना का योग होता है।

३. तृतीयक – वे बिम्ब जो पूर्ववती बिम्बों से प्रादुर्भूत तो होते हैं, परन्तु उनमें विश्व के गूढ़तम तत्वों में समाहित मूल भावना का समावेश होता है और उन्हें हम विश्व की किसी वास्तविक वस्तु में स्वीकृत नहीं कर पाते हैं, ऐसे बिम्ब ही प्रतीक हैं।

डॉ० कुमार विमल ने प्रतीक–विवेचन के सन्दर्भ में प्रतीक को जाति अथवा प्रकार का निश्चय कर लेने पर जोर दिया है। उनके अनुसार कलात्मक प्रतीकों का सृजन

---

१. Contributions to Analytical Psychology, C.G.Jung (Published by London, Routledge & Kegan Paul Ltd.), Page no. 110

सामान्य लोगों द्वारा नहीं कलाकारों के माध्यम से होता है। वह अपनी अनुभूति के अकथनीय अंश को प्रतीक द्वारा कथनीय तथा प्रेषणीय बनाता है। अतः प्रतीक रचना की प्रक्रिया को प्रतीक–प्रकार प्रभावित करते हैं।[1] दूसरे शब्दों में मनोविज्ञान की दृष्टि से मान्य प्रतीक की रचना प्रक्रिया दर्शन अथवा धर्म या काव्य के प्रतीकों के विषय में लागू नहीं होती है। अतः उनकी रचना प्रक्रिया को विषय के सन्दर्भ में समझा जाता है।

प्रतीक–निर्माण के सम्बंध में एक बात और चिन्तनीय है कि प्रतीकों कि सृष्टि सुविचारित अथवा सोद्देश्य नहीं होती है। अर्थात् सचेष्ट प्रतीकों की सृष्टि सम्भव नहीं है।

आचार्य सोम के काव्य में प्रतीक योजना :

भावाभिव्यक्ति को प्रभावी बनाने तथा काव्य में सौन्दर्य विधान हेतु कवियों ने काव्य में प्रतीकों का प्रयोग किया है। वेद भारतीय चिन्तनधारा के आदि स्रोत हैं। अथर्ववेद में एक वृक्ष पर साथ–साथ रहने वाले दो पक्षियों का वर्णन प्रतीकात्मक है –

'द्वासुपर्णा सयुजा सखाया,
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिपपलं स्वाद्वत्य,
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।'[2]

बौद्ध साहित्य में मन विशेष के सिद्धान्तों को प्रकट करने के लिये प्रतीकों का आश्रय ग्रहण किया गया। सिद्ध साहित्य में प्रतीक का प्रयोग बहुलता से हुआ है। एक उदाहरण में काया को तरुदर कह कर पाँच डालों का उल्लेख भी साम्यमूलक प्रतीक योजना के अन्तर्गत है –

'काआ तरुवर पंच विडाल'[3]

---

१. छायावाद का सौन्दर्य शास्त्रीय अध्ययन, कुमार विमल, पृ०सं० २६२
२. अथर्ववेद, ६ – ६ – २०
३. हिन्दी काव्यधारा – लुईया, राहुल सांकृत्यायन, पृ०सं० १३६

कबीरदास जी ने भी प्रतीक का प्रयोग किया है –

'दुलहिनी गावहु मंगलचार।
हम धरि आए राजा राम भरतार।।'[१]

छायावादी कवियों ने भी प्रतीकों का प्रयोग सौन्दर्य विधान एवं भावोत्कर्ष दोनों ही दृष्टियों से किया है। उन्होंने चन्द्र, कमल, खंजन, मीन तथा चकोर आदि रूढ़ उपमानों के स्थान पर अभिनव प्रतीकों को प्रतिष्ठित किया। छायावादी कवियों के प्रतीक मूलतः कलात्मक हैं। जहाँ तक आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम' का प्रश्न है, उन्होंने अपनी कविता में परम्परित प्रतीकों का ही प्रयोग किया है जिसके उदाहरण निम्नांकित रूप में प्रस्तुत किये जा रहे हैं –

(१) विरहिणी (आत्मा)

यह विकल विरहिणी वर्षों, वर–वंचित रही,
पर मंजु मिलन की टेक सदा संचित रही।

(विरहिणी – पृ०सं० ५३)

(२) प्रिय (परमात्मा)

पावे प्रिय प्रेम–प्रसाद बने संयोगिनी

(विरहिणी – पृ०सं० ५३)

(३) बसन्त (उल्लास) दिव्य ज्योति

'आज भू पर बसन्त की प्रभा, छिपा है मेरा कहाँ बसन्त ?
प्रकट हो कर देता है क्यों न आज ही सभी दुखों का अन्त।'[२]

x x x x

'यह बसंत में खिली उत्तरायण की क्यारी'[३]

---

१. कबीर
२. विरहिणी, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ५५
३. तदैव

नीचे की पंक्ति में बसन्त उल्लास का प्रतीक है जबकि प्रथम उदाहरण में 'बसन्त' इस दिव्य ज्योति का प्रतीक है।

(४) उत्तरायण (उमंग, आशा)

'यह बसन्त में खिली उत्तरायण की क्यारी'[१]

(५) दक्षिणायन (नैराश्य)

'बीत गई बलि वलित दक्षिणायन की बारी'[२]

(६) अमराई (यौवन) (साधना की परिपूर्णता)

'मेरी अमराई में री सखि! मेरी अमराई में,
कूज रही क्यों आज कोकिला स्वर की शहनाई में'[३]

(७) कोकिला – उल्लास (आत्मा का उल्लसित भाव)

'कूंज रही क्यों आज कोकिला स्वर की शहनाई में'[४]

(८) पुरवाई – (स्मृति जन्य टीस) (विरहिणी के पक्ष में)

'उखड़ी सांस समीरण का जब! फूल–फूल व्रण–अरुण रक्तस्रव
यहाँ क्या प्रिय ? सब कुछ अप्रिय, प्रिय की पुरवाई में।'[५]

(९) मरण – (चेतना का ऊर्ध्वीकरण)

'मरण में आवेगा कब अमृत ? अयोध्या होगी पूर्ण प्रकाम'

---

१. विरहिणी, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ0सं0 ५५
२. तदैव
३. तदैव, पृ0सं0 ७०
४. तदैव
५. तदैव

(१०) सीता – (आत्मा)

'विवश आत्मा–सीता के हाथ, विवश है हृदय बुद्धि आक्रान्त'

(११) अयोध्या – (शरीर)

'मरण में आवेगा कब अमृत ? अयोध्या होगी पूर्ण प्रकाम।'[1]

(१२) रावण – (अमानवीयता एवं असत का प्रतीक)

'पराजित होगा रावण पतन, उन्नयन–राम जय श्री युक्त'[2]

(१३) अंगार – (कसक, पीड़ा)

'मेरा भी उर अंगार – भरा धधक रहा तुष पावक सा,
चुगता है मेरा स्नेह भाव जिनको चकोर के शावक सा।'[3]

(१४) बेड़ा – (शरीर)

भँवर – (मायाजाल)

'मेरा बेड़ा डूबा शतवार भँवर में,
शतवार पराजय मिली मुझे संगर में'[4]

(१५) हृदय–गुहा – (साधना स्थली)

'वे छोड़ सभी कुछ जब आत्मस्थ हुए थे।
निज हृदय गुहा में जाकर स्वस्थ हुए थे।।
पर घिरे हुए हम तो प्रपंच पाशों से।
कर रहा दग्ध संसार उष्ण सांसों से।।'[5]

---

१. विरहिणी, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ0सं0 ६५
२. तदैव
३. विरहिणी, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ0सं0 ६७
४. विरहिणी, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ0सं0 ६८
५. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ0सं0 ६०

(१६) कवच (शरण)

'तुम्हारे अक्षय कवच मिले,

अब न रही रक्षा की चिन्ता, जीवन ज्योति खिले।'[१]

(१७) प्राण धन – (परमात्मा)

'सुमन बन प्रिय–दूत आये,

प्राणधन के पास रहकर परम प्रिय सन्देश लाये।'[२]

(१८) संध्या – (निराशा, अवसाद)

'यह नीरव संध्या, श्याम याम,

इसके पीछे आती कोई काली–काली विकलांग बाम'[३]

(१९) विप्लव – (क्रान्ति)

'विप्लव! जीवन के संरक्षक, पाप शाय कहलाए हो,

भूखी प्यासी मानवता को वरद–हस्त बन आए हो

x x x

विप्लव! तेरी विकल वह्नि में जल चमके कुन्दन से,

आहत, त्रसित, पीड़ित छूटे फौलादी बन्धन से।।'[४]

(२०) सूर्य – (ज्ञान)

'कब सूर्य उदय होगा इस शून्य गगन में,

कब विकसित होंगे सुमन म्लान उपवन में।[५]

---

१. विरहिणी, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १५४
२. तदैव, पृ०सं० ७८
३. तदैव, पृ०सं० ८२
४. सोमसुधा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ४५
५. विरहिणी, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ७१

(२१) मधु – (अमृत, आनन्दानुभूति)

'झर रहा है कैसा मधु–उत्स पिया था कभी खेचरी बीच।

सहस्रों धाराओं से सोम रहा है रोम–रोम को खींच।'[१]

(२२) हवि – (वासनाओं की बलि, आध्यात्मिक परिपूर्णता)

'सखि कह दे प्रिय आते हैं।

मेरी हवि स्वीकार हो गई, अब वे अंक लगाते हैं।'[२]

इस प्रकार आचार्य सोम ने मुख्य रूप से रहस्यवादी एवं प्राकृतिक प्रतीकों का प्रयोग अधिक किया है। इसका मूल कारण कवि की वैदिक दृष्टि है। कहीं–कहीं जीवन से सम्बद्ध प्रतीक भी काव्य में प्रयुक्त हुए हैं।

बिम्ब विधान :

बिम्ब की अवधारणा

पाश्चात्य काव्य शास्त्र के इतिहास में प्रतीकवादी सिद्धान्त के प्रचार के पश्चात् ही, बिम्ब विधान की धारणा का श्रीगणेश हुआ है और प्रतीक विधान के सिद्धान्त की जन्म भूमि फ्रान्स ही बिम्बवादी सिद्धान्त की भी भूमि रही है। किन्तु, काव्य बिम्ब सम्बन्धी विचारधारा का पल्लवन–पुष्पन इंग्लैण्ड और अमेरिका की विचार–भूमि में विशेष रूप से सन् १६०६–१७ ई० तक के अन्तराल में हुआ है। सन् १६१५ ई० में प्रो० अमीला वैल ने प्रसिद्ध कवि आलोचक एजरा–पाउण्ड (सन् १८८५–१६७३ ई०) को बिम्बः विधायक सिद्धान्त का प्रतिनिधि व्याख्याता मानकर, "Some Imagist Poets" शीर्षक से एक पुस्तक का सम्पादन किया था।

बिम्ब अंग्रेजी के Image शब्द का हिन्दी रूपान्तर है, जिसका अर्थ है किसी पदार्थ को मूर्त रूप प्रदान करना, चित्रबद्ध करना, प्रतिच्छादित करना, मानसी प्रतिकृति उतारना

---

१. विरहिणी, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १५५

२. विरहिणी, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ७६

अथवा प्रतिबिम्बित करना। "बिम्ब एक प्रकार का शब्द चित्र होता है पर उसमें रंग और रेखाओं के अतिरिक्त भाव का रहना भी आवश्यक है। अतः हम उसे भावगर्भित शब्द चित्र कह सकते हैं। वह केवल हमारी चक्षु–इन्द्रिय को ही तृप्ति प्रदान नहीं करता, बल्कि अन्य इन्द्रियों की भी भूख मिटाता है और साथ ही पाठक के मन में भाव जगाता है। बिम्ब, भले ही वह कितना ही सुन्दर क्यों न हो, जब तक भावोद्रेक करने में अक्षम है, सफल नहीं कहा जा सकता है, भाव जगाना उसकी अनिवार्य प्रक्रिया एवं आवश्यकता है।"[१]

काव्य बिम्ब (Poetic Image) राग तत्व के कारण ही तो सामान्य बिम्ब से भिन्न होता है। इसी पर बल देते हुए डॉ० नगेन्द्र लिखते हैं – "काव्य बिम्ब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस–छवि है, जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है।"

कॉलेरिज ने इसी बात पर बल देते हुए कहा था –

"Images however beautiful, do not of themselves characterize the poet. They become proofs of original genius only as far as they are modified by predominant passion, or by associated thoughts or images & awakened by that passion."[२]

सारांश यह है कि बिम्ब एक प्रकार का शब्द निर्मित ऐन्द्रिय चित्र है जो प्रायः विशेषण रूपक, उपमा आदि पर आधारित होता है तथा जो कवि के तीव्र भावावेग को पाठक तक सम्प्रेषित करता है। (Image) बिम्ब शब्द का प्रयोग पश्चिम में मुख्यतः तीन संदर्भों में हुआ है, मनोवैज्ञानिक, सौन्दर्य शास्त्रीय तथा कलात्मक सन्दर्भों में। मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ में बिम्ब ऐन्द्रिय बोध से सम्बद्ध होता है। अतः हम कह सकते हैं कि बिम्ब वह मानस–चित्र है जो किसी दूसरी वस्तु, घटना, व्यक्ति या स्मृति के सादृश्य को लेकर

---

1. The Poetic Image, C. Day Lewis, Page no. 18
2. The Poetic Image, C. Day Lewis, Page no. 19

मानस पटल पर संद्यायित होता है। इसमें अनेक अंशवृत्त अथवा त्रिज्याएं एक वृत्त पर आकर रूपायित हो उठती हैं। इस बात को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि मानस बिम्ब एक प्रकार से बाह्य 'वस्तु' (object) का प्रतिबिम्ब है। इस अमूर्त बिम्ब का आधार लेकर, कलात्मक अनुभव के सानिध्य या संस्पर्श से रूपक, उपमा आदि की सहायता से, शब्द को पुनः अर्थ गर्भित करना, उसे संवेदन से जोड़ना, 'बिम्ब का विधान' करना है। यही काव्य–बिम्ब–विधान की क्रमिक प्रक्रिया है।"[१]

स्मृति और कल्पना दोनों के संयोजन से बिम्बोत्पादन की प्रक्रिया चलती है। यह एक वास्तविकता और अनुभूत सत्य है कि स्मृतियाँ ही व्यक्ति के मन मस्तिष्क में अनेक प्रकार के प्रकृत बिम्बों की अमूर्त योजना करती रहती हैं, जिनकी मूर्त योजना काव्यादि में हुआ करती है। अतः मनो–विश्लेषण शास्त्र की दृष्टि से बिम्ब स्मृति और कल्पना की सम्मिलित सृष्टि है।

बिम्ब निर्माण में पहली स्थिति है कवि और वर्ण्य वस्तु का तदाकार हो जाना।

"The identification of the poet with objects which appeal to his senses is the initial step in Image - Making."[2]

इस तादात्म्य के लिये कवि में भावोद्रेक की स्थिति एवं कल्पना शक्ति आवश्यक है। यही कारण है कि वर्तमान आलोचकों ने विषय वस्तु के लिये गरिमा मण्डित या उदात्त होना आवश्यक नहीं माना है और किसी भी पदार्थ को मूलतः काव्य के लिये अक्षम नहीं स्वीकार किया है। यदि कोई विषय या पदार्थ कवि की कल्पना का उन्मेष कर सकता है तथा उस कल्पना के उन्मेष से कवि के बिम्ब का निर्माण कर सकता है तो

---

१. बिम्बों की ऐन्द्रिय विशेषताओं को सदा से बहुत महत्व दिया जाता रहा है। बिम्ब अपनी स्पष्टता के कारण उतने प्रभावशाली नहीं होते जितने कि किसी मानसिक घटना से और विशेषतः संवेदन से जुड़े होने की प्रकृति के कारण। ये प्रभावशाली तभी होते हैं जबकि ये संवेदन के अवशेष या प्रतिकृति होते हैं।' –
साहित्य–सिद्धांत (हिन्दी), रेनेवेलेक, आस्टिन वारेन, पृ०सं० २४४

२. The Poetic Image, C. Day Lewis, Page no. 67

वह विषय काव्य का विषय होने की क्षमता रखता है। भले ही वह साधारण नगण्य और तिरस्कृत पदार्थ हो, जैसे कुकुरमुत्ता या धैर्य, धन, गधा।

बिम्ब का अलंकरण :

सोलहवीं से लेकर अठारहवीं सदी के समीक्षक बिम्ब विधान को, रूपक के रूप में, अलंकार ही मानते थे। किन्तु स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन के पश्चात कविता को बिम्ब के वैविध्य के रूप में स्वीकार किया जाने लगा था। यहाँ तक कि सम्पूर्ण कविता ही एक बिम्ब के रूप में स्वीकृत होने लगी। काव्य बिम्ब शब्दों से निर्मित एक चित्र के रूप में अपनाया गया। इस काव्य–बिम्ब की सफलता में विशेषण, उपमा और रूपकादि का विशेष हाथ रहता है। मुहावरा, लोकोक्ति अथवा विवरण विशेष के द्वारा भी काव्य–बिम्ब अपना सम्प्रेषण कर सकता है। काव्य–बिम्ब में बाह्य विषय की ज्यों की त्यों प्रतिकृति नहीं होती; वरन् सृष्टि के रूप में कवि प्रतिकृति में कल्पना या प्रतिभा से रंग भरता है। इसलिये काव्य–बिम्ब 'विषय' का दर्पण मात्र ही है, जिसमें विषय या जीवन की व्यापकता का प्रतिबिम्ब तो दिखाई नहीं देता, विषय की मुखाकृति के सत्य का ही आभास मिलता है।[1] काव्य में श्रव्य–दृश्य (स्पर्श्य, घ्रातव्य, आस्वाद्य) में बिम्ब भी रहता है, किन्तु मुख्य रूप से श्रव्य और दृश्य बिम्बों का विधान ही अधिक और सक्षम होता है। बिम्बों के सहयोग और सहचर से अनेक बिम्ब मुखर होते रहते हैं। इन्द्रियगोचरता ही बिम्बों का माध्यम है। शब्द चित्र भी इन्द्रियगोचर होते हैं। किन्तु ध्वन्यात्मकता और ऐन्द्रिय सन्निकर्ष के विवरण मात्र रहते हैं, जबकि बिम्ब का सन्दर्भ वातावरण संप्रेषित रहता है। बिम्ब का वस्तु में विरोध (contrast) भी कभी–कभी कविता में वरदान सिद्ध होता है।

आज का आलोचक ही नहीं, पुराने समीक्षक ड्राइडन और कॉलेरिज भी उसे काव्य का अनिवार्य तत्व, उसकी जीवन–शक्ति मानते रहे हैं और अन्य सभी भी इसी रूप में स्वीकार करते हैं। ड्राइडन कहते हैं कि – "Imaging is its eg., the very height and life of poetry."

---

1. The poetic Image, C. Day Lewis, Page no. 18

वह उसके महत्व के विषय में लिखते हैं – "Prose may dispense with imagery but it is essential for the poet to create image on the mind of the reader .... literature, poetry in particular, can dispense with logic, but it cannot within its nature, dispense with the image."[1]

वर्तनीय तत्व एवं प्राणतत्व कहता है ....The image is the constant in all poetry..... but metaphor remains the life principal of poetry, the poets chief test and glory.

सारांश यह है कि आज प्रतिबिम्ब विधान को काव्य का अलंकरण मात्र नहीं माना जाता, उसका अनिवार्य तत्व समझा जाता है, क्योंकि जब सामान्य भाषा कवि के भाव को सम्प्रेषित करने में असमर्थ रहती है, तो उसे बिम्बों का ही आश्रय लेना पड़ता है और बिम्बों का विधान उसकी सामान्य भाषा–भाव दोनों को सशक्त रूप प्रदान कर देता है। प्रो० लिविंग्स्टन लोस कहते हैं, "Imagery is integral to poetry, not ornament."[2]

काव्य बिम्ब का कार्य और प्रयोजन :

शुक्ल जी ने लिखा है कि काव्य का कार्य केवल अर्थ ग्रहण करना नहीं है, बिम्ब–ग्रहण कराना उसके लिये आवश्यक है। अतः काव्य बिम्ब का मुख्य कार्य सम्प्रेषणीयता है वस्तुतः बिम्ब वह मध्य सूत्र है जो विषय का अथवा यों कहिए कि कलाकार की अनुभूति का प्रमाता से सम्बन्ध स्थापित करता है और सहृदय की कलानुभूति को जगाता है। वह विषय को स्पष्टता प्रदान करता है, दृश्य, व्यापार या भाव को समृद्ध बनाता है, कवि की अनूभूति को तीव्रता प्रदान करता है जिससे वैसी ही अनुभूति सहृदय के मन में भी जाग सके। यदि बिम्ब ताजा, विशद और संक्षिप्त हो तो वह यह कार्य और भी सुगमता और प्रभावशीलता के साथ कर सकता है।[3]

---

1. Art Now, Herbert Read, Page no. 22
2. Art Now, Herbert Read, Page no. 87
3. Literature and Criticism, H.Coombes, Page no. 49 & 50

लेविस का मत है कि बिम्ब केवल दृश्य व्यापार या भाव को ज्यों का त्यों प्रतिबिम्बित ही नहीं करते, उन्हें विशिष्ट रूपाकार, सजीवता और दिव्य आलोक भी प्रदान करते हैं। इसलिये उसने उनकी तुलना जादुई दर्पण से की है।

"The images in a poem are like a series of mirrors set at different angles so that as the theme moves on, it is reflected in different aspects. But they are magic mirrors, they do not number merely reflect the theme, they give it life and form."[1]

बिम्बों की अर्थवत्ता, ध्वन्यात्मकता, चमत्कृत करने की शक्ति कम हो जाती है उसी तरह जिस प्रकार निरन्तर प्रयोगों से मुद्रा की चमक कम होती जाती हैं अतः घिसे–पिटे, पुराने, रूढ़, उपमानों या बिम्बों से काम नहीं चलता। नवीन प्रेमी पाठक सदा नये बिम्ब चाहता है। उधर बदलता हुआ जीवन, जीवन के नये सन्दर्भ, सभ्यता का नूतन विकास, आचरण के नए रूप, विचार जगत में आने वाले नए तत्व की माँग करते हैं कि नया बिम्ब विधान कविता में आये.........."an era which throws up masses of new ideas and sense data will call for a response in bold, novel Imagery."[2]

कवि को नई भाव सामग्री (sense data) से व्युत्पन्न बिम्ब रचना करने से रोकना, उसके प्रति अन्याय होगा, उसे नये बिम्ब विधान के लिये स्वतंत्रता मिलनी चाहिए, क्योंकि यदि वह अपने समसामयिक जन सामान्य से अधिक जागरूक, भावुक और प्रबुद्ध न हुआ तो उस पर पुरातनता का आरोप लगेगा जिसके निर्मोक को सृष्टि पल–भर भी सहन नहीं कर सकती –

"पुरातनता का यह निर्मोक,
सहन करती न प्रकृति पल एक।"[3]

---

१. The poetic Image, C. Day Lewis, Page no. 80
२. The poetic Image, C. Day Lewis, Page no. 117
३. कामायनी, जयशंकर प्रसाद

पर हाँ, यदि कवि नवीनता का चमत्कार–सृष्टि मात्र के लिये नूतनता लाने का प्रयास करेगा, तो वह अजूबा तो पैदा कर सकेगा, भावोद्रेक करने में असमर्थ रहेगा। अतः मैं तो नहीं मानता कि कवि बिम्ब विधान में केवल उन पदार्थों को उपमान रूप में प्रयुक्त करे जो सामान्य जनता में भली–भाँति रम गये हैं, घुलमिल गये हैं (Assimilated by the general consciousness) परन्तु चमत्कार के लिये चमत्कार पैदा करने के पक्ष में भी नहीं हूँ। नवीनता कवि तभी ला सकता है जब उसकी निरीक्षण शक्ति तीव्र हो और साथ ही हृदय संवेदनशील हो। युगानुकूल बिम्ब–विधान बदलते रहे हैं। और आज भी बदल रहे हैं। यह बदलाव ही प्रत्येक युग के बिम्बों और उनके अर्थ में काव्य की शक्ति रही है और आज भी है।

बिम्ब में दूसरा अपेक्षित गुण है – विषयानुकूलता। जब तक बिम्ब विषय के अनुकूल न होगा, कवि अभीष्ट प्रभाव डालने में असमर्थ ही रहेगा और तब तक केवल अलंकरण या चमत्कार के कारण उसकी उपयोगिता अमान्य रहेगी। इसलिये भास्वरता (Boldness) और सघनता से भी अधिक महत्व संगति (congruity) को दिया गया है –

"The image should be congruous with the passionate for example, is congruous with the epic or narrative form, but not with the short lyric."[1]

सफल बिम्ब योजना के लिये बिम्ब और विषय की संगति अनिवार्य है – बिम्ब कवि के मन में शनैः–शनैः विषय को उद्घाटित करते चलें और विषय बिम्बों को नियंत्रण में रखें। अतः सच्चा कवि बड़ी सावधानी से बिम्ब का प्रयोग करता है। बिम्ब में प्रयुक्त सामग्री जिसका उपमान के रूप में प्रयोग कवि करने जा रहा है, मूल वस्तु के सदृश होते भी ऐसी हो कि उस सादृश्य पर अभी तक दूसरों की दृष्टि न पड़ी हो, कवि जब बिम्ब में उस सदृश की ओर संकेत करे, तो हम एकदम से चमत्कृत हो उठें और सोचने लगें कि इससे पहले हमें यह सादृश्य इतना सच्चा एवं स्पष्ट होते हुए भी दिखाई क्यों नहीं दिया था ? अतः बिम्ब के लिये Precision तथा Revelation में दो तत्व भी अत्यन्त

---

1. The poetic Image, C. Day Lewis, Page no. 46

आवश्यक हैं, और इसके लिये कवि की सूक्ष्म निरीक्षणी शक्ति ही आवश्यक नहीं (क्योंकि वह तो वस्तु के केवल बाह्य सादृश्य को ही पकड़ सकती है) उसकी अन्तःप्रेरणा तथा आन्तरिक अनुभूति भी (बल्कि और अधिक मात्रा में) आवश्यक है, जिसके द्वारा वह उस वस्तु से सम्बद्ध भावों को भी ठीक–ठीक और सच्चाई से ग्रहण कर सके।

बिम्ब के लिये ताजगी (Freshness), सघनता (Intensity) तथा पाठक में वैसी ही अनुभूति जगाने की शक्ति, जैसी कवि की थी (Evocative Power) भी आवश्यक माने गये हैं। ताजगी से हमारा अभिप्राय है कि बिम्ब भाषा, शैली और सामग्री की नवीनता द्वारा ऐसी वस्तु या भाव का उद्घाटन करें जिससे हम पहले परिचित नहीं थे।

बिम्ब भले ही प्रथम दृष्टि में चमत्कारिक प्रतीत हों, परन्तु उनका अन्तिम प्रभाव, पाठक के मन पर यही हो कि वे स्वाभाविक हैं, उनमें किसी भी प्रकार की कृत्रिमता नहीं है। उनके प्रयोग द्वारा विषय को सहज भाषा में अभिव्यक्त किया गया है। जो बिम्ब केवल अलंकरण के लिये, काव्य की बाह्य सजावट के लिये प्रयुक्त होते हैं – अंग्रेजी काव्य (आगस्टन युग) में प्रयुक्त हुए और उनसे काव्य के अर्थ में प्रवणता या सजीवता नहीं आती, तो वह कृत्रिम प्रतीत होते हैं और उनका तिरस्कार होता है। बिम्ब की असफलता का कारण असंगति (Inconsistency) भी होता है अर्थात् या तो जब वह विषय या सन्दर्भ के लिये बहुत दुर्बल होता है या आवश्यकता से अधिक शक्तिशाली। स्पष्ट है कि सन्तुलन बिम्ब विधान की प्रभावी योजना के लिये बहुत आवश्यक है।

बिम्बों का वर्गीकरण :

बिम्बों का वर्गीकरण कितनी ही दृष्टियों से किया गया है, जैसे अभिव्यंजना पद्धति की दृष्टि से, स्वरूप की दृष्टि से, ग्राह्येन्द्रिक के आधार पर, प्रेरक अनुभूति के आधार पर, काव्यार्थ की दृष्टि से। अभिव्यंजना पद्धति की दृष्टि से बिम्बों के दो प्रकार बताये गये हैं – प्रत्यक्ष बिम्ब (Direct Image) और अलंकृत बिम्ब। प्रत्यक्ष बिम्ब में कवि सामान्य पर अर्थपूर्ण शब्दों द्वारा ही चित्र अंकित कर देता है। साकेत की निम्नलिखित पंक्ति अंकित है –

"विमाता बन गई आँधी भयावह"[1]

यहाँ कवि ने राजा दशरथ के शान्तिपूर्ण जीवन में भयंकर हलचल मचाने वाली तथा सारे परिवार और राज्य को अस्त–व्यस्त करने वाली कैकेयी की मूर्ति को आँधी शब्द के प्रयोग से अंकित कर दिया है। अलंकृत बिम्ब में कवि रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, मानवीकरण आदि अलंकारों द्वारा इसका विधान करता है और कभी प्रतीकों द्वारा उसकी योजना करता है। रीतिकालीन बिम्ब योजना आलंकारिक ही अधिक है।

स्वरूपगत विशेषताओं की दृष्टि से बिम्बों के कई भेद हैं, जैसे सरल बिम्ब, जटिल बिम्ब, तात्कालिक बिम्ब, अमूर्त बिम्ब अथवा इन सबके संयोग से निर्मित संयुक्त बिम्ब। स्वरूप की दृष्टि से बिम्बों का दूसरा भेद है जिसके अन्तर्गत संक्षिप्त और सांकेतिक बिम्ब आते हैं तथा तीसरे भेद के अन्तर्गत प्रतीकात्मक, रूपात्मक, अभिज्ञानात्मक बिम्ब रखे जाते हैं।

प्रेरक अनुभूति के आधार पर बिम्बों के सरल, मिश्रित, खंडित और समाकलित भेद किये गये हैं। इसी प्रकार काव्यार्थ की दृष्टि से इसके दो भेद एकल और संश्लिष्ट किये गये हैं। ग्राह्येन्द्रियों के आधार पर बिम्बों के भेद हैं – चाक्षुष, श्रौत, स्पृश्य, घ्रातव्य और रुच्य। कभी कभी ऐसा बिम्ब भी निर्मित किया जाता है जो एक से अधिक इन्द्रिय का विषय होता है। वह मुख्यतः एक इन्द्रिय से सम्बद्ध होते हुए भी दूसरी इन्द्रिय के बोध से पोषित होता है। ऐसे बिम्ब को संयुक्त बिम्ब कह सकते हैं। उदाहरण के लिये पंत जी की कविता "झंझा में नीम" की निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त बिम्ब एक साथ हमारे स्पर्शबोध, श्रवणबोध एवं गतिबोध को प्रभावित करता है –

---

१. साकेत, सुमित्रानन्दन पंत

"सरसर–मरमर/रेशम के से स्वर भर,
घने नीम दल/लम्बे, पतले, चंचल
स्वसन स्पर्श से, रोम हर्ष से
हिल–हिल उठते प्रतिपल।"[1]

पहली पंक्ति की ध्वनियाँ जहाँ झंझा से आन्दोलन नीम में श्रावणिक प्रभाव को मूर्तिमंत करती हैं, वहाँ दूसरी पंक्ति उसकी मृदुलता और मंजुलता व्यक्त करती है। 'श्वसन स्पर्श से', 'प्रतिपल' पंक्तियों के द्वारा नीम में उत्पन्न गति को संवेद्य बनाया गया है। इस प्रकार विभिन्न ऐन्द्रिय प्रभावों को स्पष्ट करते हुए जो बिम्ब योजना की गयी है, वह संयुक्त बिम्ब कहलायेगी, क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय का अलग–अलग खण्ड प्रभाव न पड़कर संयुक्त प्रभाव पड़ता है।

बिम्ब–निर्माण के लिये कवि विभिन्न स्रोतों–मानव प्रकृति, मानवेतर प्रकृति, पौराणिक गाथाओं और प्रसंगों, सामाजिक जीवन, धार्मिक वातावरण आदि से सामग्री एकत्र करता है और उनके द्वारा सजीव बिम्ब विधान कर अपने काव्य को कलापूर्ण एवं प्रभावशाली बनाता है। आज का समूचा काव्य विशिष्ट प्रकार के बिम्बों का ताना–बाना है ही, कहानी और नाटकों में भी कथा को उजागर करने के लिये प्रमुखतः बिम्बों का ही आश्रय ग्रहण किया जाता है।

छायावाद के प्रमुख प्रहरियों के रूप में बिम्बों का मूलाधार प्रकृति और नारी है। प्राकृतिक दृश्यों को कवि मानवीय रूप देकर प्रस्तुत करता है। बिम्ब सृष्टि का आवश्यक उपकरण उपमान है। निराला के काव्य में हमें बिम्ब विधान का पुष्कल संरक्षण मिलता है। इनके काव्य में बिम्ब विधान का अन्यतम निर्वाह है। पंत जी की बिम्ब विधायिनी कल्पना ने मुख्यतः प्रकृति की ही परिक्रमा की है, उसी से सम्बन्धित अनेक सुन्दर बिम्बों की सत्ता उनकी कविता में मिलती है। इसके लिये रूपक, मानवीकरण, ध्वन्यर्थ व्यंजक

---

१. झंझा में नीम, सुमित्रानन्दन पन्त

अलंकारों का आश्रय उन्होंने विशेष रूप से ग्रहण किया है। बिम्ब निर्माण के लिये अभिव्यंजना के कोरे चमत्कार की ही नहीं, वरन् चित्रभाषा की आवश्यकता है। इस तथ्य को स्वयं पंत जी ने अपने इस वक्तव्य में स्वीकारा है – "कविता के लिये चित्रभाषा की आवश्यकता है ....छत्ते में न समाकर मधु की भाँति टपकने लगे।" पंत जी ने इसमें ऐन्द्रिय बोध के आधार पर बिम्बों के विभिन्न रूपों चाक्षुष, श्रावणिक, घ्राण विषयक एवं रस्य (आस्वाद्य) बिम्बों का संकेत स्पष्ट कर दिया। रश्मि बन्ध की भूमिका में भी बिम्ब शब्द का कवि ने इसी अर्थ में प्रयोग किया है। उसे (नयी–कविता) विशेषीकरण से मोह है, वह प्रतीकों, बिम्बों, शैलियों और विधाओं को जन्म दे रही है, वह ....आत्म मुग्ध कविता है।

मानव मन के बोध और अनुभूति का आधार पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं। इन्हीं के आधार पर बिम्बों के पाँच रूप होते हैं –

१. चाक्षुष बिम्ब

२. नादात्मक बिम्ब

३. स्पृश्य बिम्ब

४. घ्राण विषयक बिम्ब

५. आस्वाद्य बिम्ब

छायावादी बिम्बों के विधान में सूक्ष्मता प्रिय की प्रवृत्ति प्रसाद के अनुकूल सिद्ध हुयी है। अन्य छायावादी कवियों की भाँति ही प्रसाद का ध्यान भी गुणात्मक बिम्बों की सृष्टि से स्पर्श, गन्ध के साथ–साथ रंगों की ओर आकर्षित हुआ है। सप्त वर्णों में नील वर्ण प्रसाद का विशेष प्रिय है। भौतिक कल्पना और भावों की सूक्ष्म गतिविधि, गहराई, विविधता तथा उसके स्वरूप की परख कर प्रसाद ने जो भावों की चित्रकारी, बिम्ब कला साहित्य की, की थी वह सर्वथा नवीन और मौलिक है।

छायावाद के प्रमुख प्रहरी सुमित्रानन्दन पंत ने भी प्रेम, वेदना, करुणा आदि भावों का जो मूर्तिकरण किया उसमें नारी, प्रकृति आदि मूर्त विषयों की वेदना, करुणा आदि

भावनाओं को कवि की रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि ऐन्द्रिय सम्वेदनाओं से समन्वित करके चित्रित किया गया है। खड़ी बोली में काव्य रचना करते समय पंत जी ने भी अपने शब्दों में रूप, रस, गन्ध भरने का उद्देश्य अपनाया है। और स्वयं कहा भी है – "उसमें हमने अपने प्राणों का संगीत अभी नहीं भरा, उसके शब्द हमारे हृदय के मधु से सिक्त होकर अभी सरस नहीं हुए, वे केवल नाम मात्र हैं, उनमें हमें रूप, रस, गंध, भरना होगा।"[१]

प्रकृति के सीमित सान्ध्यकालीन उपकरण महादेवी के काव्य में मिलते हैं। सीमित और संयमित वस्तु के कारण ही पुनरावृत्ति इनके काव्य में अधिक है। परिणामतः महादेवी के बिम्ब सर्वत्र समृद्ध नहीं प्रतीत होते हैं। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार – "महादेवी के गीतों में प्रयुक्त चित्र सामग्री अत्यन्त परिमित है इसलिये 'नीरजा' के बाद से ही महादेवी के आलोचकों को उनसे पुनरावृत्ति की शिकायत है और यह शिकायत जितनी उचित है उतनी सकारण भी। एक कारण तो यही है कि कवि की अनुभूति का क्षेत्र ही सीमित है दूसरा कारण यह है कि उन्होंने सांध्यगीत और दीपशिखा के गीतों के लिये एक निश्चित पृष्ठभूमि दी है। सांध्यगीत को संध्या की, दीपिशिखा को रात्रि की। उनके काव्य बिम्ब व्यापक और वैविध्यपूर्ण हैं। उनमें नूतनता है।"[२]

काव्य में दुःखवाद की प्रधानता के कारण इनके चित्रों और काव्य बिम्बों में करुण मुद्राओं का आधिक्य है। इनके बिम्ब संश्लिष्ट हैं क्योंकि बड़े कैनवास को भी वह छोटे से काव्य बिम्ब में व्यक्त कर देती हैं और फिर भी वह चित्र भावपूर्ण ही रहता है। इनके बिम्ब विधान पर मूर्तिकला और चित्रकला का विशेष प्रभाव है जिसके सम्बन्ध में अपनी धारणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है – "कुछ अजन्ता के चित्रों पर विशेष अनुराग के कारण और मूर्तिकला के आकर्षण में चित्रों में यत्र–तत्र मूर्ति की छाया आ गयी है। यह गुण है या दोष यह तो मैं नहीं बता सकती, पर इस मूर्ति सम्मिश्रण ने मेरे गीत को भार से नहीं दबा डाला है, ऐसा मेरा विश्वास है।"[३]

---

१. पल्लव (भूमिका), सुमित्रानन्दन पंत, पृ०सं० ३२
२. विचार और अनुभूति, डॉ० नगेन्द्र, पृ०सं० १२८
३. दीपशिखा, महादेवी वर्मा, पृ०सं० २२

आचार्य सोम के काव्य में बिम्ब योजना :

कविता की सार्थकता के लिये आचार्य शुक्ल ने बिम्ब को आवश्यक उपादान के रूप में वर्णित किया है। बिम्ब विहीन कविता को वे कविता नहीं 'सूक्ति' की संज्ञा देते हैं। भारतेन्दु एवं द्विवेदी युगीन कविता में सपाट बयानी को अपनाया गया था। इसके बाद छायावाद युग की कविता में संवेदना एवं भाव बोध की गहनता के साथ बिम्ब विधान को आवश्यक रूप से स्वीकार किया गया। आचार्य सोम यद्यपि वैदिक परम्परा से सम्पृक्त हैं फिर भी उन्होंने अपनी कविताओं में चाक्षुष बिम्ब, प्रकृति से सम्बद्ध बिम्ब एवं साहित्यिक बिम्ब को ही कविता का मूल आधार बनाया है –

चाक्षुष बिम्ब :

ये वे बिम्ब होते हैं जिसमें पूरा का पूरा दृश्य आंखों के सामने अपने समग्र रूपाकार में उपस्थित हो जाता है। सोम के काव्य में इसके उदाहरण यत्र–तत्र प्राप्त हो जाते हैं।

कवि जहाँ उषा का मानवीकृत रूप उपस्थित करता है वहाँ पूर्ण बिम्ब हमारे नेत्रों के समक्ष आ जाता है –

"यह भद्र योषिता सी अपनी साड़ी का अंचल फहराती।
कमनीय कान्ति का जाल बिछा, नियमित गति से प्रतिदिन आती।
नर्तकी तुल्य नर्तन करती, आकर्षण से अग जग भरती।
उन्मुक्त वक्ष में ले सबको मधु पिला धेनु सम दुख हरती।

x x x x

यह सद्यः स्नाता बाला सी, क्षण क्षण क्षिति पर छवि छिटकाती।
कर द्वेष दूर, तम तोम चीर, समभाव ज्योति कण बरसाती।[1]

एक अन्य स्थल पर प्रातःकाल का चित्र समग्र बिम्ब का द्योतक बनकर आया है–

---

१. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ५५

"पौ फटी, वनस्पतियाँ जागीं। पक्षी चह चह ध्वनि–मग्न हुए।
मानव! तू अब भी सोता है जब सभी शौच–संलग्न हुए।।
रवि उदय हुआ, पक्षी निकले ये कहाँ–कहाँ को जाते हैं ?
निज नीड़ छोड़, इस व्योम बीच, आहार कहाँ निज पाते हैं ?"[1]

कवि सोम ने एक अन्य स्थल पर उषा के बिम्ब को प्रस्तुत करते हुए ग्रामीण एवं नागरिक जीवन के पूर्ण रूप को बहुत ही प्रभावशाली ढंग से व्यक्त किया है –

"प्रातः पावनी उषा वेला।
पक्षी जगकर जप रहे नाम – चहचह के कितने भरे साम।
तू अब भी सोता है मानव! उठ देख ध्येय का धवल धाम।।
अद्भुत जड़ जंगम का मेला।
प्राची अरुणाभा से मंडित, हो रही दिशा प्रदिशा द्योतित।
यह सूर्य अतल से उठ ऊपर गिरिशिखरों को कर आलोकित।।
समतल के सुमनों से खेला।
रम्भा रम्भा करती श्यामा, सुन रहे वत्स ध्वनि अभिरामा।
आ गये ग्वाल गोपाल सभी, श्री कृष्ण साथ हैं श्रीदामा।।
मच गया रामणीयक रेला।।
खग खाद्य खोजने गये कहीं, पयपान कर रहे वत्स यहीं।
है कृषक मंडली खेतों पर घर में उसका कुछ काम नहीं।।
श्रम के सर पर शोभित सेला।
संसद–विदथों में चहल–पहल, जनसभा बन रही रंग महल।
पौ फटते ही जग हुआ सजग, भर गया चतुर्दिक कोलाहाल।
चल पड़ी कार, बढ़ते ठेला।।"[2]

---

१. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ५२
२. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ५३

अनुभूतिपरक बिम्ब :

कवि सोम के अनुभूतिपरक बिम्ब या भाव बिम्ब निश्चय ही सूक्ष्म गहन स्थितियों को भी प्रकृति के माध्यम से मूत्तर्ता प्रदान करते आये हैं। कवि ने प्रकृति के माध्यम से चेतना को जाग्रत करने का प्रयास किया है। इन अनुभूतिपरक बिम्बों में छायावादी अनुभूति की अनुगूँज सुनाई पड़ती है। यथा –

"बरसो सोम! धरा पर बरसो।
क्यारी क्यारी हरी भरी है, अंकुर अंकुर परसो।।
धर्म–मेघ से ज्ञान–फुहारें, उर–उर्वी की धूल बुहारें।
शीतलता दें ताप निवारें, चिति में हर्ष–हिल्लोर मारें।
सर–सर में रस सरसो।
आशा की कलिका खिल जावे, प्राण–पवन मधु में मिल जावे।
स्वाति–बिन्दु चातक मुख पावें, मौक्तिक–बीज सीप में आवे।
दिव्य दया धन दरसो।।
सोम! तुम्हारी धार रसीली। प्रेम–मदिर मधुवलित लजीली।
भाव वीथियाँ जिससे गीली। खिल उठती पुष्पावलि पीली।
सुमन–सुमन में हरसो।।"[१]

इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर कवि ने चेतना के जाग्रत होने की स्थिति का बड़ा ही प्रभावशाली बिम्ब उपस्थित किया है –

'जागो मेरे चेतन जागो।
सोते–सोते युग बीते अब तो निद्रा त्यागो।
श्रद्धा सखी निहार रही है, प्रज्ञा खड़ी पुकार रही है।
मेधा–मति दृग डाल रही है, बुद्धि सुहाग सम्हाल रही है।

---

१. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १४१

पुनः प्रेम रस पागो।
पत्र–पत्र में चिति लहराती लता–लता शाखा बलखाती।
मधु मंजरी सहज महकाती, कली–कली मुकलित मुसकाती।
उठ अलि सम अनुरागो।'[1]

मृत्यु के सम्बन्ध में कवि ने कैसा भावग्राही बिम्ब प्रस्तुत किया है –

'प्रकृति पुरातन, सखी सदातन, मृत्यु महारानी आ जाओ।
पलकों का पर्यंक बिछा है, सुख से बैठो थकन मिटाओ।
ग्राम, नगर, देशों, लोकों में दूर–दूर तक दौड़ लगातीं।
पल–पल क्षण–क्षण, अणु–परिवर्तन, रूप–विरूप अनूप बनातीं।
आई हो, विश्राम करो कुछ, धूलि धूसरित पग धो डालो।
प्रणव–अर्घ से कर–मुख धोकर स्वस्थ चित्त हो भिक्षा पालो।।'[2]

प्रकृति से सम्बद्ध बिम्ब :

प्रकृति से सम्बद्ध बिम्ब भावोत्कर्ष में अधिक सहायक हुए हैं। कवि सोम की कविताओं में इस प्रकार के बिम्ब स्वाभाविक रूप से प्रयुक्त हुए हैं। 'शिशिर' का चित्र अपनी समग्रता को समाहित किये हुए बड़ा ही प्रभावशाली बन पड़ा है –

"यह शिशिर अरे भय खाता, झोंके झेलता,
जा रहा मन्द–कंपित–गति से किस ओर है ?
यह अंग सिकोड़े, चादर ओढ़े मुख ढके,
क्या सेंध लगाकर आया कोई चोर है ?
यह कभी सिमटता, सी–सी–सी करता हुआ,
कोने में छिपता ले, घबराहट घोर है।
सरिता–सर के तट–घाट सभी सूने पड़े,
आक्रान्त वनस्पति, लता, द्रुमों का छोर है।"[3]

---

१. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ११६
२. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १६७
३. विरहिणी, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ७२

बसन्त के आगमन का सम्पूर्ण चित्र कवि सोम ने अपनी कविता में कितना प्रभावोत्पादक ढंग से चित्रित किया है –

'यह बसंत में खिली उत्तरायण की क्यारी,
बीत गई बलि दलित दक्षिणायन की बारी।
घटी प्रमादी रात्रि, बढ़ा दिन स्फूर्ति प्रसारी।
जगी हृदय में माँ, सरस्वती रस संचारी।
हरी भरी वनराजि विराजित रंग रंगीली,
मटर–चणक जौ व्याज धरा की साड़ी नीली।
खिली सरसों दे रही वसंती आभा पीली।
सफल सफल निज देख कृषक की दृष्टि रसीली।
प्रकृति कपोलों पर गुलाब की आब विराजै,
गेंदा की लालिमा अधर द्युति देखत लाजै।
शशि–शशि खिल रहे पुष्प उपवन छवि छाजै।
नियति–नटी जिनसे स्वरूप की सज्जा साजै।'[1]

स्वाद संवेद्य बिम्ब :

इस प्रकार के बिम्बों में आस्वादन का गुण विद्यमान होता है। कवि सोम ने 'विरहिणी' महाकाव्य के अन्तिम सर्ग 'आत्मगीत' में विरहिणी आत्मा तथा परमात्मा के सम्मिलन को प्रस्तुत किया है। आत्मा उस दिव्य अनुभूति का अस्वादन करती हुई कहती है –

'ले रहा रोम–रोम आनन्द प्रेम–वंशी के वादन में
रूप माधुरी में नयनों को मिली प्रेम की तान।
रस–रस बनी रसना को हुआ प्रेम का भान।
सभी डूबे मधु–ह्लादन में।'[2]

---

१. विरहिणी, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ६६
२. विरहिणी, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १७१

इस प्रकार कवि ने मूलतः प्रकृति सम्बन्धी बिम्बों का ही प्रयोग किया है। चाक्षुष बिम्ब कवि की सूक्ष्म मौलिक दृष्टि के परिचायक हैं।

छन्द योजना :

कविता और छन्द का बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। छन्दबद्धता कविता को सौन्दर्य प्रदान करती है। छायावादी कवि सुमित्रानन्दन पंत ने कविता और छंद की घनिष्ठता के सम्बन्ध में लिखा है – "कविता तथा छंद के बीच बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है; कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कम्पन। कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते–जिसके बिना वह अपनी बन्धन हीनता में अपना प्रवाह खो बैठती है उसी प्रकार छन्द भी अपने नियंत्रण से राग को स्पन्दन, कम्पन तथा वेग प्रदान कर निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल, कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं। वाणी की अनियमित सांसें नियंत्रित हो जातीं, तालयुक्त हो जातीं, उसके स्वर में प्राणायाम, रोओं में स्फूर्ति आ जाती, राग की असम्बद्ध झंकारें एक वृत्त में बँध जातीं, उनमें परिपूर्णता आ जाती है। छन्द–बद्ध शब्द चुम्बक के पार्श्ववर्ती लौहचूर्ण की तरह अपने चारों ओर एक आकर्षण क्षेत्र (Magnetic Field) तैयार कर लेते, उनमें एक प्रकार का सामंजस्य, एक रूप, एक विन्यास आ जाता, उनमें राग की विद्युत धारा बहने लगती, उनके स्पर्श में एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है।"[१] इस प्रकार छन्द का प्रभाव कविता में भावावेगजन्य विश्रृंखलता तथा अव्यवस्था में सामंजस्य तथा व्यवस्था स्थापित करता है। मास्क ने छन्दांसि छादनात (नि ७/११) लिखकर छन्द में छद् धातु ध्वनित की है। छद् धातु का अर्थ होता है, आच्छादन करना, प्रसन्न करना, आह्लादित करना। इन्हीं अर्थों के आधार पर छन्द शब्द का अर्थ सामान्यतया प्रसन्न करने वाली वस्तु, इच्छा, आच्छादन, बंधन, ढक लेना आदि लिया जाता है।

प्रधान रूप से छन्द योजना दो प्रकार से की जाती है – मात्रा के अनुसार और

---

१. पल्लव (प्रवेश), सुमित्रानन्दन पन्त, पृ0सं0 ३० – ३१

वर्ण के अनुसार। जिन छन्दों में मात्राओं की संख्या और क्रम आदि का नियम होता है उन्हें मात्रिक छन्द कहते हैं। इसी प्रकार जिन छन्दों में वर्णों की संख्या और उनके लघु–गुरु के क्रम का नियम होता है, उन्हें वर्णिक या वृत्त छन्द कहते हैं। कुछ छन्द स्वतंत्र भी होते हैं। इन्हें क्रमशः मात्रिक छन्द, वर्णिक छन्द और मुक्तक छन्द भी कहते हैं। जहाँ तक आचार्य मुंशीराम शर्मा के काव्य का सम्बन्ध है उन्होंने अपनी कविता में मात्रिक छन्दों का प्रयोग अधिक किया है। कहीं–कहीं काव्य संकलनों में वर्णिक छन्द की छटा भी दिखाई देती है।

मात्रिक छन्द :

श्रृंगार छन्द

श्रृंगार की कोमल–मधुर भावनाओं के सम्प्रेषण के माध्यम के रूप में आचार्य सोम के काव्य में इसका प्रयोग बड़ी सहजता के साथ हुआ है। आदि में त्रिकल, मध्य में समप्रवाह तथा अन्त में गुरु–लघु से निर्मित यह छन्द 'पद्धरि' के अपेक्षाकृत अधिक निकट है। आचार्य सोम रचित 'विरहिणी' महाकाव्य में इसका प्रयोग किया गया है –

'अहोई, धनतेरस भी गई,
न आये मेरे धन, अहिवात।
शरद के पर्वों पर ये पर्व
अरे मेरे सूने गृह–गात।'[1]

इसी प्रकार 'भागवती आभा' काव्य संग्रह में भी आचार्य सोम ने स्थल–स्थल पर इस छन्द का प्रयोग किया है –

"सघन घन हो जाते विच्छिन्न, हर्ष से भर जाता है खिन्न।
हमारी लाज तुम्हारे हाथ, देव तुम युग–युग से हो साथ।
सफल होती विनीत की विनय, देव तुम सदा दीन पर सदय।
पुकारे कातर स्वर से भक्त, मुक्ति पा जाता है सन्तप्त।।"[2]

---

१. विरहिणी, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ७०
२. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ४५

x x x

"द्यावा की दुहिता, सविता की कविता सी यह ऊषा रानी।
आ गई कर रहे अभिनन्दन, वन्दन कवि ज्ञानी, विज्ञानी।।
रच रहे स्तोत्र, पढ़ रहे ऋचा कधि वाचारम्भण–निपुण कृती।
चिन्तन–रत ज्ञानी सोच रहा है इसके पीछे कौन व्रती।।"[१]

x x x

"सृष्टि पर प्रलय, प्रलय पर सृष्टि।
वृष्टि पर ग्रीष्म, ग्रीष्म पर वृष्टि।
वही जड़–चेतन का संसर्ग।
वही फिर भोग वही अपवर्ग।।"[२]

पद्धरि :

पद्धरि १६ मात्राओं का छन्द है। इसमें कुल चार चरण होते हैं और प्रत्येक चरण के अन्त में जगण होता है। केशव ने इस छन्द का नाम पद्धरि कर दिया है।

'विरहिणी' महाकाव्य में पद्धरि छन्द का प्रयोग कवि ने किया है –

'मैं रोते रोते मरी देव, कानों में पड़ी पुकार नहीं,
है दृष्टि धुंध से भरी दीन, पग क्षत–विक्षत, सामर्थ्य–हीन।
मन में न सहन की शक्ति रही, तन–करुण विवशता के अधीन
उत्थान–गमन प्रतिहत समस्त, अवशिष्ट रहा आधार नहीं।'[३]

x x x

'मैं भोग यज्ञ के सुफल विपुल, पृथिवी पर पुनः उतर आई
प्रिय कहाँ, अरे प्रिय कहाँ, यहाँ कण–कण में अप्रियता छाई।'[४]

---

१. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ५४
२. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ८७
३. विरहिणी, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ६८
४. विरहिणी, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ६७

इसी प्रकार 'भागवती आभा' काव्य संग्रह में आचार्य शर्मा ने यत्र–तत्र इस छन्द का प्रयोग किया है –

'हौं आयौ तेरी शरण चरण में आश्रय दे वनमाली।
तेरे वन की डाली–डाली, सुन्दरतम साँचों में ढाली।
सब मुग्ध देख जिसकी लाली, अहमिति ने पर कर दी काली।
यह कटे कालिमा करुणाकर। कर कृपा प्रभा–शोभाशाली।'[१]

पीयूष वर्ष :

पीयूष वर्ष छन्द के प्रत्येक चरण में १६ मात्रायें होती हैं। १० – ६ पर यति और अन्त में लघु गुरु होता है। 'विरहिणी' महाकाव्य में कवि सोम ने इस छन्द का प्रयोग किया है। यथा –

'यह शिशिर अरे भय खाता, झोंके झेलता,
जा रहा मंद कंपित गति से किस ओर है?
यह अंग सिकोड़े चादर ओढ़े, मुख ढके,
क्या सेंध लगाकर आया कोई चोर है?'[२]

पादाकुलक :

पादाकुलक छन्द का प्रत्येक चरण चार–चार मात्राओं से बने चार चौकलों से निर्मित होता है – इसमें विषम मात्रिक शब्दों का प्रयोग वर्जित है, जैसा कि चौपाई में होता है। आचार्य सोम ने अपनी कविताओं में इस छन्द का प्रयोग बड़ी सहजता के साथ किया है।

'यह असत नहीं, सत मूल तत्व,जिससे निकला प्राकृत प्रसार ,
इस ऊर्ध्व शिखर पर समासीन मैं देख रही अग–जग अपार।
सत से प्रसूत यह तेज–प्रसर जा रहा लोक निर्माण हेतु।
इसे आपोमय तरल द्रव्य हो रहा प्रकट स्वारस्य केतु।।'[३]

---

१. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १०४
२. विरहिणी, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ७०
३. विरहिणी, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ७६

इसी प्रकार 'भागवती आभा' काव्य संकलन में भी इस छन्द का प्रयोग कवि ने किया है –

'तुम पूज्यों के भी पूज्य पिता! तुम प्रेरक उत्पादक सविता।
वसु–विभव–विपुल! बल–वीर्य–विपुल! विज्ञान विभव, तप तेज अतुल।
सर्वायु पुरातनतम वरिष्ठ। तुम सा न यहाँ कोई वसिष्ठ।
तुम ज्येष्ठ–श्रेष्ठ, ऐश्वर्यवान। निरवधि, निरूपम, प्रभुता वितान।'[१]

सार छन्द :

इसके प्रत्येक चरण में १६ और १२ के विराम से २८ मात्राएँ होती हैं। अन्त में दो गुरु रहते हैं। इसे ललित पद भी कहते हैं। आचार्य सोम ने अपनी राष्ट्रीय कविताओं में इस सार छन्द का प्रयोग किया है –

'महानाश, हाँ वह प्रलंयकर विप्लव की ज्वालाएँ।
धधक उठे, जल जावे जिनमें दुख–दुर्गुण मालाएँ।
अरे भस्म हो यह दुर्गंधित कूड़ा–करकट सारा।
जिसके ऊपर बहे निरन्तर निर्मल जीवन धारा।।'[२]

x x x

'विप्लव! जीवन के संरक्षक, पाप–शाप कहलाए हो।
भूखी प्यासी मानवता की वरद–हस्त बन आए हो।
युग–युग के उठते उबाल से आज जलद बन छाए हो।
हाहाकार–भरे हृदयों में सुखद सांत्वना लाए हो।।'[३]

त्रिभंगी :

त्रिभंगी छन्द के प्रत्येक चरण में ३२ मात्रायें होती हैं। यति १०, ८, ८, ६ पर पड़ती है। अन्त में गुरु का होना आवश्यक है। तुलसी, केशव आदि कवियों ने इसका

---

१. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ३७
२. सोम सुधा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ४३
३. सोम सुधा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ५३

यथेष्ट प्रयोग किया है। आचार्य शर्मा ने भी अपनी कविताओं में इस छन्द का प्रयोग किया है। यथा –

'हरि हरो क्लेश मेरे अशेष, सुख दो विशेष, सुख के दाता।।
दुख में न तुम्हारा भजन बने, व्याकुलता कुलित वितान तने।
पल–पल विषाद–व्यग्रता–व्यथा से रोम रोम है भर जाता।।
जब भजन नहीं, तब ध्यान नहीं, एकाग्र–वृत्ति प्रज्ञान नहीं।
प्रज्ञान बिना अध्यात्म–चेतना–जनित प्रसाद नहीं आता।।

सरसी :

१६ मात्राओं की यति से २७ मात्राओं के समप्रवाही अष्टक के आधार पर निर्मित सरसी छन्द का भी छायावादी कवियों ने प्रयोग किया है। आचार्य सोम की कविता भी छायावादी प्रभाव से विमुक्त नहीं है, अस्तु उनकी कविताओं में इस छन्द का प्रयोग देखा जा सकता है। अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में कवि ने इस का प्रयोग किया है। १६२४ से कवि यह वरदान माँगता रहा है –

'चाहें जहाँ रहे पर हमको हो भारत का ध्यान।
सुने सदा ही निज कानों से सुख–स्वराज्य की तान।
भरा हुआ हो अंग–अंग में भारत गौरव मान।
उसकी रक्षा में हम कर दें अर्पण अपनी जान।'[1]

गीतिका :

इसके प्रत्येक चरण में १४ – १२ की यति से २६ मात्रायें होती हैं। अन्त में लघु–गुरु होते हैं। 'भक्ति तरंगिणी' एवं 'सोमसुधा' काव्य संकलनों में कवि ने इस छन्द का प्रयोग किया है।

---

१. सोम सुधा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ४५

वर्णिक छन्द :

घनाक्षरी

घनाक्षरी के प्रत्येक चरण में आठ–आठ–आठ–आठ पर यति देकर बत्तीस वर्ण होते हैं। आचार्य सोम ने 'भागवती आभा' में इसका प्रयोग किया है –

'पुरुष पुराण परमेश परिपूत प्रभु
आगम निगम तव–गेय–गुण–गान–रत।
अजर अगोचर अमर अविकार अनवद्य गद्य
अखिल परावर वितत–धृत।।
देव–संत–भक्त–हित शरण–अमोघ–प्रद
कोटि–कोटि लोक धाम जगत विभास कृत।
नित्य ही नवीन, शोष–पोषण–प्रवीण।
दीन हो रहे अदीन, भुक्ति–मुक्तियां समक्ष नत।।'

शिखरणी :

इस छन्द के प्रत्येक चरण में १७ वर्ण होते हैं और यगण (।SS) मगण (SSS) नगण (।।।) सगण (।।S) मगण (S।।) तथा लघु गुरु के क्रन से ६ और ११ पर यति होती है। 'भागवती आभा' काव्य के अन्त में इस छन्द का प्रयोग कवि सोम ने किया है –

'उदीची दिक्स्वामी रस लसित सोमो दिवि शिवः।
सुधावर्षी नित्यो नवल–नुति–निष्ठो ध्रुव–धृतिः।।
स्वयम्भूः स्वावेशो विमल गति गेयो गुरुवरः।
तदीयेभ्यः सद्भ्यो जगदिदमशेषं विरमते।।'[1]

भुजंगप्रयात :

इस वर्णिल सम छन्द में प्रत्येक चरण में चार यगण (।SS) होते हैं। इस प्रकार कुल १२ वर्ण प्रत्येक चरण में होते हैं। यथा –

---

१. भागवती आमा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १६१

'तवार्चा तवास्था तवोपासना या, समस्ता प्रशस्ता समाराधना या।
वरं वन्दनं पूजनं प्रार्थना या, स्तुति स्त्रोत गीतिः स्वरा–साधना या।।'[1]

वसन्ततिलका :

आचार्य शर्मा ने 'सोम–स्त्रोत सुधा' में इस छन्द का प्रयोग किया है –

'नव नवति कुचक्रं दीर्घ दाहेन दिग्धं।
पल पल परितापं मन्थनं चापि मत्वा।
वयमधिगत कामाः त्वां प्रभो विस्मरामः।
अहह! विहत बुद्धिर्कोऽस्ति चान्योऽत्र शम्भो ?'[2]

इस प्रकार आचार्य सोम ने अपनी कविताओं में मात्रिक एवं वर्णिक सभी छन्दों का परम्परागत प्रयोग किया है और उसमें वे सफल भी हुए हैं।

संगीतात्मकता :

आचार्य मुंशीराम शर्मा की प्रगीत रचनाओं में संगीत का निर्वाह सर्वत्र है। वैसे प्रत्येक कवि को स्वभावतः छन्द, लय और ताल का ज्ञान होता है क्योंकि छन्दबद्ध रचना अपने आप में शब्दों को लय में बाँधता है। राग और काव्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। आचार्य शर्मा के काव्य संकलनों की अनेक कवितायें गेय रचनायें ही हैं और इन्हें किसी भी राग में आबद्ध किया जा सकता है। 'विरहिणी' महाकाव्य में 'विरह' सर्ग के चिन्ता उपशीर्षक के अन्तर्गत कवि की ये पंक्तियाँ गेय रचनाओं के अन्तर्गत स्वीकार की जा सकती हैं –

---

१. सोम स्त्रोत सुधा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १३०
२. तदैव

'पल–पल की आशा प्रहर–प्रहर में बदली,
पाकर प्रहार पर हार, गैल ले अगली।
मैं चली सिसकती, गिरती, पड़ती, पगली,
पर कौन बताता राह यहाँ पर, पर ली।
जिसने जो पथ देखा मुझको बतलाया,
मधुमास मिलेगा कहाँ ? सही समझाया।
लेकर अभिनव अभिलाषा, अभिनव काया,
बढ़ती, पर लगती हाय स्वप्न की माया।'[1]

इसी प्रकार 'भागवती आभा' काव्य संकलन में इसी प्रकार की कवितायें उपलब्ध हैं जो गेय रचनायें ही कही जायेंगी –

"तुम्हारी करुणा अगम अगाध।
क्षमा कर दो मेरे अपराध।।
तुम्हारा अपना होते हुए प्रपंचों का बन जाता दास।
सत्य से दूर, अनय आबद्ध काम से अंध, लोभ का ग्रास।।
दिये तुमने अनेक संकेत, रहा फिर भी मैं मूढ़ अचेत।
तुम्हारी शुचि रुचि के प्रतिकूल समझता रहा श्याम को श्वेत।।"[2]

गेय रचनाओं के अतिरिक्त कवि सोम की कुछ कवितायें रागों में भी आबद्ध हैं जिसके ऊपर यह सत्य आभासित होता है कि कवि ने स्वाभाविक रूप से इन रागों का प्रयोग किया है, सायास नहीं।

राग सोरठ :

राग सोरठ मध्यकालीन कवियों का प्रिय राग रहा है। यह कोमल प्रकृति का राग

---

१. विरहिणी, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ६३
२. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १३८

है। हृदयगत प्रवणशीलता, आत्मनिवेदनात्मक भावुकता, विरह और उल्लास इस राग के अन्तर्गत अत्यन्त मार्मिकता से व्यंजित होते हैं –

'हारौ हौरौं हौ हरि हारौं।
देव! द्रवित ह्वै दया दृष्टि सौं मोतन नैकु निहारौ।।
दयौ परयौ जो अचेतन में पिछिलौ पाप पसारौ।
उमड़ि उठत है पाइ राग–रंग विधि को तोरि किनारौ।।

x x x

तुम समरथ सर्वज्ञ दयानिधि बिगरी बात सम्हारौ।
जानि यहै सरनागति आयौ तारि सकौ तौ तारौ।।'[१]

राग मेघ मल्हार :

राग मेघ मल्हार वर्षा ऋतु का राग है, इसे हर समय गा सकते हैं। 'विरहिणी' महाकाव्य में कहीं–कहीं इस राग का स्वाभाविक प्रयोग कवि ने किया है। यथा –

'उग आये, अंकुर उग आये,
पुलक धरित्री ने भी पाये।
मैं अभागिनी पंथ निहारूँ, कब आवें मेरे मन–भाये।

x x x

दाह–दग्ध पृथिवी की पीड़ा, देख जगी नायक उर–व्रीड़ा,
दुखी हो उठे चले ससंभ्रम विस्मृत सकल दिव्यता क्रीड़ा।
दूर–दूर थे, पर दुख हरने आये द्यावा सैन्य सजाये।'[२]

यमन राग :

'विरहिणी' महाकाव्य में कहीं–कहीं यमन राग का भी प्रयोग किया गया है जहाँ पर जीवात्मा अवसाद और नैराश्य के क्षणों में रात्रि की शून्यता से आकम्पित हो रही है। यथा –

---

१. भागवती आभा, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ0सं0 १३६
२. विरहिणी, आचार्य मुंशी राम शर्मा 'सोम', पृ0सं0 ७०

'यह नीरव संध्या, श्याम याम,

इसके पीछे आती कोई काली–काली विकलांग वाम।

भय से खग भाग रहे घर को, पशु–कीट–वनस्पति भयाक्रान्त,

अवसाद छा रहा पृथिवी पर सब क्रिया–कर्म एकान्त शान्त।

निस्पन्द वायुमंडल में यह कटु संवेदन की साँय–साँय,

हृत्तारों को छू–छू जाती उपजाती भीषण भाँय–भाँय।'[1]

भैरव राग :

इसकी उत्पत्ति भैरव थाट से मानी गई है। इसमें रिषभ और धैवत स्वर कोमल लगते हैं। प्रातःकाल चार से सात बजे तक इसे गाया–बजाया जाता है। यह सम्पूर्ण जाति का राग है। अतः यह स्पष्ट है कि इसके आरोह–अवरोह में सातों स्वर प्रयोग किये जाते हैं। 'विरहिणी' महाकाव्य में इस राग का प्रयोग कवि शर्मा ने किया है जिसका एक उदाहरण इस प्रकार है –

'आया था वह प्रात चितेरा प्रिय छवि अंकित करता,

अंग–अंग में रंग–रंग की अभिनव आभा भरता,

केश फुनगियों में उल्लेखित, अधर उषा–अरुणाई,
नयन कमल में तारक अलि में चित्रित सुन्दरताई।'[2]

परमेल प्रवेशक राग :

यह राग आने वाले रागों के लिये इंगित करता है। 'विरहिणी' में एक स्थल पर इस राग का प्रभाव देखा जा सकता है –

'तारक लुक–छिप करते जाते,

क्या तुम भी मुझसे भय खाते ?

दिनभर की थकी पकी पीड़ा, मैं स्वयं त्रस्त, अपरूप ग्रस्त,

संध्या में बिखरी अलक देख, हो उठे संकुचित–भीत–त्रस्त।

---

१. विरहिणी, आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ६६
२. विरहिणी, आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ६६

तुम अभी–अभी रजनी–मुख पर अभिनव–अभिनव से छाये हो,
यह बाल रूप है छुई मुई, पड़ गई दृष्टि, सकुचाये हो।
क्या इसीलिये हो शरमाते ?
नभ नहीं, अरे यह निशा–विरहिणी का है उर–उत्ताप भरा,
तारका नहीं, ये विस्फुल्लिंग, जिनमें दहकता–शाप भरा।'[१]

इस प्रकार संगीतात्मकता की दृष्टि से कवि सोम की सभी कवितायें गेय रचनायें हैं। इन उपर्युक्त रागों का स्वाभाविक सौन्दर्य कवि सोम की कविताओं में देखा जा सकता है। कवि ने इनके लिये सप्रयास चेष्टा नहीं की है।

मुक्तक रचना विधान :

काव्य रचना के दो पक्ष होते हैं – आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक पक्ष का सम्बन्ध कवि के मन से होता है, बाह्य पक्ष का सम्बन्ध दृश्यमान जगत से। अन्य शब्दों में आन्तरिक पक्ष मानस रचना और बाह्य पक्ष भौतिक रचना के अन्तर्गत आता है। रचना प्रक्रिया में कवि रस विशेष के अनुरूप विषय आदि का सन्धान करता है। जिस काव्य में वस्तु, चरित्र और वातावरण के माध्यम से रस की प्रतीति कराई जाती है उसके लिये 'प्रबन्ध' शब्द का प्रयोग होता है। जब कवि स्वानुभूति को सृष्टि के रागात्मक सम्बन्ध के परिप्रेक्ष्य में अभिव्यक्ति देता है तो ऐसी रचना प्रगीत अथवा मुक्तक काव्य के अन्तर्गत आती हैं। हिन्दी में प्रगीत शब्द का व्यवहार अंग्रेजी के लिरिक के अनुवाद के रूप में प्रचलित है। हडसन के अनुसार – 'लिरिक मूलतः वाद्य यंत्र पर गायी जाने वाली कविता है।'[२] मुक्तक रचना विधान की तात्विक विवेचना आधुनिक युग में ही हुई। आलोचना शास्त्रियों ने मुक्तक रचना विधान के मुख्य तत्व निर्धारित किये हैं –

आत्माभिव्यक्ति :

मुक्तक रचना विधान में व्यक्तिगत भावों की प्रधानता होनी चाहिए। इसमें कवि

---

१. विरहिणी, आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ७३
२. The study of literature - W.H.Hudson, Page no. 126 (2nd edition)

स्वयं भाव का आश्रय होता है। आत्मा की निर्विकार अभिव्यक्ति मुक्तक का प्राण तत्व है। आचार्य मुंशीराम शर्मा की अधिकांश कविताओं का स्थायी भाव भगवद् रति है। उसमें भी दास्य–भाव प्रधान है। दास्य रति में भक्त शरणागत होता है। यह शरणागति भक्त का अभीष्ट है। यह शरणागति छः प्रकार की है –

१. भगवान के अनुकूल रहने का संकल्प

२. प्रतिकूलता का त्याग

३. भगवान द्वारा रक्षा में विश्वास

४. रक्षक रूप में भगवान का स्मरण

५. आत्मसमर्पण

६. दीनता

आचार्य शर्मा की आत्माभिव्यक्ति 'भागवती आभा' की कविताओं में यत्र–तत्र परिलक्षित है –

करो करुणा, हे करुणाकन्द।
चरण शरण में पड़े हुए हम महा मलिन मति मन्द।।
घर बाहर सब उजड़ रहा है, कहीं न छविमय छन्द।
स्वैर, सुरापी, मत्त मतंगे घूम रहे निर्द्वन्द्व।।

x x x

तुन्हीं दिखाओ दिशा, दयानिधि! भागे बाधा–वृन्द।
करें सुवासित फैल हमारा पूत चरित–मकरन्द।।[1]

x x x

दंड भोगने आया, मैं तो दंड भोगने आया।
रहते आँख बना था अंधा, सत पथ देख न पाया।।[2]

'विरहिणी' महाकाव्य में जीवात्मा के माध्यम से कवि की आत्माभिव्यक्ति सर्वत्र

---

१. भागवती आभा, आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १०५ – १०६

२. भागवती आभा, आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', पृ०सं० १६६

परिलक्षित है।

रागात्मकता :

अनुभूति की रागात्मकता से तात्पर्य है – अनुभूति में व्यक्तिगत उत्तेजना। प्रगीत के कोमल कलेवर में निष्क्रिय क्षणों की अभिव्यक्ति नहीं होती उसमें उत्तेजनात्मक क्षणों का भावांकन होता है, अतः प्रगीत अथवा मुक्तक की सफलता के हेतु अनुभूति का रागात्मक होना नितान्त आवश्यक है। 'विरहिणी' महाकाव्य में अनुभूति की तीव्र मार्मिक उत्तेजनात्मक अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। यथा –

'कब से भीषण भव–यात्रा में, एकाकी दुख झेला,
तुम्हीं बता दो, इस जीवन की कहाँ सुमंगल बेला ?
मथुरा से गोकुल की दूरी, कहो दूर कब होगी ?
कब दर्शन–वाणी से मुकुलित हो आश्वस्त वियोगी ?'[1]

संक्षिप्तता :

संक्षिप्तता मुक्तक रचना विधान का बाह्य गुण है। तीव्रता और अनुभूति के एकान्त प्रवाह के लिये गीत का आकार छोटा होना चाहिए। संक्षिप्तता गीत को प्रभावपूर्ण और भाव को अखंड बनाये रहती है। इस अखंडता के कारण पाठक के मन पर अंग रूप और अंगी भावों का अन्वित प्रभाव पड़ता है। समाहित भावना के कारण अनुभूति की तीव्रता, लयात्मक संवेदनशीलता और चित्र की स्पष्टता में बाधा नहीं पड़ती।

'भागवती आभा' की कविताओं में संक्षिप्तता का यह गुण देखा जा सकता है –

'पाकर तेरा पावन प्रसाद।
मैं मुक्त हुआ इस बन्धन से, ले रहा आज आनन्द–स्वाद।।
हैं निकल रहे इस जिह्वा से तेरे ही प्रभुवर! यशोगान।
तू शुद्ध हृदय भी शुद्ध मिले दोनों ही पावन पय समान।।

---

१. विरहिणी, आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ७१

तू अडोल व्रत, अडिग नियम, है आज दास डर भी अविचल।
सुस्थिर को कौन हटा सकता, कब मिटी पर्वती रेख अटल ?
हे देव अनुग्रह हो ऐसा, मैं तेरा परम प्रसाद–पात्र।
अपने जीवन भर बना रहूँ, बस याद रहे तू एक मात्र।।
तेरा ही आराधन साधन, सुख–साध्य बने तेरा वन्दन।
तू मेरा, मैं तेरा शाश्वत, सम्बन्ध बने जीवन–नन्दन।।'[1]

प्रबन्ध योजना :

प्रबन्ध योजना की चर्चा विस्तार से 'विरहिणी महाकाव्य : काव्य संदेवना एवं वर्ण्य' के अन्तर्गत कर दी गयी है। यहाँ यही कहा जा सकता है कि आचार्य सोम की प्रबन्ध योजना एक प्रौढ़ कवि की काव्य प्रतिभा की परिचायिका है। बारह सर्गों में लिखा गया यह आध्यात्मिक काव्य जीवात्मा एवं परमपुरुष के सम्मिलन को ही दर्शाता है। प्रेम और विरह ही इस काव्य के मूल स्वर हैं। संक्षेप में 'विरहिणी' महाकाव्य में भले ही महाकाव्य की रीतियों का परिपालन एवं निर्वहण न हो पाया हो परन्तु उदात्त भाषा, कथ्य एवं भाव विचार आदि से यह श्रेष्ठ महाकाव्यों की श्रेणी में प्रस्तुत किया जा सकता है।

इस प्रकार समग्र विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कवि सोम ने अपनी काव्य रचनाओं में अपने काव्य के अनुरूप अलंकार, प्रतीक, बिम्ब, छन्द, संगीतात्मकता, मुक्तक रचना एवं प्रबन्ध योजना आदि का स्वाभाविक एवं सहज प्रयोग किया है। इस प्रयोग में कहीं–कहीं कवि की कविता द्विवेदी युगीन काव्यादर्शों का संस्पर्श करती हुई दिखाई देती है तो कहीं उनकी प्रतीकात्मकता एवं बिम्ब योजना में छायावादी कविता की अनुगूँज भी सुनाई देती है। इस प्रकार कवि सोम की कविता शिल्प–विधान की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि की है।

*****

---

१. भागवती आभा, आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', पृ0सं0 १८६

अध्याय ७

उपसंहार

७

उपसंहार

आचार्य पंडित मुंशीराम शर्मा 'सोम' बहुमुखी प्रतिभा के विद्वान हैं। उनमें तलस्पर्शी विद्वता और कवि सुलभ सहृदयता का अद्‌भुत समन्वय है। उनके महिमामय व्यक्तित्व में कई विविधताओं का सम्मिश्रण है। वे जहाँ एक ओर वेदों के अधिकारी व्याख्याता हैं वहीं दूसरी ओर 'विरहिणी' ऐसे सरस काव्य के प्रणेता भी हैं। तत्व ज्ञान और काव्य का ऐसा मणिकांचन संयोग अन्य किसी भी कवि में विरल ही है। इसी प्रकार

उनके व्यक्तित्व में प्राचीनता एवं आधुनिकता का एक आश्चर्यजनक सम्मिश्रण है। 'आर्य धर्म', 'प्रथमजा', 'संध्या चिन्तन', 'पुरुष सूक्त', 'वेदार्थ चन्द्रिका', 'वैदिक संस्कृति और सभ्यता', 'वैदिकी' आदि ग्रन्थ जहाँ उन्हें एक ओर प्राचीनता का पोषक स्वीकार करने के लिये पर्याप्त हैं, वहीं दूसरी ओर 'जीवनगीत', 'सोमसुधा' और 'भागवती आभा' जैसी काव्य रचनायें उनकी क्रान्तिकारी राष्ट्रीय विचारधारा और प्रगतिशील दृष्टिकोण की परिचायिका हैं।

इस के अतिरिक्त उनकी साहित्य सृष्टि में द्विवेदी युग के काव्यादर्शों की प्रतिच्छाया भी परिलक्षित होती है। द्विवेदी युग की आदर्शप्रियता, नीतिवादिता एवं जीवन के उच्चादर्श, भरतीय संस्कृति के प्रति आस्थावादी दृष्टि उसकी उल्लेखनीय विशेषतायें हैं। आचार्य शर्मा की काव्य रचनाओं में उसकी स्पष्ट झलक दिखाई देती है। 'भागवती आभा' काव्य की अधिकांश रचनाएं उन सभी आदर्शों से समाविष्ट हैं। कहीं–कहीं शिल्प की दृष्टि से भी रचनायें द्विवेदी युगीन काव्य भाषा के सन्निकट हैं। 'सोमसुधा' काव्य संकलन की कवितायें द्विवेदी युग और श्रीधर पाठक का स्मरण कराती हैं। इसी प्रकार छायावादी काव्य की झलक आचार्य शर्मा रचित 'विरहिणी' महाकाव्य मे परिलक्षित होती है। काव्य की दृष्टि से भी 'विरहिणी' की कथा सूक्ष्म है किन्तु उसका विस्तार 'कामायनी' की प्रौढता एवं परिपक्वता लिये हुए है।

वेदवती आचार्य 'सोम' का चिन्तन स्रोत

श्रुति भगवति :

वैदिक साहित्य का गम्भीर अनुशीलन करने वाले आचार्य कवि सोम ने उसे अपने साहित्य, सनाज और संस्कृति के धरातल पर सम्यक रूप में परखा और सामान्य जन एवं साहित्य पिपासुओं के लिये सुलभ एवं आस्वाद युक्त बनाया। उनकी शिक्षा का समारम्भ वैदिक वायुमण्डल में हुआ, पर ओरियण्टल कॉलेज, लाहौर, जैसी शिक्षण संस्था का छात्र होने के कारण आपने भारतीय संस्कृति को पाश्चात्य के आलोक में परखने का प्रयत्न किया। इसके परिणाम स्वरूप राजा राममोहन राय, रवि बाबू, विवेकानन्द, लाला लाजपतराय आदि के समान उन्होंने भी प्राच्य और प्रतीच्य का संगम भारतीय संस्कृति में

किया। उनकी प्रथम कृति 'प्रथमजा' से लेकर प्रौढ़तम रूपक काव्य 'विरहिणी' तक जो विविध वाङ्मय का वितान प्रसारित है, वह उनकी उस व्यापक दृष्टि का बोधक है जो विभिन्न देश कालों में विकसित हुई मानवात्मा के एकत्व का दर्शन करना चाहती है। उनके विचारपरक लेखों, साहित्यिक समीक्षाओं, शोधपरक प्रबन्धों, भावोच्छ्वसित गीतों और साहित्य शास्त्रीय विवेचन में एक जागरूक मनीषी की मुक्त दृष्टि सक्रिय है, पर उस दृष्टि के क्षितिज के दोनों छोर वैदिक ज्ञान के ही आलेक से आलोकित और वेदमाता के स्वस्त्ययन से ही अनुप्राणित हैं। यथा विरहिणी काव्य की भूमिका में –

"वेदमंत्रों के सतत् परायण एवं अनुभावन से उनके शब्द, विचार तथा भाव अन्तस्तल में ऐसे रम गये हैं कि वे भाषण, लेख, कविता आदि में अनायास आ जाते हैं।"[1]

सोम जी की कृतियों में कहीं भी उनके कट्टर आर्यसमाजी प्रचारक होने का आभास नहीं होता वरन वे एक संस्कारी साहित्यकार की सारग्राहिता, समन्वय, और उदार प्रवृत्ति से सम्पन्न हैं। वेदानुशीलन से उपलब्ध व्यक्तित्व की उदारता ने ही उन्हें सब धर्मों से ऊपर मानव धर्म को पहचानने का अभ्यासी कराया है। इसी औदार्य की प्रेरणा से उन्होंने भक्तिभावना को सामयिक लहर या आन्दोलन के रूप में न देखकर वैदिक काल से अद्यतन भारतीय जनमानस में प्रवाहित होते चले आने वाले विश्वहितकारी महानद के रूप में देखा है। सोम जी ने वैदिक विचारधारा को साम्प्रदायिकता से मुक्त कर साहित्य का सामरस्य और विशदता प्रदान की है। इस दृष्टि से उनका सुप्रसिद्ध एवं लोकप्रिय शोधग्रन्थ् 'भक्ति का विकास' भारतीय साहित्य, संस्कृति और दर्शन के लिये एक अत्यन्त सहृदय सच्चे आर्यसमाजी का अनुपम उपहार है। आर्यसमाजी दर्शन में भावुक भक्ति को प्रतिष्ठित कर उन्होंने ऋषि दयानन्द की बौद्धिक विचार–पद्धति का वैष्णव आचार्यो वल्लभ, रामानन्द आदि की भावनामयी साधना के साथ तारतम्य मिलाकर साहित्यकार की समन्वय कला का सफल प्रकाशन किया है।

'भक्ति का विकास' में जो कार्य उन्होंने विश्लेषण और विवेचन की गद्य शैली में

---

१. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', विरहिणी (आमुख भाग)

किया है, वही 'विरहिणी' महाकाव्य में भावना और कल्पना की छन्द शैली में किया है। आत्मा में प्रणयिनी और विरहिणी की कल्पना का स्रोत आदि भारतीय वाङ्मय ऋग्वेद में प्राप्त कर उन्होनें इस रूपक काव्य का ताना बाना प्रसारित किया है।

"जैसे पति को प्यार करने वाली पत्नी अपने पति का आलिंगन करती है उसी प्रकार आनन्द की कामना से संयुक्त मेरी मतियाँ, निखिल बुद्धियाँ, समस्त स्तुतियाँ, उसी परम प्रभु का स्पर्श कर रही हैं।"[१]

इस काव्य में आख्यायिका का माध्यम नहीं है। स्वयं कवि के शब्दों में "इसके ढाँचे में वैदिक शैली का ही प्राधान्य है।" इस प्रकार 'भक्ति का विकास' में वैदिक विचार तत्व का युग सापेक्ष अनुसन्धान है और 'विरहिणी' में वैदिक भावतत्व का युग सापेक्ष आस्वादन। शोध कृति में वैदिक दर्शन की गवेषणा और काव्य कृति में उसकी व्यवहारिक अनुभूति।

साहित्य सेवी 'सोम' का कवि व्यक्तित्व :

पण्डित जी के समस्त सृजन प्रयासों में कवि ही ओत प्रोत है। यह बात दूसरी है कि उनकी ख्याति कवि के रूप में न होकर सिद्ध शोधक और कुशल समीक्षक के रूप में हुई, पर उनका शोधक समीक्षक वस्तुतः उनके कवि रूप का गद्य आवरण ही है। इसलिये वे भक्ति के उद्भव और विकास तथा सूर साहित्य की समीक्षा के प्रति विशेष उन्मुख रहे और उस क्षेत्र में मौलिक निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं। यही बात अनेक प्रबुद्ध समीक्षकों के कृतित्व में पाई जाती है – पं० रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० नगेन्द्र, मैथ्यू आर्नाल्ड आदि। इनकी समीक्षा में कवित्व की मिठास है क्योंकि उसके मूल में एक कवि का निवास है।

'सोम सुधा' के निवेदन में उनके आत्मकथ्य से ही उनके कवि व्यक्तित्व का

---

१. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', विरहिणी (भूमिका)

आभास मिल जाता है। दर्शनीय –

"मैं, जब छोटा था, तेरह, चौदह वर्ष का था, तभी से पद्य रचना के प्रति मेरी अभिरुचि रही है। उन दिनों के बनाये हुए चौपाइयाँ, छप्पय, दोहा, सोरठे, रोला, कुण्डलियाँ तथा जिकड़ी भजन अब भी कहीं पड़े होंगे। ....इन तथ्यों पर जब आज विचार करते हैं तो भी प्रतीत होता है कि कोई कवि इस जीवन के साथ लगा रहा है।"

छात्र जीवन में उदित हुआ कवि अध्यापकीय जीवन में प्रौढ़ होकर और अधिक गम्भीर हो गया और रूपात्मक आध्यात्मिक काव्य की रचना एवं शोध, समीक्षा के गुरुतर आवरण में एकान्तवासी बन बैठा।

शर्मा जी के काव्य ग्रन्थों में हिन्दी काव्य आधुनिक युग की अनेक प्रवृत्तियाँ प्रबल स्मारक के रूप में विद्यमान हैं। उनकी काव्य कृतियों में भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, और छायावादी युग की अन्तर्ध्वनियाँ व्याप्त हैं। भक्तों का भगवत कीर्तन, द्विवेदी युग – राष्ट्रीय भावना, छायावादी युग की सांकेतिक शैली क्रमशः उनकी 'श्रुति संगीतिका', 'सोम सुधा', 'विरहिणी' में दिखाई पड़ती है।

मुंशी जी ने 'सोम सुधा' में द्विवेदी युगीन सृजनात्मक प्रवृत्तियों को संकलित किया है। इस काव्य संकलन के 'राष्ट्रीयता' खण्ड में कवि की 'अखण्ड भारत', 'विदिशा', 'राजस्थान', 'नेपाल', 'आबू के बादल', 'भारतमाता', 'जय एशिया' जैसी कवितायें समाहित हैं जो उत्तर भारतेन्दु और पूर्ण द्विवेदी युग के वातावरण की झलक प्रस्तुत करती हैं। 'प्रकृति' खण्ड की कवितायें भी द्विवेदी युग और 'श्रीधर पाठक' का स्मरण कराती हैं।

चारों ओर श्वेत पद बीच में नखत मणि
राजि रही राजी रमणीयता रमा बनी।
देखो नायिका सी निज नायक सितांशु साथ,
आई ऋतु शरद सुहानी मनभावनी।

'चरित खण्ड में कवि ने महाभारत के महापुरुषों से लेकर भारतीय इतिहास पुरुष,

स्वतंत्रता सेनानी, आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध नायकगण, हिन्दी तथा भारत के प्रसिद्ध लेखक एवं कविगण (तुलसी दास, भारतेन्दु, कवीन्द्र रवीद्र, नवीन, मैथिलीशरण) के प्रति भावनरित श्रद्धान्जलि अर्पित की है। सोम सुधा का यह खण्ड मुसद्दसे हाली एवं मैथिलीशरण की भारत भारती की अन्तश्चेतना की ओर ध्यान आकृष्ट करता है। इस रचना की भाषा शैली में भी कवि 'कवि-वचन-सुधा' और 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं के प्रादुर्भावकालीन किशोर परिलक्षित होते हैं। भाषा का चयन खड़ी बोली, ब्रज और अवधी तीनों क्षेत्रों से किया गया है।

सोम जी के काव्य की प्रौढ़तम काव्यकृति है 'विरहिणी'। यह एक आध्यात्मिक रूपात्मक महाकाव्य है। अतः स्वाभाविक है कि सामान्य पाठक के आकर्षण की सामग्री इसमें नहीं है पर इसकी रचना अन्तःप्रेक्षित है। इसमें 'पावरफुल फीलिंग्स' निस्सन्देह हैं, यद्यपि 'स्पान्टेनियटी' का अभाव है, जो कि रूपक के ढाँचे में सम्भव भी नहीं है। 'विरहिणी' में फेयरी क्वीन, पैराडाइज लास्ट, डिवाइन कामेडी, प्रबोध चन्द्रोदय, पद्मावत, विनय-पत्रिका, कबीर-बीजक, कामायनी, लोकायतन आदि कृतियों का रूपात्मक आध्यात्मिक रस छलक उठा है। इसे हिन्दी की रहस्यवादी परम्परा का अभिनव प्रयोगयुक्त महाकाव्य कहा जा सकता है।

शर्मा जी की समीक्षा दृष्टि एवं भक्ति काव्य :

आचार्य 'सोम' साहित्य-चिन्तन के उद्गम स्रोत हैं। उनका मानस नित्य नवीन उद्भावनाओं का उत्पत्ति केन्द्र है। वैदिक वाङ्मय से लेकर भक्ति संहिताओं और पुराणों में से गुजरते हुए भक्ति काल तक भक्ति की अनवरुद्ध धारा का प्रकाशन करके उन्होंने भक्तिकाव्य की सर्वांगीण समीक्षा के लिये एक आधारभूमि प्रस्तुत कर दी। पंडित जी की समीक्षात्मक कृतियों को चार भागों में बाँटा जा सकता है – शोधात्मक समीक्षा, सैद्धान्तिक समीक्षा, विश्लेषणात्मक समीक्षा और व्याख्यात्मक एवं टीका समीक्षा। 'भक्ति का विकास' और 'भारतीय साधना और सूर साहित्य' उनकी शोधात्मक समीक्षायें हैं, 'साहित्य-शास्त्र' विशुद्ध सैद्धान्तिक समीक्षा है, 'सूरदास और भगवद् भक्ति', 'सूर सौरभ' तथा 'सूरदास का काव्य वैभव' और 'तुलसी का मानस' विश्लेषणात्मक समीक्षायें हैं, और 'कबीर-वचनामृत'

तथा 'पद्मावत' (सटीक) आदि व्याख्यात्मक टीका समीक्षायें हैं। इससे स्पष्ट होता है कि पंडित जी मध्यकालीन हिन्दी कविता के ही समीक्षक हैं, पर उस समीक्षा की आधार भूमि वैदिक वाङ्मय से आरम्भ हुई है।

भक्ति काव्य की समीक्षा में भी पंडित जी प्रमुखतः सूर के समीक्षक हैं, जिन पर उन्होंने तीन कृतियों का प्रणयन किया है। सूर–सौरभ में सूर के जीवन वृत्त के अतिरिक्त उनकी भक्ति और काव्य की विशेषताओं का विवेचन है : 'भगवद् भक्ति और सूरदास' में उनकी भक्ति की विशेषताओं का तथा 'सूरदास का काव्य वैभव' में उनके काव्य की विशेषताओं का। इस प्रकार सूर साहित्य की एक समग्र समीक्षा इन तीनों कृतियों में उपलब्ध हो जाती है। काव्य वैभव में सूर कवित्व में अनेक मौलिक पक्षों का विशिष्ट विस्तार किया गया है। यथा वृत्ति, गुण और शब्द शक्तियों का विवेचन, सूर के पदों में छन्द व्यन्जना, वस्तु–चित्रण, गति चित्रण आदि। सूर की छन्द योजना का इतना सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन अन्य समीक्षकों ने नहीं किया है।

'तुलसी का मानस' तुलसी वाङ्मय की समीक्षा के इतिहास में एक क्रान्तिकारी कृति प्रतीत होती है। इसमें पण्डित जी ने मानस विषयक आस्थाओं को साहसपूर्वक झंझोरा है और तुलसी के योगदान को संतुलित हृदय बुद्धि से फिर से परखने की प्रेरणा दी।

शर्मा जी ने व्याख्यात्मक टीका समीक्षायें छात्रों की दृष्टि से लिखी हैं, पर उनमें स्वाध्याय और उच्च अध्यापकीय स्तर निरन्तर बना रहा है। इनकी प्रस्तावनायें स्वतंत्र प्रबन्ध जैसी हैं और लेखक के भक्ति विषयक शोधात्मक और समीक्षात्मक विचारों का ही प्रसारण है। 'भक्ति का विकास' शीर्षक प्रबन्ध में पंडित जी ने भक्ति काल के जिन चार प्रतिनिधि कवियों पर विचार किया था, उनमें से सर्वाधिक महत्व सूर को दिया गया है, तदनन्तर तुलसी को। कबीर और जायसी पर अनेक समीक्षात्मक विचार इनके काव्य की टीका प्रस्तावनाओं में प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त संतुलित विचाराभिव्यक्ति और स्तरीय भाषा शैली का आदर्श भी छात्रों के सम्मुख आया है। इन प्रस्तावनाओं में परिचय, गवेषणा

और विश्लेषण का सम्मिश्रण दृष्टिगोचर होता है, जो कि छात्रों को समीक्षा पथ पर पहुँचाने में सहायक है। आलोचना में कवित्व का पुट देकर उसे सरस बनाने की शैली भी इनमें दृष्टिगोचर होती है, यथा –

"कबीर की आध्यात्मिक विचारधारा उपनिषदों की ज्ञानराशि रूपी हिमालय से निकलकर विभिन्न मतों की सरिताओं को आत्मसात् करती, वैराग्य और गृहस्थ जीवन के कूलों से टकराती, राह की शुष्क बालुकारूप शास्त्रीय अविज्ञता और सामाजिक मलिनता को बहाती हुई विह्वलतापूर्वक अपनी लहरो में ही उठती गिरती प्रेम के चेतना समुद्र की ओर ही बढ़ती जाती है।"[१]

शर्मा जी की समीक्षा दृष्टि में तुलसी मानस :

'तुलसी का मनास' विषयक इक्कीस छोटे बड़े निबन्धों का संग्रह है, जिनमें दार्शनिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक सभी दृष्टियों से इस कृति को पूर्वाग्रह विमुक्त होकर नये सिरे से परखने का प्रयास किया गया है। वैदिक वाङ्मय के प्रकाण्ड पंडित होने के नाते लेखक ने रामचरित मानस को घेरने वाली अंध श्रद्धा पर पहली बार खुलकर वार किया है। तुलसी को निस्सन्देह हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ और भारत का महान कवि मानते हुए भी, उन्होंने तुलसी के भक्तिवाद, उस भक्ति में निहित दुराग्रह तत्व और तुलसी के नारी विषयक विचारों का स्पष्ट भाषा में निर्भीक विवेचन किया है। यथा –

१. "मानस का प्रचार धर्मग्रन्थ के रूप में हुआ। पाठक उसे श्रृद्धा से पढ़ते हैं। अखण्ड रामायण का पाठ चलता है, पर उसमें अंकित अनेक बातें मेरे जैसे वैदिक वातावरण में पले हुए जिज्ञासुओं को खटकती हैं। बालकाण्ड के दोहा ११४–११५ तक जो शब्द राम को ब्रह्म नहीं, दशरथ पुत्र मानने वालों के लिये प्रयुक्त हुए हैं, वे किसी भी सन्त के मुख से नहीं निकल सकते। यदि कोई पुरुष हमारी मान्यता से मेल नहीं खाता, तो क्या हम उसे अपशब्दों द्वारा प्रताड़ित करेंगे? तुलसीदास के ये शब्द प्रत्येक सहृदय के हृदय पर चोट करते हैं।"[२]

---

१. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', कबीर वचनामृत (भूमिका अंश)
२. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', 'तुलसी का मानस', आमुख, पृ०सं० १३

२. तुलसी के भावों और विचारों के अनेक विरोधाभासों को पण्डित जी ने लक्षित किया है। उदाहरण के लिये लंका में राम जिस कारण रावण की छाती में बाण नहीं मारते, उस कल्पना की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए पण्डित जी लिखते हैं –

"यदि राम रावण के हृदय में बाण मारेंगे तो विश्व भर नष्ट हो जायेगा। इस कल्पना को क्या कहें? राम को ईश्वर का रूप सिद्ध करने की तुलसी की धुन या हठ?"[१]

३. मानस के भक्ति तत्व, देवगण और स्वर्ग आदि की कल्पना में अवैदिक अंशों का समावेश प्रकट करते हुए पण्डित जी ने कहा है –

(क) "ऐसे हैं मानव के देवता–नीच, कुचाली, ईर्ष्यालु मुनियों के तप में भी विघ्न डालने वाले। कहाँ देवों का दिव्य वैदिक वातावरण और कहाँ पुराणों तथा मानस के देवों का यह कलुषित वातावरण।"[२]

(ख) "मानस में भक्ति का जो रूप दिखाई देता है, उसमें वैदिक तथा अवैदिक दोनों रूप मिले हुए हैं।"[३]

४. तुलसी के कट्टर भक्ति–प्रचार को भी नापसन्द करते हुए उन्होंने लिखा है –

"इतिहास में ऐसे महापुरुष भी देखे गये हैं जो परमात्मा तथा आत्मा तक के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते थे। इस युग में कार्ल मार्क्स ऐसे ही महापुरुष थे। महात्मा बुद्ध से भी हम परिचित हैं। वे भी ईश्वर विश्वासी नहीं थे। पर इन महापुरुषों का जीवन न जाने कितने व्यक्तियों के लिये आदर्श बना। यदि कोई व्यक्ति भक्त नहीं है, परन्तु सदाचार का जीवन व्यतीत करता है, तो क्या हम उस पर आक्षेपों की बौछार करेंगे ?"[४]

५. तुलसी के नारी विषयक विचारों के प्रति भी लेखक ने विक्षोभ व्यक्त किया है। भरत के द्वारा कैकेयी के प्रति कहे गये शब्दों को उन्होंने तुलसी जैसे मर्यादावादी कवि

---

१. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', 'तुलसी का मानस', आमुख, पृ०सं० ९०
२. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', 'तुलसी का मानस', आमुख, पृ०सं० ११९
३. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', 'तुतसी का मानस', पृ०सं० १३६
४. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', 'तुलसी का मानस', पृ०सं० १५६

और एक शिष्ट समाज के लिये सर्वथा अवांछनीय माना है।[1]

इस सम्बन्ध में, डॉ0 नगेन्द्र आदि अनेक समीक्षकों के समान, उनका भी विचार है –

"तुलसी के हृदय में मातृशक्ति के सम्बन्ध में कोई हीन ग्रंथि भी अवश्य रही होगी, अन्यथा वे ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं कर सकते थे। तुलसी ने इसी हीन ग्रन्थि के कारण नारी के सम्बन्ध मे अपने जो विचार प्रकट किये हैं, वे सर्वथा लांछन सदृश ही हैं।"[2]

इसमें सन्देह नहीं कि जिस प्रकार पंण्डित जी का मौलिक शोध 'भक्ति का विकास' में और मौलिक कवित्व 'विरहिणी' में दृष्टिगोचर होता है उसी प्रकार मौलिक समीक्षा 'तुलसी का मानस' में दृष्टिगोचर होती है। उनकी मानस विषयक समीक्षा अनेक आधुनिक और अत्याधुनिक तुलसी समीक्षकों से कहीं अधिक आधुनिक और विचार प्रेरक हैं, क्योंकि उन्होंने उधार लिये हुए पश्चिमी चश्में या अपरिपक्व वैज्ञानिक दृष्टि से मानस की परख न करके शुद्ध भारतीय दृष्टि और वैदिक काल से अबाध आगत परम्परा के परिपक्व में मानस के पुनर्मूल्यांकन के द्वार उद्घाटित किये हैं।

साहित्य-संबोध के अनुचिन्तक आचार्य 'सोम' :

साहित्य मनीषी आचार्य प्रवर डॉ0 मुंशीराम शर्मा 'सोम' के व्यक्तित्व में सहृदय सर्जक, विवेकी विचारक और विशिष्ट व्याख्याता का असाधारण समाहार हुआ है। आप में सृजन, समीक्षा, और शोध का संगम है। साहित्य सृजन आपकी मूलवृत्ति है, अध्ययन–अनुचिन्तन आपका प्रमुख संस्कार है, संभाषण द्वारा जिज्ञासुओं में ज्ञान की ज्योति प्रदीप्त करना आपकी प्रकृति है। आपकी अनेक मौलिक काव्य कृतियाँ आपकी महान सहृदयता, उदात्त सरसता एवं मनोरम संकल्पना शक्ति की परिचायक हैं। 'साहित्य शास्त्र' पण्डित जी के हिन्दी–साहित्य–अध्यापन का एकत्र भण्डार है। इसमें उन्होंने प्राच्य और पाश्चात्य साहित्य–चिन्तन को सार रूप में प्रस्तुत किया है। साहित्य

---

१. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', 'तुलसी का मानस', पृ0सं0 १५८

२. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', 'तुलसी का मानस', पृ0सं0 १५५

सिद्धान्त को व्यापक रूप में समझने के लिये कुछ प्रमुख विषयों का चयन करके छोटे छोटे निबन्धों के माध्यम से स्नातकोत्तर कक्षा के छात्रों के लिये साहित्य की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। इसमें लेखक ने तार्किकता और विवादों से बचकर साहित्य शास्त्र के स्नातक को प्रेरणा पूर्ण दीक्षा प्रदान की है। साहित्य के स्वरूप और सिद्धान्त को अनेक अभिनव आधारों पर समझने का प्रयास, इस कृति में पुरातन के साथ नूतन को आमंत्रित करते हुए किया गया है। 'सांइस और साहित्य', 'काव्य का मनोवैज्ञानिक आधार', 'शैली (पाश्चात्य मत)', शैली (भारतीय मत), 'अकलात्मक शैली' आदि ऐसी शुद्ध नवीन दिशाओं की ओर पंडित जी ने इस कृति में दृष्टिपात किया है जिनसे प्रेरणा ग्रहण करके परवर्ती तरुण समीक्षकों ने हिन्दी के समीक्षाशास्त्र का विस्तार किया है।

पंडित मुंशीराम शर्मा जी ने अपने सम्पूर्ण जीवन दर्शन के लिये युग के अनेकानेक पाश्चात्य और भारतीय मनीषियों के विचारों का दोहन किया है। 'साहित्यशास्त्र' में भी साहित्य सम्बन्धी विविध प्रमुख विचार बिन्दुओं को समझने के लिये उन्होंने संस्कृत और हिन्दी के भी कुछ प्रवर समीक्षकों के अतिरिक्त पश्चिमी साहित्याचार्यों में मुख्यतः क्रोंचे, प्लेटो, अरस्तू, फ्रायड, जुंग, इलियट आदि को चुना है। क्रोंचे को उन्होंने प्रायः उद्धृत किया है। 'काव्य का स्वरूप' शीर्षक अध्याय में भारतीय और यूरोपीय साहित्यशास्त्रियों की परिभाषाओं का चयन बड़ा उपयोगी है।

वैदिक दृष्टि को वे निरन्तर आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि के साथ जोड़ते चले हैं और अनेक स्थलों पर साम्य का विवेचन किया है जिससे जीवन के शाश्वत और सार्वभौम तत्वों का बोध होता है। 'सांइस और साहित्य' शीर्षकनिबन्ध में उन्होंने 'साइंस की सर्वग्राहिणी महत्ता' को ललकारते हुए साहित्य की महत्ता को बहुत ऊपर घोषित किया है और स्वयं 'साइस की सत्ता' की रक्षा के लिये साहित्य को अनिवार्य माना है –

"आज की साइंस की गतिविधि ही बता रही है कि उसे साहित्य के नियन्त्रण की अत्यन्त आवश्यकता है। यदि साहित्य ने सहारा देकर उसे ऊँचा न उठाया, तो वैज्ञानिक आविष्कारों के नीचे दबी हुई मानवता की चीख, उसका हाहाकार और अदम्य पुकार साइंस के चिथड़े–चिथड़े उड़ा देंगे, उसे अनन्त काल के लिये दफना देंगे। साइंस

साहित्य के साथ रहकर ही फल फूल सकती है।"[1]

लेखक ने साहित्य और विज्ञान तथा अनेक सम्बन्धित विधाओं की आन्तरिक एकता को लक्षित करते हुए ज्ञान की अखंडता के बोध और अन्तर्विधायी शोध (इण्टरडिसिप्लिनरी रिसर्च) की आवश्यकता भी प्रकट की है। "हमारी शिक्षा के ये दो प्रमुख विभाग आर्ट और सांइस परस्पर मैत्री सम्बन्ध सूत्र को अपना कर ही श्रेयस्कर बन सकते हैं।"[2]

महामनीषी आचार्य 'सोम' - 'जीवन दर्शन' :

आचार्य मुंशीराम जी के व्यक्तित्व में अध्यापक, आलोचक, भक्त, कवि, विचारक, दार्शनिक, शोधक आदि व्यक्तित्वों का सहज–सुमंजु और समवेत सम्मिलन हुआ है। वे वैदिक मंत्रों के अर्थों के रस–किंजल्क के कुशल सुधीर गृहीता एवं भोक्ता हैं। प्राचीन भारतीय आर्य–जीवन के उल्लास, स्वातंत्र्य व आह्लाद के प्रति गहन आकर्षण उनकी चेतना के तंतु–तंतु में बसा जान पड़ता है। 'जीवन दर्शन' उनका एक दार्शनिक–नैतिक लेख–संग्रह है। "जीवन क्या है और उसे किन मार्गों द्वारा उन्नत किया जा सकता है, इस पर प्राचीन एवं अर्वाचीन उपादानों का मंथन करके जो कुछ मैं सोच सका, उसे ही इस संग्रह द्वारा उपस्थित कर रहा हूँ।" शर्मा जी ने अपने तत्व चिन्तन के लिये व्यापक ज्ञान–फलक चुना है–प्राचीनतम भारतीय दर्शन से लेकर आधुनिकतम विज्ञान तक, ऋचाओं से अणु तक। इस व्यापक फलक में उन्होंने अपने अखण्ड दिक्कालव्यापी विराट जीवन की झाँकी प्राप्त करने का प्रयास किया है। उसी झाँकी का आह्लाद 'विरहिणी' में झलक उठा है, उसी का प्रसाद 'जीवन दर्शन' में संग्रहीत हुआ है।

इस लेख संग्रह में अनेक सुप्रसिद्ध प्रतीच्य मनीषियों की चर्चा हुई है – अमानुअल कान्ट, नीट्शे, जेम्स जीन्स, कॉडवैल, स्पिनोजा, रूथरफोर्ड, एंडिंगटन, आइन्सटीन, प्लेटो आदि। 'साहित्य शास्त्र' के चिन्तन में भी अनेक पश्चिमी विचारकों के सहयोग की चर्चा

---

१. साहित्य शास्त्र, आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', पृ०सं० ११
२. तदैव

की गई है। यह प्राच्य (ईस्ट) और प्रतीच्य (वेस्ट) का समन्वित जीवन दर्शन प्राप्त करने की लालसा उनकी आत्मा में विवेकानन्द जैसे ऋषि और रवीद्र नाथ टैगोर जैसे कवि के आलोडन को सूचित करता है।

जीवन दर्शन के लेखों के शीर्षक ही अपने में इतने आकर्षक हैं कि उनमें निहित जीवन सूत्रों को पढ़ने और समझने की लालसा होती है, यथा –

पथ की ऊँचाई, युगनद्धता, आगे बढ़ो पर ऊँचे भी चढ़ो, पाप का घर्षण और पुण्य का उत्कर्ष, षोडशी, यज्ञिय नाव, सर्वश्रेष्ठ जीवन की पूर्णिमा आदि। वैदिक चिन्तन और वैज्ञानिक चिन्तन का एक नमूना दर्शनीय है –

"वायरलेस वेव्स कई मील लम्बी होती है, एक्सरेज बहुत छोटी और कास्मिकरेज लम्बाई में उनसे भी बहुत ही छोटी, नाममात्र की। जिसे हम सामान्यतया प्रकाश कहते हैं – दीपक का प्रकाश, विद्युत का प्रकाश, वह इन लहरों की समकक्षता में अत्यल्प मूल्य रखता है। निरुक्तकार यास्क ने भी पृथ्वी स्थानीय अग्नि, अन्तरिक्ष स्थानीय विद्युत और द्यौ स्थानीय सूर्य प्रकाश में अन्तर माना है। कुछ–कुछ ऐसा ही अन्तर इन प्रकाश की लहरों में है।"[१]

बाहर और भीतर, फैलाव और गहराई, स्थूल और सूक्ष्म, मोशन और मैटर की आन्तरिक एकता को खोजते हुए पंडित जी ने स्पिनोजा एवं कान्ट से विचार सहयोग करते हुए लिखा है –

"आचार्य सोम – "फैलाव में भूः, भुवः, स्वः अर्थात् पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ तीन भौतिक लोक हैं। गहराई में सत्, चित, आनन्द अथवा प्राण, मन और बुद्धि तीन आध्यात्मिक अवस्थायें हैं। श्रुति एक को भुवन और दूसरे को धाम कहती है (धामानि वेद भुवनानि विश्वा)।"[२]

---

१. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', जीवन–दर्शन, पृ०सं० ७२
२. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', जीवन–दर्शन, पृ०सं० ८२

वर्तमान युग में हिन्दी भाषा में सोम जी का महाकाव्य 'विरहिणी' अवतरण और उत्क्रमण इन्हीं दोनों रूपों को अभिव्यक्ति देने के लिये रचा गया है। जो क्रम मिल्टन की कृति में हैं वही क्रम विरहिणी में विद्यमान है। महाकवि मिल्टन ने ग्रन्थारम्भ में वाग्देवी की स्तुति की है तो सोम जी ने ईश वंदना। मिल्टन ने 'पैराडाइज़ लॉस्ट' में नरक के भयावह दृश्य और उनके भीतर बन्दिनी क्षुब्ध आत्मा की व्यथा का मार्मिक वर्णन करते हुए स्वर्ग के सुख एवं सुषमा का आभास प्रदान किया है।

"Fare well, happy fields,
Where joy forever dwells ! hail, horrors I hail,
Infernal world and thou profoundest hell,
Receive thou new processor, one who brings."[1]

कविवर सोम ने बन्धन–पाशों से मुक्त होकर आनन्दानुभव से हर्षित जीवात्मा के आह्लाद का वर्णन करते हुए चतुर्दिक मंगलमय वातावरण का इस प्रकार चित्रण किया है –

"नभ प्रसन्न, प्रसन्न भू है, वायु नृत्य विभोर,
अग्नि विद्युत, सूर्य की द्युति का न ओर न छोर।
हर्ष के उन्मत्त जल के बीच बीचि–हिलोर,
कर रहे हैं तरु लता निज प्रेम व्यक्त अथोर।"[2]

'विरहिणी' महाकाव्य की जीवात्मा भी व्यथा भार से मुक्त होती हुई पूर्ण तृप्ति का अनुभव करती है –

---

१. आचार्य मुंशीराम शर्मा, साधना और सर्जना, 'मिल्टन एवं मनीषी' निबन्ध–डॉ0 गिरिजा शंकर मिश्र, पृ0सं0 ४१६
२. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', विरहिणी, पृ0सं0 १६५

"आज हर्षित है प्रकृति के अंग अंग अमेय,
आज माँ की कुक्षि सफला आज गायन गेय।
आज वह ऋण से उऋण है, आज निष्कृत देय,
आज उर–उर में भरा है सोम रस सा पेय।"[1]

मिल्टन और दांते ने पृथक–पृथक देश और भिन्न भिन्न काल से सम्बद्ध होते हुए भी क्रमशः अपने 'पैराडाइज़ लॉस्ट' और 'पैराडाइज़ रिगेन्ड' तथा 'डिवाईन कॉमेडी' में सहानुभूति की अभिव्यक्ति की है। यही वैचित्र्यपूर्ण साम्य हमें भारत में उत्पन्न कविवर डॉ० सोम की प्रख्यात कृति 'विरहिणी' में भी दृष्टिगत होता है।

समग्र विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आचार्य शर्मा का समग्र साहित्य परिपूर्णता का एक ज्वलन्त प्रमाण है। शोध प्रबन्ध के अन्तर्गत 'आचार्य शर्मा का साहित्य : संवेदना और शिल्प' का अनुशीलन करते हुए मुख्यतः मेरी दृष्टि काव्य पर ही रही है परन्तु प्रसंगवश उनकी अन्य गद्य कृतियों का संस्पर्श किया है जिससे कवि सोम की काव्य दृष्टि को पूर्ण समग्रता द्वारा जाना जा सके। आचार्य सोम की काव्य यात्रा अपूर्णता से पूर्णता, बन्धन से मुक्ति एवं अभाव से भाव की ओर रही है। आज के अनास्था, संशय एवं जीवन मूल्यों के विघटनकारी युग में उनकी कविताओं के स्वर निश्चय ही आस्था एवं संकल्प की अनुगूँज से परिपूरित हैं।

शोध प्रबन्ध में इन्हीं तथ्यों को प्रकाश में लाना हमारा अभीष्ट रहा है। कानपुर जनपद की गौरवमयी परम्परा को संवर्द्धित करने में आचार्य शर्मा का योगदान अप्रतिम है।

*****

१. आचार्य मुंशीराम शर्मा 'सोम', विरहिणी, पृ०सं० १६०

सहायक ग्रन्थ-सूची

हिन्दी :

१. आचार्य सोम, अभिनन्दन ग्रन्थ : साधना और सर्जना, प्रकाशक : ग्रन्थम, रामबाग, कानपुर।

२. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', आर्य धर्म, प्रकाशक : गोविन्द ब्रदर्स, अलीगढ़, सन् १६३७, पृ०सं० ६६।

३. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', प्रथमजा, प्रकाशक : आचार्य शुक्ल साधना : सदन, कानपुर, सन् १६५३, पृ०सं० १२४।

४. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', जीवन दर्शन, प्रकाशक : चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १६५८ पृ०सं० १०२।

५. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', संध्या चिन्तन, प्रकाशक : पं० विद्याधर, मंत्री, केन्द्रीय आर्य समाज, कानपुर, सन् १६५८ पृ०सं० ६४।

६. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', विकास पद्धति, प्रकाशक : पं० विद्याधर, मंत्री, केन्द्रीय आर्य समाज, कानपुर, सन् १६६१ पृ०सं० ६४।

७. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', पुरुष सूक्त, प्रकाशक : पं० विद्याधर, मंत्री, केन्द्रीय आर्य समाज, कानपुर, सन् १६६४।

८. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', वेदार्थ–चन्द्रिका, प्रकाशक : चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १६६७ पृ०सं० ३००।

६. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', वैदिक संस्कृति और सभ्यता, प्रकाशक : ग्रन्थम, रामबाग, कानपुर, सन् १६६८ पृ०सं० ३८२।

१०. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', वैदिकी, प्रकाशक : ग्रन्थम रामबाग, कानपुर, सन् १६७२ पृ०सं० ४७६।

११. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', विचार और विभूति, प्रकाशक : ग्रन्थम रामबाग, कानपुर, सन् १६८३ पृ०सं० ३०८।

१२. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', वैदिक चिन्तामणि, प्रकाशक : ग्रन्थम, रामबाग, कानपुर,।

१३. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', ओंकार, प्रकाशक : रामायण वेदान्त प्रेस, आर्य नगर,

कानपुर, सन् १६७६ पृ०सं० २२।

१४. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', चतुर्वेद मीमांसा, प्रकाशक : वैदिक शोध संस्थान डी०ए० वी० कॉलेज, कानपुर, अगस्त, सन् १६७८ पृ०सं० २१६।

१५. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', सूर–सौरभ, प्रकाशक : ग्रन्थम रामबाग, कानपुर, पृ०सं० ३५४।

१६. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', भारतीय साधना और सूर साहित्य, प्रकाशक : आचार्य शुक्ल साधना सदन, कानपुर, संवत् २०१० वि०, पृ०सं० ४६२।

१७. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', सूरदास का काव्य–वैभव, प्रकाशक : ग्रन्थम, रामबाग, कानपुर, सन् १६६५ पृ०सं० २२८।

१८. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', सूरदास और भगवद् भक्ति, प्रकाशक : साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, सन् १६५८ पृ०सं० १६६।

१६. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', सारस्वत, प्रकाशक : आचार्य शुक्ल साधना सदन, कानपुर, संवत् २०१७ पृ०सं० ३०८।

२०. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', भक्ति का विकास, प्रकाशक : चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी सन् १६५८ पृ०सं० ८३२।

२१. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', साहित्य शास्त्र, प्रकाशक : श्री भारत भारती, दिल्ली, सन् १६६२ पृ०सं० २१८।

२२. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', तुलसी का मानस, प्रकाशक : ग्रन्थम रामबाग, कानपुर, सन् १६७२ पृ०सं० २५२।

२३. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', हिन्दी सहित्य का उपोद्घात।

२४. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', कबीर वचनामृतसार, प्रकाशक : ग्रन्थम रामबाग, कानपुर।

२५. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', पद्मावत–भाष्य, प्रकाशक : ग्रन्थम रामबाग, कानपुर।

२६. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', कामायनी भाष्य, प्रकाशक : ग्रन्थम रामबाग, कानपुर, संवत् १६७० पृ०सं० ३६८।

२७. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', भ्रमरगीत भाष्य, प्रकाशक : प्रत्यूष प्रकाशन, कानपुर, सन् १६७२ पृ०सं० ३४२।

२८. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', श्रुति संगीतिका, प्रकाशक : भगवती प्रकाशन माला,

कानपुर, सन् १६६१ पृ०सं० ७४।

२६. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', जीवन–गीत, प्रकाशक : भगवती प्रकाशन माला, कानपुर, सन् १६६१ पृ०सं० ७४।

३०. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', विरहिणी, प्रकाशक : प्रत्यूष प्रकाशन, रामबाग, कानपुर, अगस्त सन् १६८७।

३१. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', यज्ञ–संगीत, प्रकाशक : मानव कल्याण प्रकाशन,कानपुर, सन् १६७१ पृ०सं० ५८।

३२. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', संध्या–संगीत, प्रकाशक : पं० विद्याधर मंत्री, आर्य समाज, कानपुर, पृ०सं० २८।

३३. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', भागवती आभा, प्रकाशक : ग्रन्थम रामबाग, कानपुर, सन् १६७४ पृ०सं० १६२।

३४. डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', सोम स्तोत्र सुधा, प्रकाशक : ग्रन्थम रामबाग, कानपुर, पृ०सं० १८८।

३५. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, प्रधान संपादक, हिन्दी साहित्य कोश भाग–१।

३६. श्री कल्याण चन्द्र, समकालीन कवि और काव्य।

३७. डॉ० रामस्वरूप, चतुर्वेदी भाषा और संवेदना।

३८. आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी, नया साहित्य – नये प्रश्न।

३६. श्री वेदव्यास, श्रीमद्भागवत्।

४०. डॉ० सुधाकर गोकाककर एवं डॉ० कुलकर्णी, हिन्दी साहित्य में प्रतिबिम्बित चिन्तन प्रवाह।

४१. श्री तुलसीदास, रामचरितमानस।

४२. डॉ० प्रेम नारायण शुक्ल, हिन्दी साहित्य में विविध वाद।

४३. डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, कबीर ग्रन्थावली।

४४. डॉ० नगेन्द्र, अरस्तू का काव्य–शास्त्र (भूमिका)।

४५. डॉ० नगेन्द्र, होरेस की काव्य कला।

४६. डॉ० नगेन्द्र, काव्य में उदात्त तत्व।

४७. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि भाग–१।

४८. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास।

४६. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली।

५०. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि भाग–२।

५१. श्री जय शंकर प्रसाद, काव्यकला तथा अन्य निबन्ध।

५२. श्री जय शंकर प्रसाद, कामायनी।

५३. डॉ0 सुमित्रा नन्दन पंत, गद्य–पथ।

५४. डॉ0 सुमित्रा नन्दन पंत, पल्लव।

५५. डॉ0 सुमित्रा नन्दन पंत, साकेत।

५६. डॉ0 सुमित्रा नन्दन पंत, झंझा में नीम।

५७. श्रीमती महादेवी वर्मा, यामा।

५८. श्रीमती महादेवी वर्मा, महादेवी का विवेचनात्मक गद्य।

५६. श्रीमती महादेवी वर्मा, दीपशिखा।

६०. श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वातस्यायन 'अज्ञेय', अन्तरा।

६१. श्री सचितानन्द हीरानन्द वातस्यायन 'अज्ञेय', भवन्ती।

६२. श्री भोलानाथ शर्मा, शुद्ध बुद्धि मीमांसा।

६३. डॉ0 नेमिचन्द्र जैन, मुक्तिबोध रचनावली खण्ड–५।

६४. श्री आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक।

६५. डॉ0 बच्चन सिंह, भारतीय एवं पश्चात्य काव्य शास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन।

६६. श्री भिखारी दास, काव्य निर्णय।

६७. श्री भवभूति, उत्तर रामचरितं।

६८. श्री अशोक बाजपेई, पुनर्वसु।

६६. डॉ0 हरिमोहन शर्मा, उत्तर छायावादी काव्य भाषा।

७०. डॉ0 नामवर सिंह, कविता के नये प्रतिमान।

७१. श्री विजय देवनारायण साही, कल्पना।

७२. श्री रामधारी सिंह 'दिनकर', रश्मिलोक।

७३. श्री रामधारी सिंह 'दिनकर', चक्रवाल भूमिका।

७४. डॉ0 कौशलेन्द्र सिंह भदौरिया, आधुनिक हिन्दी महाकाव्य।

७५. डॉ० 'बच्चन', अभिनव सोपान।

७६. अंचल, प्राथमिका।

७७. नरेन्द्र शर्मा, पलाशवन।

७८. डॉ शिवमंगल सिंह 'सुमन', विश्वास बढता ही गया।

७९. डॉ० रामविलास शर्मा, रूपतरंग।

८०. डॉ० कृष्ण भावुक, अज्ञेय की काव्य चेतना।

८१. श्री नागार्जुन, युगधारा।

८२. श्री गंगा प्रसाद पाण्डेय, महादेवी वर्मा का विवेचनात्मक गद्य।

८३. श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', प्रबन्ध प्रतिभा।

८४. श्री संसार चन्द्र, हिन्दी काव्य में अन्योक्ति।

८५. श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी, भाषा और संवेदना।

८६. डॉ० ऊषा पुरी, मिथक – उदभव और विकास तथा हिन्दी साहित्य।

८७. चन्द्रबली पाण्डेय, तसव्वुफ अथवा सूफीमत।

८८. पं० सीताराम चतुर्वेदी, समीक्षा शास्त्र।

८९. डॉ० सावित्री सिंहा, पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा।

९०. डॉ० लक्ष्मीकान्त पाण्डेय, साहित्य चिन्तन की नई दिशायें।

९१. श्री कुमार विमल, छायावाद का सौन्दर्य शास्त्रीय अध्ययन।

९२. श्री राहुल सांकृत्यायन, हिन्दी काव्य धारा।

English :

1. Abercrombie, L., Principles of Literary Criticism.

2. Ampson. William, Seven Types of Ambiguity.

3. Bowra, C. M., Heritage of Symbolism.

4. Caudwell, C., Illussion and Reality.

5. Coombes, H., Literature and Criticism.

6. Hudson, W. H., The Study of Literature.

7. Jung, C. G., Contribution to Analytical Psychology.

8. Louis, John Livingston, Convensions and Revolt in Poetry.

9. Read, Herbert, Art Now.

10. Russel, B., Sensations : The Analysis of Mind.

11. Scott James, R. A., The Making of Literature 1953.

12. Shakespeare, William, As You Like It.

13. Urban, W. M., Language And Reality.

14. Watt, A Dictionary of English Literature.

15. Whalley, George, Poetic Process.

*****